क्रान्तिकारी तुलसी

लेखक
श्री नारायण सिंह
बी० ए०, एल्० एल्० बी०

शक संवत् १८८७
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक

मोहनलाल भट्ट

सचिव

प्रथम शासन निकाय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

•

प्रकाशन वर्ष

शक १८८७, ईसवी १९६५

द्वितीय संस्करण २१०० प्रतियाँ

मूल्य रु० १०·००

मुद्रक

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

क्रान्तिकारी वह मनुष्य है जिसका ध्यान सर्वप्रथम समाज की उस व्यवस्था की ओर आकृष्ट होता है जिसमें उसे सबसे अधिक बुराई दिखाई देती है। उस बुराई को दूर कर समाज को वास्तविक सुख शान्ति पहुँचाना क्रान्तिकारी का उद्देश्य हुआ करता है।

क्रान्तिकारी के इसी तात्पर्य को स्वीकार कर लेखक ने 'क्रान्तिकारी तुलसी' ग्रंथ की रचना की है। लेखक ने गोस्वामी तुलसीदास जी को समाज का उद्धारक क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिए अध्ययन और चिन्तन प्रधान विवेचन प्रस्तुत किया है। तुलसी के कृतित्व पर सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। सामाजिक, दार्शनिक, राजनयिक और व्यावहारिक सभी पहलुओं का स्पर्श लेखक की विवेक बुद्धि ने किया है।

तुलसीदास जी के जीवनीपक्ष पर अब तक जितने मत और वाद प्रचलित हैं उन सबकी समीक्षा करते हुए लेखक ने अपना एक अनुसन्धानात्मक मत स्थिर किया है।

इस उपयोगी ग्रंथ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करत हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे है। हमें आशा है यह परिवर्द्धित, संशोधित संस्करण आलोचकों, पाठकों और अनुशीलन-कर्त्ताओं के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रथम शासन निकाय
हि० सा० स०, प्रयाग

मोहनलाल भट्ट
सचिव

लेखक की पूजनीया माता
श्रीमती कमलादेवी

सांसारिक विघ्न-बाधाओं के बीच शतायु पार
कर जाने पर भी सदैव ईश्वर-चिन्तन,
आत्मगौरव और विचार-स्वातन्त्र्य
की छांप अपने पुत्रों के मानस-
पटल पर अंकित कर
देनेवाली अपनी
पूजनीया माता
कमलादेवी के
कर-कमलों
में

विषय-सूची

क्रान्तिकारी तुलसी

(एक दृष्टि में)

एक समय ऐसा था, जब तुलसीदास उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। फिर "सूर सूर तुलसी ससी" कहकर वे कवियों की मध्यम कोटि में बिठाये गये। इसके पश्चात् उनकी कविता में न केवल साहित्यिक श्रेष्ठता, वरन् उनके व्यक्तिगत मानवोचित आचारों की झलक भी दिखाई गई; पर आज वह समय है, जब सूरदास ही के मुख से यह कहलाया जाता है, जैसा कि इस पुस्तक के अन्दर मिलेगा, कि **गोस्वामीजी की कविता तो कविता है ही नहीं, मैं तो उसे 'सर्वोत्तम महामन्त्र' मानता हूँ।**

'महामन्त्र' कहने से तुलसी की केवल काव्य-श्रेष्ठता अथवा विचार-धारा ही पर प्रकाश नहीं पड़ता, वरन् उनकी आचार-श्रेष्ठता भी प्रकाशित हो उठती है। 'सर्वोत्तम महामन्त्र का घोष उसी मनुष्य की वाणी से उच्चरित होकर आदरणीय होता है, जो अपने सदाचारो के कारण 'महापुरुष' कहाता हो, और महापुरुष होने का अधिकारी केवल वही होता है, जो मानवमात्र को अभेद-दृष्टि से देख, सब के हित-चिन्तन से समाज में कर्मशील होकर रहे, तथा आवश्यकतानुसार निर्भीकतापूर्वक समाज में प्रचलित बुराइयों को मिटाने के लिए क्रान्ति मचा दे।

परन्तु आश्चर्य है कि तुलसी को उपर्युक्त शिखर पर ले जाकर बैठालने वाले अनुसन्धायकों ने ही उनके कतिपय कथनों के आधार पर उनकी जीवनी पर कुछ ऐसे छींटे मार रखे हैं कि जिन्हें देखकर कोई भी निष्पक्ष समीक्षक उन्हें मानवता का प्रतीक महापुरुष कहने को तैयार नही हो सकता। जहाँ एक ओर इन अनुसन्धायकों ने उन्हें वैष्णवी साम्प्रदायिकता के कठघरे मे बन्द कर रखा है; वहीं उस कठघरे के भीतर भी उन्हें नारीवर्ग का विद्वेषी

कहकर पुरुष-वर्ग का हिमायती बना डाला है। इतना ही होता, तो गनीमत थी ; पर इससे भी आगे बढ़कर उन्हे ब्राह्मणो का पक्षपाती और शूद्रों का द्रोही कहकर उन पर भेद-भाव के कलंक का वह टीका लगा दिया है, जिसे देखकर उन्हें मानवता का प्रतीक महापुरुष कहना तो दूर, मानवता का द्रोही कहना ही उपयुक्त हो सकता है।

यह तो हुई, उनके पक्षपातपूर्ण तोड़-फोड करने वाले कारनामों की तसवीर। अब देखिए, उनकी कापुरुषता की तसवीर, जो इन लोगों ने अपनी कल्पना के रगों से खींचकर रखी है। कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति अवैध ससर्ग मे हुई, वे मंगन-कुल के थे, उनकी कोई जाति-पाँति नही थी, वे कूकर के समान दर-दर रोटी के टुकड़े माँग कर तथा जूठी पत्तलो को चाटकर अपना पेट पालते थे--'माँगि कै खैबो और मसीद (मसजिद) को सोइबौ' यही उनकी जीवनचर्या थी।

ये कैसे विचित्र अनुसन्धान है उस युगद्रष्टा महापुरुष के विषय में, जो 'सर्वोत्तम महामन्त्र' फूँकने वाला कवि-श्रेष्ठ कहा जाय !

या तो ये अनुसन्धान हो निदान सत्य मान लिये जायँ और तुलसी को तिरस्कृत कर्महीन जन-द्रोही करार दे दिया जाय, या फिर इन अनुसन्धानों को नितात असत्य और अनर्गल सिद्ध कर तुलसी को मानवता का प्रतीक, क्रान्तिकारी कर्मयोगी ही सिद्ध किया जाय।

बस, यही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें आपको राम-कथा-विषयक कतिपय आवश्यक संज्ञाओं या प्रसंगों पर, एवं तुलसी के कथनों तथा उनकी जीवनी से सम्बन्धित कुछ वार्ताओं और आनुसंधानिक आरोपों पर लेखक का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक व व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया हुआ गंभीर अध्ययन और विवेचन मिलेगा, और उसके आधार पर आप देखेगे कि तुलसी न केवल महाकवि अथवा महासन्त ही थे, वरन् अपने युग के, गान्धी आदि के समान, एक महाक्रान्तिकारी कर्मयोगी भी थे--उनकी राम-धुन में आपको निष्काम कर्म का वही गुह्य सन्देश मिलेगा, जो महात्मा गांधी की अहिंसा-धुन में आपको मिलता है।

यह उलटी धारा क्यों ?

इस संसार में उलटी-धारा मे बहने वाला या तो उपहास का पात्र बन कर रह जाता है, या फिर क्रान्तकारी ही कहलाने का अधिकारी बन बैठता है। इधर मै प्राय: उलटी-धारा मे ही बहा हूँ। एक बेचारे सीधे-सादे, संसार से विरक्त तिलकधारी, चातक की रटन को आदर्श मानकर नित्य राम-नाम की माला फेरने वाले परम वैष्णव, भक्त-प्रवर तुलसी को असाम्प्रदायिक महाक्रान्तकारी कर्मयोगी के रूप में खड़ा करना, आप कहेंगे, पागलपन नही तो क्या है !

आखिर यह उलटी धारा क्यों ? आलोचना के आवेश मे विष-रस-भरी-कनक-घट जैसी मानस-मीमांसा की तुलसी के प्रति कटु, दूषित और अन्यायपूर्ण भाषा और भावनाओं को देखकर हृदय तिलमिला उठा। कलम उठी और मानस-मीमासा मे बहाई हुई धारा के विरुद्ध उल्टी धारा बहाना आरम्भ कर दिया ; परन्तु कुछ समय बाद अन्तरात्मा में प्रतिक्रिया हुई। लेखनी ठिठकी। अन्त:प्रेरणा हुई कि व्यक्तिगत आलोचना में उलझने के बजाय उसी विषय पर व्यापक दृष्टि से कोई समाजोपयोगी ग्रन्थ लिखा जाय, तो अधिक उपयोगी होगा। बस, विचार बदल पड़ा। लेखनी ने रुख फेरा और व्यापक भाव से प्रेरित होकर वह लगी बहाने वही उल्टी गंग-धारा जो आज आपके समक्ष इस पुस्तक-रूप में प्रस्तुत है।

उलटी धारा—नहीं, उल्टी गंग-धारा बहाना कुछ आसान नही। एक तो यों हीं वर्षो पुरानी विचार-धाराओं के विरुद्ध चूँ करना कठिन होता है। फिर, उनके खण्डनार्थ तथा अपने मत के मण्डनार्थ प्रचुर प्रामाणिक सामग्री तथा प्रखर बौद्धिक बल चाहिए। प्रामाणिक और पर्याप्त सामग्री एकत्र करने के हेतु जीवन के व्यापक क्षेत्रों में बहुत काल तक एक गंभीर

विचारशील अन्वेषक के रूप में देश-भ्रमण की आवश्यकता थी ; परन्तु उसके लिए पर्याप्त समय और अर्थ का अभाव बाधक हुआ । तब फिर एक यही साधन रहा कि आवश्यक उपलब्ध साहित्य का गवेषणा-पूर्ण अध्ययन किया जाय, और प्रमाण-कल्पना-तर्क के द्वारा सुदृढ की हुई निर्मल बौद्धिक-शक्ति का प्रयोग किया जाय। इसी का सबल लेकर लेखनी चल पड़ी। यही भावना इस पुस्तक के प्रणयन मे प्रेरणा-स्रोत रही। यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुलसी के सम्बन्ध मे मेरा बौद्धिक-कोश अन्यान्य धुरन्धरों के बौद्धिक-कोशों की अपेक्षा अति स्वल्प है ; किन्तु आशा है, सुविज्ञ पाठक् नैतिक मूल्यांकन (moral values) की दृष्टि से मुझ निर्धन के कठिन परिश्रम से अर्जित इस किंचित अर्थ का न केवल तिरस्कार न करेंगे, वरन् अपनी सुविज्ञता और सहृदयता के विचार से अपने शुभादेशों द्वारा मुझे अपनी अटपटी अशुद्धियो को शुद्ध करने के लिये प्रोत्साहित भी करेंगे।

आप क्या करेंगे यह तो आपके हाथ की बात है ; पर परिश्रमी का पारितोषक गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में स्वान्तःसुखाय अथवा आत्म-सन्तोष के लिए होता है। इसके अनुसार यदि मैं यह कहूँ कि सिर पर वृद्धावस्था की भारी गठरी होते हुए भी, जिस शारीरिक परिश्रम, बौद्धिक तन्मयता तथा हार्दिक उल्लास से मैंने तुलसी और राम-चरित-मानस-सम्बन्धी प्रायः समस्त विवादास्पद तथा भ्रमोत्पादक विषयों पर वैज्ञानिक (Scientific) और व्यावहारिक (Practical) विधि से यथाशक्ति प्रकाश डालते हुए इस ग्रन्थ के निर्माण के लिए जो प्रयत्न किया है, उससे मुझे अमित आत्म-सन्तोष ही हुआ है, तो कुछ असत्य न होगा। यदि मेरे इस प्रयास में एक भी सहृदय पाठक को किंचिन्मात्र सन्तोष-प्रद सामग्री मिल गई, तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा। परन्तु, सबसे अधिक सफलता तो उस दिन होगी, जिस दिन यह सुना जायगा कि तुलसी के जीवन के इस कर्म-प्रधान पहलू पर भी खोजें की जाने लगी है।

पुस्तक को पढते समय पाठकों को यत्र-तत्र पुनरावृत्तियों की प्रतीति होगी ; परन्तु निर्दिष्ट विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा विचार-तारतम्य

के कारण उसे अनिवार्य समझ पाठकगण कृपया उसके लिए लेखक को क्षमा करेंगे।

अन्त में पाठकों से यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि जहाँ कहीं इस पुस्तक में रामचरित-मानस के दोहों या चौपाइयों का उल्लेख करना पड़ा है, वह गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित रामचरित-मानस (गुटका संस्करण) के आधार पर किया गया है। इसमें दो-एक स्थानों पर शोभा-रामजी 'मञ्जु' द्वारा सम्पादित तुलसीदासकृत रामायण। (मञ्जु संस्करण) का भी उल्लेख आया है। इसलिए, मैं इन संस्करणों के सम्पादकों तथा अन्य ग्रन्थकर्ताओं का, जिनके ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है, अत्यन्त आभारी हूँ।

उद्धृत चौपाइयों या उनके अंशों को ढूँढ कर निकालने में किसी को कोई असुविधा न हो, इसलिए एक निवेदन और कर देना आवश्यक है—वह यह कि मैंने पहले तो तत्संबंधी कांड का नाम अथवा उसकी क्रम-संख्या दी है, फिर उद्धृत चौपाई के पूर्व के दोहे की संख्या देकर उसके पश्चात् अन्त मे चौपाई का संकेत पंक्ति की संख्या के द्वारा किया है; जैसे—मानों, जहाँ यह लिखा हो—'मानस, १-२४-१', वहाँ निम्न चौपाई समझी जायेगी—

'राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ' ॥

किन्तु कुछ लोगों ने जैसे 'रामचरित-मानस' की 'मानस-पीयूष' टीका में इसके विपरीत पूर्व दोहे की सख्या के स्थान मे पश्चात् दोहे की संख्या दी है; अतः वे उक्त चौपाई का संकेत 'मानस, १-२५-१' कह कर करेंगे अथवा करते है।

इस सम्बन्ध में हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि हमने उसी रीति को स्वीकार किया है, जो अधिकतर अपनाई गई पाई जाती है।

: १ :

तुलसी की क्रान्ति-दृष्टि

क्रान्तिकारी महापुरुष तुलसी

तुलसी हमारी दृष्टि में एक महाकवि थे, महासन्त थे और क्रान्तिकारी महापुरुष भी। वे महाकवि थे, इसमें कोई मतभेद नहीं है। वे महासन्त थे, इसमें भी कुछेक विद्वेषियों को छोड़, जैसा कि आगे प्रकट किया जायगा, प्रायः सभी एकमत है। परन्तु, वे क्रान्तिकारी महापुरुष थे, इस पर अभी तक हमारी समझ में किसी ने विचार ही नहीं किया। प्रायः सब ने उन्हें रात-दिन राम-नाम की माला फेरने वाला, अथवा 'राम-बोला' कहकर समाज के लिये एक निष्क्रिय, अव्यावहारिक मानव समझकर ही सन्तोष कर रखा है। किसी ने यह नही सोचा कि उनकी राम-भक्ति निरी छूँछी राम-राम रटने मात्र की क्रिया नहीं है, वरन् उसमे 'निष्काम कर्म-परायणता' अथवा 'अनासक्त समाज-सेवा' का भाव छिपा हुआ है, जिसके लिए समाजोद्धारक सदैव तड़फते रहे है, और आज भी बुरी तरह से तड़फड़ा रहे हैं।

क्रान्तिकारी महापुरुषों के लक्षण और उन पर आघात

तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष थे, इसका विवेचनात्मक विवरण तो आगे ही किया जा सकेगा। सम्प्रति सक्षेप में इतना जान लेना चाहिए कि क्रान्तिकारी महापुरुष कहलाने का अधिकारी वह पुरुष होता है, जो (१) स्वार्थ और अभिमान (अहंकार) को त्याग कर (२) प्राणीमात्र—और नही तो कम-से-कम मानव-समाज को वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त कराने के हेतु (३) साधु सात्त्विक वृत्ति के द्वारा (४) एकात्म भाव से प्रेरित हो (५) दशा तथा देश-काल के अनुसार (६) सामाजिक दुर्व्यवस्था अथवा

कुरीतियों को (७) यथाशीघ्र मिटाने के लिए (८) प्राण-पण से संलग्न हो गया हो ; परन्तु यह ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा निश्चित सिद्धान्त है कि इस प्रकार के उच्चकोटि के क्रान्तिकारी महापुरुषो के वाक्य, प्रचलित विचारधारा और व्यवस्थाओं के अनुकूल होने के कारण, उनके निम्नस्तर के लोगों के लिए, जिनका लक्ष्य केवल स्थूल भौतिक जगत् ही रहता है, बड़े अटपटे, अतार्किक, असंगत, अनीतिमय और अन्यायपूर्ण प्रतीत होते हैं, चाहे वे कितनी ही सरल-सीधी भाषा मे क्यो न व्यक्त किये गये हों। वाक्य ही क्यों, उनकी गति-विधि अर्थात् उनके व्यक्तिगत आचारों और योज-नाओं मे भी लोग विचित्रता, सन्देह, कपट या पाखण्ड सिद्ध करने में हिचकिचाहट नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि वे रज्जु में सर्प का भ्रम होनेवाले मनुष्य के समान सत्य पर असत्य का और असत्य पर सत्य का आरोप करने लगते हैं, यहाँ तक कि कई एक मनचले अपनी मूर्खता के पागलपन में आकर उन बेचारों पर आघात कर बैठते हैं, और कभी-कभी उनके प्राणान्त तक कर डालते है। वर्तमान कालीन आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती को विष-पान कराना तथा महात्मा गांधी की रिवाल्वर से हत्या करना, एवं प्राचीनकाल मे भगवान् श्रीकृष्ण के पद में व्याध के द्वारा वाण का वेधना तथा नाना प्रकार की पाशविक महायंत्रणाएँ देते हुए महात्मा ईसा-मसीह का सूली (क्रास) पर टाँगना—सहस्रों दृष्टान्तों मे से कुछेक हैं। केवल शरीर पर आक्रमण करना ही आघात नहीं कहाता। दुर्भावना से प्रेरित हो, किसी के प्रति अपशब्द बोलना अथवा उपहास, निन्दा आदि करना भी आघात होता है। अनेक महा-पुरुषों का छुटकारा केवल इसी प्रकार के मौखिक आघात से हो जाया करता है। तुलसीकृत 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' मे कहे हुए तुलसी के कतिपय कथनों से प्रतीत होता है कि उन्हें भी मौखिक उपहास तथा सामाजिक तिरस्कार रूपी आघातों का शिकार होना पड़ा था। कोई उन्हें 'राम-बोला' कहकर चिढाता था, तो कोई उन्हे 'कुजात' 'अभागा' 'आलसी' या 'कूकर समान टुकड़खोर' कहकर तिरस्कार करता था।

क्रान्तिकारी तुलसी की प्राथमिक और केन्द्रीय भावनाएँ

क्रान्तिकारी महापुरुष की उपर्युक्त परिभाषा से यह विदित है कि हर क्रान्तिकारी महापुरुष का ध्येय होता है—'मानव-समाज मे वास्तविक सुख-शान्ति की स्थापना करना।' मानव-समाज को दुखी देखकर उसका मन तिलमिला उठता है। समाज की किसी एक व्यवस्था के खराब होने से उसकी अन्य व्यवस्थाओ पर भी उसका परोक्ष या अपरोक्ष रूप से, धक्का लगता है, जिसके फलस्वरूप सारा समाज दुख-सागर में डूबा दिखाई देने लगता है। इसलिए, इतिहास को गंभीरता से पढने वालों को यह पता लगता है कि क्रान्तिकारी मनुष्य का ध्यान सर्वप्रथम समाज की उस व्यवस्था की ओर आकृष्ट होता है, जिसमें उसे सबसे अधिक बुराई दिखाई देती है। उसे ही संसार के सभी दु:खों की जड़ समझ, वह उसे उन्मूलित करने के लिए ही कर्मक्षेत्र मे उतर पड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि उस मूल-रोग का नाश हुए बिना, समाज को वास्तविक सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। उदाहरण-स्वरूप स्वर्गादि प्राप्ति आदि फलों की कामना से किये गये तत्कालीन यज्ञादि वैदिक कर्मो के दुष्परिणामो को देखकर कृष्ण (अथवा गीता-रचयिता द्वैपायन व्यास ही कहिए) के हृदय में 'अनासक्त कर्मयोग' की भावना प्रबल हुई थी। यहूदियों की धार्मिक व्यवस्था तथा रोम-साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था मे पारस्परिक 'घृणा और दुष्कृति' (hate and evil) के कारण ईसा-मसीह के हृदय मे मानवीय 'प्रेम और सत्कर्म' (Love and goodness) के भाव जाग्रत हुए थे, आर्थिक दुर्व्य-वस्था के कारण गरीब-धनवानों की असह्य असमता से प्रभावित होने पर ही मार्क्स ने 'पूँजीपति-श्रमिक', सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, और विजित-विजेता एवं काले-गोरे आदि भेद-भावों के आधार पर अपमान-जनक दुर्व्यवहार को देखकर महात्मा गांधी की बुद्धि मे नवीनता लिये हुए व्यापक 'अहिसा तत्त्व' का प्रादुर्भाव हुआ था। निश्चय ही इस तरह सनातनी वर्ण और आश्रम-व्यवस्था के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण हिन्दू-समाज

को अकर्मण्य, दुष्कर्मण्य, छिन्न-भिन्न और परतंत्र देखकर क्रान्तिकारी तुलसी के मन में 'राम' का भाव उठा।

क्रान्तिकारी महापुरुष का इस तरह उठा हुआ भाव, उसकी समस्त [illegible] और योजनाओं का केन्द्र बन जाता है। वे सब उस केन्द्र के आसपास इस तरह घूमा करती है; जैमे—सूर्य के आसपास उससे सम्बंधित ग्रह-उपग्रह चक्कर लगाते हैं। जब कभी वह प्रसंगवश समाज के किसी अन्य अग-विशेष या योजना की चर्चा करता है, तब भी वह घूम-फिरकर उसी भाव पर आ जाता है, क्योंकि वही उसके इष्ट, समाज-सुख और शान्ति का मूलाधार रहता है। गीता उठाकर देखिए, तो आपको बार-बार 'अनासक्ति' अथवा उसका पर्यायवाची किसी दूसरे पद या शब्द का पाठ मिलता है। इसी तरह बाइबिल में 'प्रेम' का, मार्क्स-साहित्य में 'आर्थिक योजना' का और गांधी-साहित्य में 'अहिंसा' का बार-बार कथन पाया जाता है। इसी भाँति जब हम तुलसी-साहित्य को पढते हैं, तब हम उसमे बारबार 'राम-नाम की रटन' देखते है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो तुलसी उसके पीछे पागल ही बन गया है, यहाँ तक कि उसने उसको न केवल स्वाति-चातक-रटन की उपमा दे रखी है, प्रत्युत उसे मानव-जीवन का प्राण ही माना है। इसी राम-राम के केन्द्र के आस-पास तुलसी ने अपने समस्त कथनों और समाज-सुख-साम्राज्य की विचार-धारा को घुमाया है।

तुलसी का त्रिभावात्मक राम

तुलसी का वह राम कौन है, इसे जानने के पहले आप अपने हृदय से पूछिए कि क्या आप निर्गुण, सगुण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति जानते हैं, और यदि जानते हैं, तो उनके इस पारस्परिक सम्बन्ध को आप तत्त्वज्ञानियों की व्यवहारशून्य निरी कपोल-कल्पित गपोड़बाजी तो नहीं समझते। यदि आपको यह ज्ञान हो कि निर्गुण-सगुण-सिद्धान्त जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों पहलुओं को बताकर जीवन की पूर्णता और व्यावहारिकता का दिग्दर्शन करानेवाला स्वाभाविक अटल नियम है, तो आइए, तुलसी के राम को पहचानें।

निर्गुण ओर सगुण भाव को सैद्धान्तिक रूप में प्रकट करने वाले संस्कृत-साहित्य में अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है ; जैसे——ब्रह्म-सृष्टि, ब्रह्म-माया, ब्रह्म-प्रकृति, अध्यात्म-भौतिक, निर्विकार-सविकार, और निराकार-साकार आदि । ब्रह्म उस आत्यन्तिक आन्तरिक स्थिति का नाम है, जहाँ अहंरूपी सर्वप्रथम प्राकृतिक विकार भी सोया हुआ पड़ा रहता है। इसी को लयावस्था भी कहते है। इसी स्थिति में पूर्ण शान्ति की अनुभूति होती है। इस पूर्ण शान्तिमय स्थिति को उसकी निर्विकारता की दृष्टि से कही-कहीं 'शून्य' कहा गया है ; परन्तु 'शून्य' कहने से गणित-शास्त्रीय अचेत (जड़) शून्य का बोध न हो उठे, इसलिए उसे 'चेतनामय शून्य' अथवा 'सबके परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्' कहा करते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है——

'यद् तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्य कल्पितम्'

अर्थात्——जो यह ब्रह्म है, वह सब के परे सूक्ष्मस्वरूप अशून्य है, यद्यपि उसके विषय मे 'शून्य' की कल्पना की जाती है। इसी तरह गीता में बताया है कि जिस तरह नदियों के पानी के आ मिलने से जल से परिपूर्ण प्रतिष्ठित समुद्र अविचलित रहकर शान्ति को नही खोता, उसी प्रकार प्रतिष्ठापूर्ण मनुष्य की शान्ति को कामनाएँ भंग नही कर सकतीं, और जो मनुष्य कामनाओं, ममता या अहंकार को त्याग कर आचरण करता है, उसे ब्रह्म-पद प्राप्त होता है (गीता २।७०, ७१, ७२)। यही बात महात्मा गाधी ने कही है कि अहंकार को खाक कर देने पर ही 'जीरो' ((Zero=शून्य) स्थिति आती है। यह अहंकार ही कर्त्ता बनकर सारी सृष्टि की रचना करता है। यदि यह सुषुप्त रहे, तो सृष्टि का मूल कारण ही न रहे। इसी के जाग्रत होने पर सत-रज-तम प्राकृतिक त्रिगुण और मनादि तत्त्व अपने-अपने कार्य करने लगते है। इसीलिए यह कहा जाता है कि ब्राह्मी-स्थिति, अर्थात् पूर्ण शान्ति वाली शून्य स्थिति सृष्टि के कारण के भी परे होती है। इसी स्थिति का नाम तुलसी ने 'राम' कहा है। इसी को तुलसी ने 'अशेष कारण परं रामा-

ख्यमीश हरिम्' (रामाख्यं अर्थात् रामनाम वाला) कहकर मानस के प्रारम्भिक मंगलाचरण मे वन्दना की है, और 'वैराग्य-सदीपिनी' मे कहा है कि जब अहंकार की अग्नि से सन्त बच जाता है, तब उसके हृदय मे इस शान्ति रूप 'राम' की दोहाई फिर जाती है, जिसके फलस्वरूप कामादिक विकार भाग जाते है अर्थात् निष्काम भावना का उदय हो जाता है—

> **'अहंकार की अगिनि में, दहत सकल संसार।**
> **तुलसी बाँचें सन्त जन, केवल सान्ति अधार'।।५३।।**
> **'फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि।**
> **तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि'।।६१।।**

निष्काम भावना के उदय होने पर ही इस निर्गुण-ब्रह्म की समस्त जड़-चेतनमय, सगुण-साकार सृष्टि को सन्तजन एकात्म भाव से देख सकते हैं। तब उसे निर्गुण-सगुण मे कोई भेद नहीं दीखता। इसीलिए हम देखते है कि तुलसी ने मानस में **'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जानि'** तथा **'सियाराम मय सकल जग जानी'** कहकर समस्त सृष्टि की अर्थात् सगुण रूप की वन्दना की है, और साथ ही यह भी दिखा दिया है कि **'अगुनहिं सगुनहिं नहीं कछु भेदा'** अथवा **'अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा।'** तात्पर्य यह कि ज्ञान-मार्गियों के निर्गुण-निराकार भाव और कर्मवादियों, प्रकृतिवादियों अथवा व्यवहारवादियो के सगुण-साकार भाव में तुलसी ने अभेद भाव की स्थापना कर दी है। यों तो तुलसी के बहुत पहले से कई एक भक्ति-मार्गी पूर्वाचार्य इस अभेद को प्रकट करते आ रहे थे, परन्तु उसमें एक विशिष्टता लाने का श्रेय तुलसी को ही है। वह विशिष्टता लाई गई है राम-नाम के द्वारा। अद्वैत और द्वैतवादियों का जो मत-भेद पूर्व काल से चला आता था और जिसमे सामजस्य लाने के हेतु द्वैताद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत का जन्म हुआ, उसी को सुलझाने अथवा ब्रह्म और माया या सत् और असत् का भेद-भाव मिटाने के लिए तुलसी ने एक नयी योजना प्रस्तुत की, जिसके द्वारा उन्होंने ब्रह्म कही जाने वाली निर्गुण स्थिति को 'राम' कहा और दूसरी

और सृष्टि अथवा माया कही जाने वाली सगुण स्थिति को भी 'राम' कहा है अर्थात् एक ही तीर स दोनों लक्ष्य-वेध किये हैं। इसीलिए उन्होने मानस में कहा है—

'अगुण सगुण बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।।'

अर्थात्—जिस प्रकार जब एक देश का आदमी अपनी भाषा मे दूसरे देश के आदमी से, जो उसकी भाषा नही समझता, बात करता है, तब किसी एक ऐसे चतुर आदमी की जरूरत पडती है, जो दोनों भाषाओ का ज्ञाता हो, उसी प्रकार 'राम-नाम' एक ऐसा चतुर दुभाषी (expert interpreter) का काम करता है कि मानो वह निर्गुण और सगुण दोनों की बात समझता हो और यह समझा सकता हो कि प्रत्यक्ष भिन्नता-प्रतीति के बावजूद भी दोनो एक ही बात कह रहे है। यदि कोई कहे कि जब नामकरण की ही बात है, तब हम भी कोई नाम रखकर कह सकते है, जिसमें निर्गुण-सगुण दोनों का बोध कराने का अभिप्राय हो, तो उसका उत्तर यह होना चाहिए कि तुलसी ने राम का नाम कोई ऊटपटाँग ही नहीं चुन लिया है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इस नाम का निरूपण यत्नपूर्वक ही किया गया है, जिसमे उनका स्मरण आते ही निर्गुण-सगुण दोनों स्थितियों का मूल्याकन यथाविधि हो सकता है।

'नामनिरूपण नाम जतनतें। सो प्रगटत जिमि मोल रतनतें।।'

यह राम-नाम वस्तुतः तुलसी की खोज नहीं है। यदि नयी खोज होती, तो तुलसी का **'नाना पुराण निगमागम सम्मतं'** पद असत्य हो जाता। श्रीकामिल **बुल्के की 'रामकथा'** के प्रथम अध्याय में तथा माधवाचार्यकृत 'पुराण दिग्दर्शन' के पृष्ठ २६५ पर, आर्य संस्कृति के सब से प्राचीन ग्रन्थ, वेदों मे से दिये गये उद्धरणों से प्रकट होता है कि उस समय भी दशरथ, सीता और राम के नाम प्रसिद्ध थे। यदि यही मान लिया जाय, जैसा कि आधुनिक खोजकार कहते है कि दशरथ, रामचन्द्र, सीता आदि का जन्म वेद-काल के पीछे का है, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि वेदों में उक्त शब्दों का प्रयोग केवल भाव-प्रदर्शन के हेतु किया जाता रहा होगा, और फिर

कालान्तर में उन्हीं शब्दों का उपयोग व्यक्तिवाचक सज्ञाओं के लिए किया होगा, जैसा कि आज भी स्थान, व्यक्ति आदि के नामकरण के समय किया जाता है ; अतः उस दृष्टि से भी व्यक्तिवाचक 'राम' का प्रयोग कोई नया नहीं है । भाव की दृष्टि से वह रम् धातु का रूपान्तर है, जिसमे आनन्दमय रमण का अर्थ निहित है ; इसलिए 'राम' उस सत् (स्थिति या वास्तविकता) का द्योतक है, जो आनन्दमय रमण करता हो । और यह अनासक्त-निर्लिप्त रमण-प्रदर्शक भाव निर्गुण और सगुण दोनों स्थितियों मे ओतप्रोत रहता है ; अतः दोनों को राम-नाम से सबोधन करना न केवल सार्थक है, वरन् सास्कृतिक भी है ।

परन्तु हम मनुष्य हैं—मानव-समाज में रहकर हमे देहधारी के नाते नित्य प्रति प्राकृतिक गुणों के वशीभूत होकर कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है ; इसलिए उपर्युक्त अन्तर्निहित रमणात्मक सत्ता का भाव-मात्र आने से हमारे जीवन में व्यावहारिक साधना तो आ नहीं सकती । सगुण संसार मे पहाड़-पत्थर, लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, आदि नाना भाँति के पदार्थ रहते है । उनमें से कोई भी हमारे अनुकरण का विषय नही बन सकता, भले ही हम अपनी कल्पना और बुद्धि का प्रयोग कर किसी समय इन सगुणात्मक पदार्थों में से किसी एकाध का कोई एकाध गुण सीख लें ; पर इससे होता ही क्या है ? नर तो नारायण के समान दो-दस गुणों का नहीं, अनेक गुणो का अधिकारी है (**नर-नारायण सरिस सुभ्राता**)। इसलिए हमें तो अपने मनुष्य-वर्ग ही मे से अपना अनुकरणीय आदर्श ढूँढना पड़ता है—ऐसा आदर्श, जिसमे मनुष्योचित अधिक-से-अधिक गुण विद्यमान हो—ऐसा समाज-सेवी आदर्श, जिसकी कर्मशीलता में धर्म का पुट चढ़ा हो, अर्थात् जो अहकार (अभिमान) रहित हो, ओर जो निष्काम भावना से समाज के कल्याण-कारी कर्मो में लीन हो । ऐसे आदर्श पुरुषो को अपने पूर्वजों की भाषा मे पूर्वकाल से हम · र ! ़ । चले आ रहे हैं । हमारे 'अवतार' और दूसरे देशों के 'आदर्श पुरुषों' के भावार्थ मे जो भेद है, वह हम आगे

बतायेंगे। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि यद्यपि पूर्ववर्णित अनादि-अनन्तकालीन निर्गुण राम अनन्त नाम और गुण धारण करता हुआ सगुणात्मक रूप (राम अनन्त अनन्त गुण) होता चला आ रहा है तथा उसके नाना भाँति के सगुणात्मक अवतार (नाना भाँति राम अवतारा) पूर्वकाल मे हो चुके है, तथापि तुलसी ने हमारे सामने केवल एक दशरथ-पुत्र को ही आदर्श चुनकर रखा है; क्योंकि एक तो उन्हें पूर्वकालीन ग्रन्थो मे उनके जीवन चरित्र में अन्यान्य अवतार (आदर्श) पुरुषों की अपेक्षा मानव-जीवन को उत्कृष्ट करनेवाली सब से अधिक क्रान्तिमय व्यावहारिक उत्कृष्ट मर्यादाएँ मिली, जिसका स्पष्टीकरण आगे मिलेगा और दूसरे उनका नाम भी वही 'राम' मिल गया, जिसमे लिप्तता का भाव न रहकर यथानाम-तथा गुण के अनुसार निर्लिप्त आनन्द अथवा रमण का भाव विद्यमान रहता है।

सारांश

सारांश यह हुआ कि तुलसी का राम एक होते हुए, त्रिभावात्मक है। एक भाव से वे अहंकार-शून्य निष्काम-भावना-युक्त शान्तिमय स्थिति का आह्वान करते हैं, तो दूसरे भाव से वे उक्त निष्काम-भावना-युक्त होकर समस्त जड़-चेतन-जगत् की सेवा करना चाहते हैं, और तीसरे भाव से वे दशरथ-पुत्र आदर्श पुरुष राम के चरित्रों का अनुशीलन करने के लिए अभिलाषी रहते हैं। क्रम विपरीति से दूसरे शब्दों में आदर्श-अनुकरण, लोक-सेवा तथा आत्म-शान्ति—यही तीन तुलसी के राम-आराधना के मूल-मन्त्र हैं। इन तीनों में से किसी एक को ग्रहण कर लेने से दूसरे दो अनायास प्राप्त हो जाते हैं। इन्ही तीनों मे तुलसी का वह जीवन-सिद्धान्त निहित है कि जब नर का चरित्र नारायण जैसा हो, तभी वह आभ्यन्तरिक-शान्ति-रूप पर-लोक, और बाह्य-सेवारूप इहलोक—दोनों को प्राप्त कर सकता है। तुलसी के इस त्रिविध राम से यदि हमारा ध्यान जरा भी उचटा, तो निश्चय ही हम भ्रम-भँवर मे पड़ उन्हें और उनके साहित्य को समझने में भूल करेंगे।

कहीं भ्रम न हो, इससे पाठक कृपया यह भी स्मरण रखें कि तुलसी ने 'राम' के स्थान में अभेद भाव से न केवल अन्य प्रचलित संज्ञाओं ; जैसे—ईश, हरि, प्रभु आदि का ही प्रयोग किया है, वरन् रामचन्द्र, रघुपति, रघनाथ, रघुकुलनन्दन, रघुवर आदि शब्दो का प्रयोग भी उसी अर्थ मे यत्र-तत्र किया है ; उदाहरणार्थ—

कहहुँ राम गुन गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥[१]

अथवा

एकछत्र एक मुकुट मणि, सब बरणनि पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, वरण विराजत दोउ ॥[२]

या

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवान अति सोपिनर, पशु बिन पूछ विषाण ॥[३]

अतः तुलसी ने राम और रघुनाथादि नामों का प्रयोग अभेद रूप से किया है ; इसलिए यह निस्सन्देह है कि इन नामों में भी राम के समान पूर्वोक्त तीनों भावों का समावेश होना चाहिए। प्रत्यक्षतः हम तो यही समझते हैं कि अयोध्या के सूर्यवंशी प्रसिद्ध राजा के रघु के वंशज होने के कारण दशरथनन्दन राम को ही रघुराज, रघुनाथादि कहा जाता है। परन्तु, जब हम 'रघु' शब्द के वर्णों के अर्थ पर विचार करते है, तब उसमें भी राम के समान व्यापकता का भाव प्रकट हो उठता है। 'रघु' में 'र', 'घ्' और 'उ' वर्ण है। 'र' का अर्थ 'अग्नि' 'घ' का अर्थ 'धूप' और 'उ' का अर्थ 'शिव' वा 'ब्रह्मा' हमें कोश में मिलता है।[४] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'रघु' शौर्य-

---

१. मानस, बा० कां०, १२४ (ख)
२. वही, २०
३. वही, उ० का०, ७८ (क); (सोपि=सः+अपि=वह भी)
४. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा कृत 'शब्दार्थ-पारिजात' को देखिए।

पराक्रम-प्रकाश आदि सगुणात्मक व्यापक भावों का अर्थवाची है ; अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार रामनाम में सगुण व्यापकता का भाव निहित है. उसी प्रकार 'रघु' नाम मे भी है ; और जब रघु नाम में सगुण व्यापकता है, तब रघुवर, रघुराज, रघुनन्दन आदि नामों में उससे भी अधिक श्रेष्ठत्व होना चाहिए। इस तरह रघुवर आदि नामों में भी राम नाम के समान न केवल दशरथ-नन्दन का, प्रत्युत व्यापक सगुणता तथा व्यापक निर्गुणता का भाव भरा है, और यही कारण है कि तुलसी ने उन्हें त्रिभावात्मक राम का पर्यायवाची माना है।

: २ :

सन्त और क्रान्ति

'सन्त' और 'क्रान्ति' में विरोधाभास

'सन्त की क्रान्ति' इन शब्दों की कान में भनक पड़ते ही यदि पाठक चौक पड़ें, तो कोई आश्चर्य नहीं। परिचित इतिहास और प्रत्यक्ष अवलोकन के आधार पर 'सन्त' और 'क्रान्तिकारी' इन दो संज्ञाओं में इतना विरोधाभास—इतना अनमेल प्रतीत होता है कि उनके समन्वय की बात करना, मानो पृथ्वी और आकाश को एक करना है। कहाँ बेचारा वह सन्त, जो दुनिया को प्रपञ्च समझ, उससे भाग, फटी-टूटी कुटिया में रहकर अथवा जंगलादि एकान्त स्थान मे वास कर आत्म-मुक्ति के हेतु ईश्वर-चिन्तन मे अपना समय व्यतीत करता है, और कहाँ वह वीर पुरुष, जो ईश्वरादि की बात को दार्शनिको की केवल गपोड़बाजी समझ दुनिया की यथार्थता मे घुल-मिलकर जनता के लिए आत्म-बलिदान करने को छटपटाता रहता है। एक ओर है सन्त, जो धर्म-ध्वजा की दुहाई देता है, और दूसरी ओर है क्रान्तिकारी, जो कर्म ध्वजा को ही फहराना अपने जीवन का परम लक्ष्य समझता है। यह उन रँगे स्यारों के लिए नहीं कही गई, जिनकी सख्या सन्तों और क्रान्तिकारियों में भी अधिकतर रहती है, पर वह कही गई है उन लोगों के लिये, जिनके सत्यापन्न पर कोई सन्देह नही किया जा सकता। ठीक है, पर उनका यह सत्यापन्न यथार्थ सत्य नहीं रहता। वह उन्हीं की बुद्धि के अनुरूप केवल सत्याभास रहता है। यथार्थ में सत्य तो यह है कि 'धर्म ही कर्म है' अथवा 'कर्म ही धर्म है'। इसीलिए जो धर्म का नाम लेकर कर्म-स्थान से भागता है, वह सन्त कहाता हुआ भी सन्त नहीं, और जो कर्म की तूफानी उड़ान

भरता हुआ भी 'धर्म' से च्युत रहना चाहता है, वह न तो कर्मयोगी कहलाने का अधिकारी है और न क्रान्तिकारी ; इसलिए जो सच्चा क्रान्तिकारी है, वही सच्चा सन्त होता है ; और जो सच्चा सन्त है, वही सच्चा क्रान्तिकारी होता है। यह सिद्ध करने के लिए पहले हम क्रान्ति के स्वरूप या लक्षणो पर विचार करेंगे और फिर सन्त के लक्षणों पर। तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप से यह बतायेंगे कि सन्त ही क्रान्ति करने का अधिकारी हो सकता है।

समाज-सुधार के तीन भेद तथा क्रान्ति के दो रूप

समाज-सुधार की तीन परिपाटियाँ बताई जाती है। तीनों परिपाटी वालों का ध्यान भूत, वर्तमान और भविष्य पर रहता है। तीनों का वर्तमान से सघर्ष होता है, और तीनों वर्तमान का सशोधन कर समाज के भविष्य को उज्ज्वल और सुखी बनाने के पक्ष मे रहते है ; परन्तु विधियाँ तीनों की अलग-अलग रहती है। एक वर्ग में वे लोग है, जो कहते है कि पूर्व व्यवस्था अच्छी थी। कालान्तर से उसमें जो खराबियाँ आ जाती है, उनका संशोधन कर वे केवल पूर्व स्थिति की पुनःस्थापना कर पूर्ववत् सुख-साम्राज्य लाना चाहते है। इस वर्ग के लोगों को हमारी समझ मे संशोधक (Reformers) कहना उपयुक्त है। दूसरे लोगों के मत के अनुसार पूर्व व्यवस्था की केवल पुनर्स्थापना करना पर्याप्त नहीं है। चूँकि समस्त सृष्टि की नाई मानव-समाज भी गति-रुद्ध (Static) नहीं, बल्कि गतिवान (Dynamic) है, इसलिए उसकी उन्नति के हेतु पूर्व-वर्तमान की सभी अच्छी व्यवस्थाओं को उन्नति-पथ पर ले चलते हुए आगे बढते जाना चाहिए, और यह कार्य उसके मतानुसार शान्तिपूर्वक, क्रम-क्रम से, शनै. शनैः किया जाय, जिससे उत्तरोत्तर दृढ़ता होती जाय। इस वर्ग के लोगों को विकास-वादी (Evolutionists) कहना उपयुक्त प्रतीत होता है। तीसरी परिपाटी वालो का कहना है कि जब हमे उन्नति-पथ पर अग्रसर होते ही जाना है, तो यही क्यो न किया जाय कि हम कुछ ऐसी योजनाएँ बनाये कि हमारा भावी इष्ट शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त हो। ऐसा करने में यदि क्रम और शान्ति का उल्लघन करना

पड़े, तो हानि नही। तात्पर्य यह कि इनके मत से समाज की उन्नति की दृष्टि से व्यक्ति की अवहेलना की जा सकती है और हिंसा (Violence) का प्रयोग भी किया जा सकता है। इस वर्ग के लोगों को बहुधा 'क्रान्तिकारी' (Revolutionists) कहते है। उतावलापन ही इन लोगो का आधार रहता है। इस अधीरता का कारण रहता है—क्रोध और भय। वर्तमान व्यवस्था के अत्याचार जब असह्य हो जाते है, तब वे क्रोधाग्नि मे धधकने लगते है और इसलिए वे उस व्यवस्था का अन्त जल्दी-से-जल्दी कर अपने द्वारा योजित व्यवस्था की स्थापना कर देना चाहते है। क्रोध के अतिरिक्त यह भय भी रहता है कि कही ऐसा न हो कि उनकी नवीन व्यवस्था ही उखाड़ कर फेंक दी जाय; इसलिए उसकी रक्षा के हेतु वे अपने विरोधियों के प्रति अमानुषिक व्यवहार करने पर तुल जाते है। आधुनिक युग मे क्रान्ति ने यह भयकर स्वरूप सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी मे उस समय से धारण किया, जब मध्यकालीन साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के अत्याचारों से जनता का जीवन दु:खमय होने लगा।

यह तो हुआ क्रान्ति का रुद्र रूप; परन्तु उसका एक रूप सौम्य भी है। इस वर्ग के लोग सौम्य वृत्ति के होते है। इसका इष्ट और विधि उपर्युक्त क्रान्तिकारियों के इष्ट और विधि से भिन्न होते हैं, यद्यपि वे भी यही चाहते हैं कि उनका इष्ट शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो जाय। सच पूछा जाय, तो इष्ट दोनो का एक रहता है। यह है '[illegible]'। पर इनके सुख की व्याख्या केवल दैहिक और मानसिक सुख से सीमित नहीं रहती, जैसी पूर्वोक्त रौद्र क्रान्तिकारियों की रहती है। वे चाहते है कि अध्यात्म सुख भी हो। अभिप्राय यह कि उक्त क्रान्तिवादी केवल भौतिक सुख (Materialistic-happiness) पर लक्ष्य रखते है, परन्तु इनका लक्ष्य रहता है, भौतिक सुख के साथ-ही-साथ आत्म सुख (Spiritual bliss) भी। इनके साधन भी उनसे भिन्न होते है। यों तो वर्तमान से संघर्ष इन्हें भी करना ही पड़ता है; क्योंकि बिना संघर्ष के विकास होता ही नहीं, तथापि संयमी होने के कारण उनका संघर्ष क्रोध पर आधारित नही होता, क्यों कि क्रोध मनुष्य

को आधा पागल बना देता है, जिससे विनाश के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। भय भी उन्हें नहीं रहता; क्योंकि उनकी नवयोजना की आन्तरिक गुरुता ही उनका बल होता है। वे जानते हैं कि यदि उनकी नवीन योजना ठोस, मूल्यवान है, तो उसका स्वागत अपने-आप अवश्य होता जायगा, भले ही प्रारम्भ में कुछ स्वार्थी और मूर्ख लोग उसका विरोध करें। वे यह भी जानते है कि कोई भी मनुष्य पूर्णज्ञानी होने का दावा नहीं कर सकता; इसलिए उनका यह भी कहना रहता है कि यदि उनकी नव निर्मित योजनाओं मे कोई त्रुटि हो, और जन-मत उसे अपने बुद्धि-बल से सुधार ले, तो कोई हानि नहीं; प्रत्युत लाभ ही होगा। यह क्रांति 'अहिंसात्मक क्रांति' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसके जन्मदाता गांधी-जो अहिंसा के अद्वितीय पुजारी थे। इसका जन्म बीसवी शताब्दी कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के बाद पूर्व मे कथित क्रांति 'हिंसात्मक क्रान्ति' कही जाने लगी।

अहिंसात्मक क्रान्तिकारी गांधी की विचार-धारा

गांधीजी की समस्त योजना सत् और अहिंसा पर अवलम्बित है। वे ईश्वरीय शक्ति के अनन्य भक्त थे, और धर्म को ही उन्होंने अपना मूल-क्षेत्र कहा है। शेष अन्य कार्य-क्षेत्र; जैसे—राजनीति, साहित्य, समाजादि उसी धर्म-क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते है। वे 'सत्' को सर्वोपरि कहते हैं। यह वही सत् है, जो संस्कृत-साहित्य में ब्रह्म नाम से जाना गया है और जिसको तुलसी ने 'राम' के नाम से कहा है। अहिंसा इसी सत् का दूसरा बाजू है, ऐसा कहकर गांधीजी ने समझाया है। उनका कहना है कि सत् ही अहिंसा है। सारांश यह कि अहिंसा को व्यवहृत किये बिना सत् की, जिसे लोग सत्य (Truth) भी कहते है, अनुभूति नही हो सकती। उनका कथन है कि "सर्वव्याप्त विश्व-स्थित सत्यात्मा अथवा सत्यनारायण का साक्षात्कार करने के हेतु मनुष्य में सृष्टि के अल्पातिअल्प प्राणी-मात्र के प्रति अपने ही समान प्रेम करने की क्षमता होनी चाहिए। और ऐसा मनुष्य, जो इसका

लालायित हो, जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने-आपको वचित नहीं रख सकता। यही कारण है कि सत्योपासना ने मुझे राजनीतिक क्षेत्र मे घसीट लिया है, और मैं बिना किसी संकोच के पूर्ण नम्रतापूर्वक यह कहने को तैयार हूँ कि जो यह कहते है कि धर्म (Religion) का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं, वे यह जानते ही नही कि धर्म क्या चीज है।.... मुझे पृथ्वी के नाशवान राज्य की कोई लालसा नहीं; मै तो स्वर्गीय राज्य के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ। और वह स्वर्गीय राज्य है आत्म-मुक्ति। इस आत्म-मुक्ति की प्राप्ति के हेतु मेरे लिए एकमात्र मार्ग यह खुला हुआ है कि मैं अपने देश की तथा जन-समाज की अटूट सेवा करता जाऊँ ....मैं प्रत्येक वस्तु मे, जो जीवित है, अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर एकमय बनना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में मै मित्र और शत्रु दोनों के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहता हूँ; इसलिए मेरी देश-भक्ति मेरे लिए मेरी उस यात्रा की एक मंजिल है, जो मै उस स्थान के लिए कर रहा हूँ, जहाँ शाश्वत मुक्ति और शान्ति मिलती है।"[१] यो तो गांधीजी अपने-आप को सनातनी हिन्दू ही कहते थे, ओर उनका वेद-उपनिषद्-पुराणादि हिन्दू-धर्म-शास्त्रों मे, वैदिक अर्थ वाले वर्णाश्रम धर्म में, गो-सरक्षण में तथा मूर्तिपूजा में विश्वास था,[२] तथापि उन्होने यह स्पष्ट कह दिया है कि "यथार्थतः धर्म और धर्ममत (Creed) में भेद होता है।" धर्म तो सर्वधर्म-व्यवस्थाओं का आधार होकर उन्हें ठीक उसी प्रकार धारण करने वाला होता है, जैसे वह संसार को अन्य वस्तुओं या व्यवस्थाओं को धारण करता है, जैसा कि महाभारत के कर्ण पर्व मे कृष्ण द्वारा की गई धर्म की निम्न व्याख्या से विदित होता है--

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

---

१. देखो 'Mahatma Gandhi' edited by Radhakrishnan. पृ० १४ पर दिया हुआ उद्धरण--

२. देखो Young India, Oct. 6 of 1921 A. D.

अर्थात्—धारण करनेवाला होने से 'धर्म' कहाता है, 'धर्म' ही प्रजा (सृष्टि) को धारण करता है, जो धारण शक्ति से संयुक्त हो. वही निश्चय पूर्वक धर्म है। (धर्म 'धृ' धातु का रूपान्तर है, जिस 'धृ' का अर्थ होता है 'धारण करना'।

इससे स्पष्ट है कि मूल-धर्म अनवच्छिन्न और व्यापक है और भिन्न-भिन्न धर्म-व्यवस्थाएँ या धर्म-मत अवच्छिन्न और सीमित होते हैं। फिर क्या कारण है कि गांधीजी सनातनी हिन्दू-धर्मावलम्बी ही कहलाना पसन्द करते थे? क्या कारण है कि उन्होने यहाँ तक कहा कि "मै हिन्दू धर्म को अपने जीवन से भी अधिक प्रेम करता हूँ।"[३] इसीलिए कि केवल उसी के धर्म-शास्त्रों और व्यवस्थाओं की यथार्थता के अनुकूल बर्तने से हर हिन्दू को आत्म-मुक्ति प्राप्त हो सकती है। गान्धीजी कहते थे कि "हिन्दू-धर्म संकीर्ण धर्म नहीं। उसमें संसार के सभी पैगम्बरो-महात्माओ की पूजा के लिए गुंजाइश है। वह प्रचारकारी (Missionary) धर्म नहीं है, जैसा कि लोग साधारणतया उस शब्द का अर्थ समझा करते है।..... हिन्दू-धर्म का यह आदेश है कि हर एक अपनी श्रद्धा या धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे, और इसी कारण वह समस्त धर्मो के साथ शान्ति पूर्वक रहता है।"[४] गान्धीजी ने जो यह कहा है कि हर एक अपनी श्रद्धा और धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करें, वह हिन्दू-संस्कृति अथवा हिन्दू-धर्मशास्त्रों के आधार पर ही कहा है।

तुलसी-गांधी की समता (अ) विचार-समता

अब देखिए तुलसी की विचार-धारा को। तुलसी सनातन धर्मी थे, और वर्णाश्रम आदि सभी व्यवस्थाओं तथा धर्म-शास्त्रों में उनका विश्वास था। गान्धीजी ने यदि इस सम्बन्ध मे 'यंग इन्डिया' मे लेख लिखकर

---

३. वही।

४. वही।

लोगों का भ्रम मिटाया, तो तुलसी ने मानस की सारी इमारत ही उस पर खड़ी की है। गान्धी ने यदि यह कहा कि मूल धर्म सब धर्म-मतों का आधार स्वरूप होकर सर्वव्यापक है, तो तुलसी ने मानस के अरण्यकाण्ड की प्रारम्भिक वन्दना में 'मूलं धर्म तरोः' अर्थात् धर्म रूपी वृक्ष की जड़ कहकर वही भाव व्यक्त किया है। गाधी ने इस मूल रूप सर्वव्यापक सत्यात्मा अथवा सत्यनारायण का साक्षात्कार करने के लिए प्राणी-मात्र के प्रति अपने ही समान प्रेम करने तथा अधिक सम्बन्ध स्थापित कर एकमय बन जाने की बात कही, तो वही बात तुलसी के 'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जानि', में निहित है। गांधी ने यदि समाज की अटूट सेवा करने के लिए कहा है, तो तुलसी ने उसी राम रूप सकल जगत् की सेवा करने के लिए 'सेवक-सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय, उरगारि'[५] कहकर आग्रह किया है। गांधी यदि कहते है कि मैं मित्र और शत्रु दोनों के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहता हूँ, तो तुलसी के निम्न कंपनों में भी वही भाव ओत-प्रोत है—

> "सत्रुन काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
> तुलसी वह मत संत को, बोले समता माहिं" ॥[६]
> "राग द्वेष की अगिनि बुझानी, काम क्रोध वासना नसानी।
> तुलसी जबहिं सांति गृह आई, तब उर ही उर फिरी दोहाई ॥"[७]
> "त्याग को भूषण शान्ति पद, तुलसी अमान अदाग" ॥[८]

गांधीजी ने यदि यह कहकर कि 'हर एक अपनी श्रद्धा और धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे', श्रद्धा और आत्म-विश्वास पर जोर दिया है, तो तुलसी ने भी कई बार उनका महत्त्व बताया है।

---

५. मानस, उ० कांड, ११९
६. वैराग्य संदीपिनी १३
७. „ वही ६०
८. „ ४४

जे श्रद्धा संबल रहित नहि सन्तन कर साथ
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ।।"[९]

तथा 'वट विश्वास अचल निज धर्मा' ।।[१०]

इतना ही नहीं, उन्होने बालकांड की प्रारम्भिक वन्दना ही में यह बता दिया है कि श्रद्धा और बिश्वास के बिना सिद्ध लोग भी यह नहीं जान पाते कि अन्तर्स्थित ईश्वर क्या होता है ।[११] इसी अन्तर्स्थिति का नाम है 'आत्मानुभव' या गांधी के शब्दों मे 'सत्यानुभव' अथवा 'अहिंसत्व' यदि गांधी ने यह कहा है कि अहिसा का अर्थ है 'सम्पूर्ण निरंहकारत्व' (Uttermost Selflessness) अर्थात् 'दैहिक ममता से पूर्ण-मुक्ति', यदि गांधी ने यह कहा है कि "यदि मनुष्य आत्मानुभव अर्थात् सत्यानुभव करना चाहता है, तो वह तभी हो सकता है, जब वह अपने शरीर से पूर्णतः अनासक्त हो जाय अर्थात् समस्त अन्य प्राणी उससे अपने-आप सुरक्षित मानने लग जायँ"[१२] तो तुलसी ने भी वही बात कही है—

"अहंवाद 'मैंने' नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ ।।
दुखते दुख नहीं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होइ ।।"[१३]
'मैंतैं' मेट्यो मोह तम, उगो आतम भानु ।।[१४]

(ब) आचार-समता

सारांश यह है कि गांधीजी और तुलसी के सिद्धान्तों मे कोई भेद नहीं है ; और इसका मूल कारण यह है कि दोनों के सिद्धान्तों का आधार एक ही

---

९. मानस, बा० कां० ३८
१०. मानस, बा० कां० १।११
११. मानस बा० का० श्लोक २
१२. Young India, Dated 4.11-1926
१३. वैराग्य-संदीपिनी ३०
१४. " " ३३

है, जिसे आर्य-संस्कृति कहा जाय, या हिन्दू धर्म-शास्त्र। उनके आचारों में भी हमें मूलतः समता मिलती है। जो कुछ असमता की प्रतीति होती है, वह केवल इसलिए कि तुलसी गांधी के लगभग ३५० वर्ष पूर्व उस समय हुए थे, जब कि देश तथा संसार की परिस्थितियाँ गांधीकालीन परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न थीं। अन्तर्दृष्टि से देखिए, तो दोनों के बर्ताव में एकात्मीयता तथा त्याग का प्रतिबिम्ब मिलता है। गाधी यदि पत्नी-पुत्र, जाति-कुल आदि का मोह छोड़ आश्रमों मे या हरिजनों के बीच झोपड़ों मे रहे, तो तुलसी भी "सुत दार अगार सखा परिवार—सब की ममता तजि कै"[१५] रहे। गांधी यदि केवल दो-तीन हाथ की लँगोटी लगाकर अर्द्ध-नंगे फकीर कहे जाते रहे, तो तुलसी केवल मलीन कथरी या 'करवा धरकर'[१६] तथा 'माँगि कै खैबो वा[१७] मसीद (मसजिद) में सोकर' गुजर-बसर करने वाले एवं 'नीच निरादर-भाजन कादर, कूकर-टूकन के लिए लिलात फिरने वाले'[१८] कहालाए। यथार्थ बात यही है कि दोनों का जन-प्रेम और त्याग इतना जबरदस्त था कि तुलसी के शब्दों मे दोनों को न किसी से कुछ लेने को था और न किसी को देने को (लेवै को एक न देवै को दोऊ),[१९] क्योंकि जब अहंवाद अर्थात् मैं-तैं मिटकर एक ही रह पाये, तो देना-लेना शब्दों का अस्तित्व ही नहीं रह पाता।

तुलसी द्वारा सन्त-लक्षणों का निरूपण

जब कोई एकात्मीयता का सच्चा अनुपालक हो जाता है, तभी वह आर्य-संस्कृति की दृष्टि से साधु या सन्त कहलाने का अधिकारी होता है। तुलसी

---

१५. कवितावली ३०

१६. कवितावली ५६ (करवा=पानी पीने के लिये मिट्टी का बर्तन)

१७. कवितावली १०६

१८. " " ५७

१९. " " १०६

दासजी ने सन्तों का स्वभाव या लक्षणों के विषय में रामचरित-मानस के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में बहुत कुछ कहा है। उन्होंने उसी विषय में एक बहुत छोटी-सी "वैराग्य-संदीपिनी" नाम की पुस्तक भी लिखी थी, जिस का महत्त्व उन्होंने इस दोहे में प्रकट किया है--

'तुलसी वेद-पुरान-मत, पूरन शास्त्र विचार।
यह विराग-संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥'[२०]

इसलिए यदि तुलसी के विचार-आचार जानना हों, तो हर एक को सर्वप्रथम तुलसी के द्वारा वर्णित सन्त-स्वभाव अथवा संत-लक्षणों पर गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। यदि हम तुलसी के कथनों का उद्धरण देकर उन्हें सम्यक रूप में बताना चाहें, तो विस्तार अधिक बढ जायेगा, तथापि उन सब को देखकर केवल एक निष्कर्ष यही निकलता है कि सन्त हर प्राणी, हर मानव को अपनी ही आत्मा समझता है, जिसके फलस्वरूप न वह किसी को हानि पहुँचाता और न कोई उसको हानि पहुँचा सकता है-- कोई किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, जैसा कि गीता एवं उपनिषदादि में कहा गया है।[२१]

एकात्मीयता के कारण सन्त में समता और सरलता अपने-आप आ जाती है। समता उसकी इस बात मे रहती है कि न तो उसके चित्त में किसी के हित से मतलब रहता है और न किसी के अनहित से--उसके सम्पर्क में कोई भी आया कि उसे समान लाभ प्राप्त हो जाता है, जैसा कि तुलसी ने नीचे के दोहे मे फूल का दृष्टान्त देकर बताया है कि चाहे दायें हाथ की हथेली उसके सम्पर्क में हो जाय, चाहे बायें हाथ की हथेली, दोनों में अभेद रूप से सुगन्ध आ जाती है। दायें-बायें 'कर दोइ' का महत्त्व यही है कि चाहे सीधा-सरल आदमी भी सन्त के सम्पर्क में आये, चाहे खोटा, दोनों को लाभ होता है।

---

२०. वैराग्य-संदीपिनी ७।

२१. देखो ईशा उपनिषद् मन्त्र ६--७ और गीता ६।३०।

'वन्दौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गति शुभसुमन जिमि, सम सुगंधकर दोइ॥'[२२]

सरलता उसकी वाणी, रहन-सहन आदि सभी में दिखाई देती है, जैसे 'संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाव सनेहु'[२३] तथा

'सकल वरन भाषा सरल, सरल अर्थ सम मानि।
तुलसी सहजै संतजन, ताहि यही पहिचानि॥'[२४]

'सरलता' और 'स्वभाव' कहने में 'सहजपन' का भाव निहित है। जो काम बिना प्रयास-प्रयोजन आदि के होता जाय, वही 'सहज' कहाता है; जैसे सूर्य से प्रकाश होता रहना यह सूर्य का सहज काम, सहज धर्म या सहज गुण है। इसी को सूर्य का 'सहज-स्वभाव' अथवा केवल 'स्वभाव' (स्व= अपने आप; भाव=होना) कहते हैं। इसी तरह जहाँ सन्त होगा, वहाँ अपने आप जगत् के प्रति 'स्नेह' तथा उस स्नेह के कारण जगत् का 'हित' हुए बिना रह ही नही सकता, क्योंकि स्नेह और हित ये दोनों उसके स्वाभाविक या सहज धर्म हैं। संत के कर्मों मे सरलता रहती है; इसलिए तुलसी ने वैराग्य-संदीपिनी के उक्त दोहों में उदाहरण-स्वरूप उसके दो-चार सहज गुणों को बताने के बाद निष्कर्ष रूप से यही कह दिया कि 'सन्त ही सरल' अथवा 'सरल ही सन्त' होता है। जिस प्रकार सूर्य के आन्तरिक स्वाभाविक तेज का प्रकाश और उष्णता के रूप मे प्रकट होना अनिवार्य है, उसी प्रकार सन्त का यह सहज स्वाभाविक 'स्नेह' का दया, विनम्रता, अहिंसा आदि के रूप मे बह उठना रोका नहीं जा सकता। तुलसी ने सन्तो के संबंध में अहिंसात्मक पराकाष्ठा का एक विशद चित्र कुछ सारगर्भित दृष्टान्तों द्वारा इन चौपाइयों में खींचकर रख दिया है—

---

२२. मानस, बा० कां० ३ (क)
२३. मानस, बा० कां० ३ (ख)
२४. वैराग्य-संदीपिनी ८

"साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। वन्दनीय जेहि जग जस पावा॥"[२५]
'सन्त असंतन्हिकै अस करनी। जिमि कुमार चन्दन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनुभाई। निज गुन देइ सुगंधि बसाई॥'[२६]

अहिसा का पुजारी अपने गुणों की श्रेष्ठता से दूसरों के दुर्गुणों को इस तरह दूर कर देना चाहता है, जिस प्रकार सुगंधित फूल या इत्र की महक से मल युक्त स्थान भी दुर्गन्धरहित हो जाता है। यदि पराये दुर्गुण बने रहे, तो वह अपने गुणो की ही कमी समझता है; इसलिए गाधीजी आदि अहिंसा के भक्तों का यह सिद्धान्त रहता है, कि दूसरों को सद्गुणी बनाने के हेतु उन्हें डॉट-डपट करने या मारने की अपेक्षा स्वयं ही अपने-आप को यहाँ तक कसते जाओ कि स्वकीय प्राणान्त भी हो जाय, तो कोई हानि नहीं। यही आचरण साधु-सन्तों का होता है। इसी आचरण के दो दृष्टान्त तुलसी की उक्त चौपाइयो मे मिलते है। दोनों मे उन्होंने बताया है कि अपने प्रति दुर्व्यवहार करने वाले खल या दुष्टों के प्रति भी सन्त अपने स्वाभाविक स्नेह के कारण ऐसा स्नेह बर्तता है कि जिससे उन्हें लाभ ही हो, हानि या कष्ट न पहुँचने पाये।

अनासक्त-कर्म तथा शुद्ध-साधनाओं का महत्त्व

इसलिए सन्त-वाणी तथा सन्त-आचार दोनों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सन्त ही सच्चा कर्म-योगी होता है। इसके विपरीत जो लोग यह समझते है कि सन्त का दुनिया के व्यावहारिक जीवन-सम्बन्धी कर्मो से कोई सम्बन्ध नहीं, वे मूर्ख है। जीवनोपयोगी सांसारिक कर्म करना तो सभी के लिये आवश्यक है। और ये किस प्रकार से किये जायें, इस विषय में तुलसी ने स्वयं मानस मे तथा अन्यत्र कई बार 'मन-वचन-कर्म' पर जोर

---

२५. मानस, बा० कां० १।५–६।
२६. मानस, उ० कां० ३६।७–८।

दिया है। ये तीनों शब्द हमारे धर्म-शास्त्रों में इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि हम उन्हें तुरन्त कह तो जाते हैं; पर उनके महत्त्व पर एक पल भी ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार चार फल 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष', चार त्याग 'तन मन-धन-धाम', चार वैरी 'काम, क्रोध, मद, लोभ', तीन गुण 'सत, रज, तम' अथवा त्रिदेव 'ब्रह्मा, विष्णु, महेश' आदि शब्दों पर भी मनन नहीं करते। तुलसी ने 'मन-वच-कर्म' कहकर यही दर्शाया है कि कर्म प्रधान है—हर मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए और वह कर्म दिखावटी न हो। जो बात मन में हो, वही जैसी-की-तैसी कही जाय और ठीक उसी के अनुरूप कर्म किया जाय। गांधी आदि दूसरे महापुरुष भी इसी बात को यह कहकर दर्शाया करते है कि विचार (Thought) शब्द (Word) एवं कर्म (Deed) मे समता हो। यदि इनमें असमता हुई, तो कर्ता तथा समाज दोनों के लिये वह अहितकर अथवा अकल्याणकारी होता है। इस सम्बन्ध मे तुलसी के ये दोहे पठनीय है—

"सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम-प्रसूति॥
वेष-विषद बोलनि मधुर, मनकटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइये, भए विषय-जल-मीन॥
वचन-वेष तें जो बनै, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन तें जो बनें, बनी बनाई राम॥"[२७]

इन्हें पढने से यह ज्ञात होता है कि तुलसी ने हर मनुष्य की पाँच गतियोंपर विचार किया है—(१) हृदय गति, (२) मान या बुद्धि, (३) वाणी या वचन, (४) वेष और (५) कर्म। हृदय भाव का उद्गम स्थान है, वहाँ से प्रकट होकर वह भाव नदी की धारा-जैसा क्रमशः मन, वाणी, वेष को पार करता हुआ कर्म-रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार निर्झर से निकले हुए सूक्ष्म-निर्मल जल-कण अटूट-क्रम से विविध प्रकार के विकारों में से बहते

---

२७. दोहावली १५२, १५३, १५४।

हुए स्थूल नदी रूप में दिखाई देने लगते है, उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव अनेक प्रकार के आन्तरिक और वाह्य तथा वैयक्तिक और सामाजिक भले-बुरे गुणों से क्रमश: प्रभावित होते हुए अन्त में कर्म के रूप में दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह कि यदि पवित्र से पवित्र भाव भी 'ईर्षा, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, ममत्व' आदि विकारों से प्रभावित हुआ, तो उसका अन्तिम रूप कर्म भी भयंकर और विनाशकारी बन जाता है। इसीलिए तुलसी ने सर्वप्रथम यह बताया है कि हृदय में रघुवर (अथवा प्रथम अध्याय मे कहे हुए त्रिभावात्मक राम) के प्रति प्रेम हो ; परन्तु संसार मे केवल उत्तम भाव के आ जाने से काम नही चलता। उत्तम भाव के आने पर भी यदि 'मन कटु' और 'कर्म मलीन' हुए, तो सब व्यर्थ ही है, क्योंकि उनके रहते हुए न तो सगुण-जगत्-रूप राम के सेवक हो सकते है, न निर्गुण राम को ही पा सकते है ; इसलिए रघुवर-प्रेम से उत्पन्न मन-वचन-कर्म के सीधेपन पर जोर दिया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि इस जगत्-रूप रघुवर के प्रेमी की कर्म-विधियाँ भी सीधी-सच्ची होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी भी गाधी के समान पश्चिमी विद्वानों के उस निदान को नहीं मानते थे, जिसके अनुसार कहा जाता है 'परिणाम भला तो साधन भी भला' (End justifies the means)। इस सिद्धान्त का थोथापन बताते हुए जिस प्रकार गांधीजी ने उसके स्थान में यह एक नव-सिद्धान्त 'साधन भला तो परिणाम भला' (Means justify the end) प्रसिद्ध किया, उसी प्रकार तुलसी ने 'तुलसी सूधी सकल विधि' कहकर संसार की दृष्टि को साधनों अथवा विधि के महत्त्व की ओर विशिष्ट रूप से आकर्षित किया। वह ऐसी विधि चाहते थे, जिसमें छल-छिद्र अथवा कपट-पाखंड न हो, बल्कि जो सूधी अर्थात् सीधी-सच्ची हो। परन्तु, इससे भी अधिक महत्त्व तो इस बात मे है कि तुलसी ने अपनी उपर्युक्त अंतिम पंक्ति 'तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनाई राम' मे भर दिया है, जिसका अर्थ, संगति (Context) पर ध्यान रखते हुए यह है कि यदि मन में रघुवर-प्रेम (जगत्-प्रेम) हो, तो सब कुछ अर्थात् वेष, वचन, कर्म तथा कर्म-विधि सब अपने-आप

बन जाते है ; जैपे कहा है 'एकहि साधे सब सधे' और यदि इसमें कुछ कहीं त्रुटियाँ आ भी जायँ, तो भी कर्ता को उसका कोई पाप या अपराध नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि पाप या अपराध मन की कुगति अथवा मन के कुभाव पर निर्भर रहता है । अथवा यह कहिए कि तुलसी ने उक्त पंक्ति के द्वारा यह बताया है कि कर्म-तत्त्व में भाव की प्रधानता रहती है, न कि फल की। फल तो रामाधीन रहता है अर्थात् भविष्य के गाल में रहने से कोई कुछ नहीं कह सकता कि क्या-कैसा फल होगा ; इसलिए तुलसी का कहना है कि भाइयो ! राम-रूप जगत् के हेतु कर्म-भावना आने पर सीधी-सच्ची विधियों से कर्म भर करते जाओ और फल राम पर छोड़ दो, तो समझ लो, सब बन गया (बनी बनाई राम)। जैसा कि गीता में कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अर्थात्—तेरा अधिकार केवल कर्म करने पर है, न कि फल पर ।

गीता का यह महावाक्य, जैसा कि बहुधा देखा जाता है, कुछ उन आसुरी वृत्ति वाले लोगों के आँसुओं को पोंछने के लिए नही कहा गया, जो अपने निकम्मेपन अथवा अत्याचार के कारण अफल होने पर रोते है । उनके लिए तो प्रायश्चित्त या सोचने का ही विधान है, ताकि वे अफल बनाने वाली अपनी त्रुटियों का भावी कार्य-सम्पादन के हेतु संशोधन कर लें, जैसा कि बाइबिल मे कथित आदेश 'पश्चात्ताप करो और तुम्हें स्वर्गीय राज्य प्राप्त होगा' (Repent and thou shalt get the kingdom of heaven) का भी आशय है । तुलसीदास ने भी दशरथ-मृत्यु के प्रसंग में वशिष्ठ-भरत-संवाद के बहाने 'सोचिय गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग' आदि कहकर कर्म-च्युत लोगों की शोचनीय दशा पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है, जिसका अभिप्राय यही है कि इस प्रकार के कर्महीनों अथवा कर्म में अकुशल लोगों को पाश्चात्ताप कर अपना संशोधन करना चाहिए ।[२८] इसी समय वशिष्ठजी ने भरत को 'सुनहु भरत भावी प्रबल'

---

२८. मानस, अ० का०, १७१।३ से १७२।४ तक ।

और 'यश अपयश विधि हाथ' कहकर यह बताया कि भविष्य का पूर्णतः ज्ञाता सिवाय 'विधि' के कोई नही हो सकता,[२९] चाहे वह दशरथ-जैसा 'धर्म व्रत सत्य' का पालने वाला ; 'प्रेम निबाहने' वाला अथवा अपनी सुनीति और कर्मपरायणता के कारण 'भुवन चारि दश प्रकट प्रभाऊ' वाला ही क्यों न हो ।[३०] यही 'विधि हाथ' वाली बात गीता के उक्त श्लोक मे कथित 'मा फलेषु कदाचन' मे निहित है । दैवी सम्पदाओं के नाम गिनाते-गिनाते कृष्ण कहते है—पांडव ! जब तू दैवी सम्पदाओ से युक्त है, तब तुझे सोच करने की जरूरत ही क्या है? (मा शुचः सम्पदं दैवीमभियातोऽसि पाण्डव) ।[३१] तू तो दिव्य गुणो से युक्त होने के कारण कर्म करने का सच्चा अधिकारी है ही ; इसलिए कर्म तो तू कर, पर फल के विषय मे सोच-विचार मत कर, क्योंकि यह तेरे हाथ की बात नही है । यदि तूने उसमें अपना मन उलझाया तो कर्म-हीन बन जायगा । सारांश यह कि गीता का उक्त अमर वचन कर्म-अधिकारियों अथवा कर्म-योगियो मे कर्म-फल के प्रति उदासीनता लाने के लिए है, न कि असफलो के आँसू पोंछने के लिए ।

धर्म और कर्म में अभेद

जिन्हें हिन्दुओ की सनातन तत्त्व विद्या का कुछ भी ज्ञान है, वे सहज ही कह सकते है कि वह 'एकोऽहं द्वितीयोनास्ति' पर आधारित है । इसलिए हिन्दू-धर्मशास्त्रों मे धर्म और कर्म में अभिन्नता का बोध कराया गया है । उनमें धर्म के बिना कर्म का कोई अस्तित्व नहीं माना गया है और न कर्म के बिना धर्म का । मानवता के परीक्षण के लिए हमारी कसौटी सनातन से यही चली आती है। यह कसौटी उन लोगों की उस कसौटी से बिलकुल भिन्न है, जो धर्म को कर्म से अलग मानते हैं । इसका परिणाम हमें इतिहास

---

२९. मानस, अ० का० १७१ ।

३०. मानस, अ० कां०, १७०।६; १७२।५ ।

३१. गीता, १६।५ ।

बताता कि एक ओर तो धर्म परिवर्तन के हेतु बल और प्रलोभन का प्रयोग होता है, और दूसरी ओर कर्मवीरता की डींग हाँकने वालों के द्वारा महा-घातक रक्त-प्रवाह तथा सम्पत्ति-हरण आदि राक्षसी कार्यों की भरमार दिखाई देती है।

सन्त और कर्मयोगी (क्रान्तिकारी) में अभिन्नता

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से अब आप को विदित हुआ होगा कि हमारे इतिहास में उन्ही लोगों को कर्मयोगी कहा गया है, जो धर्म-रक्षक थे और उन्ही को धर्म-रक्षक कहा गया है, जो कर्मयोगी थे। ऐसे दृष्टान्त सहस्रों मिलते हैं; जैसे—श्रीकृष्ण, महात्मा गौतम बुद्ध आदि। परन्तु हमने इस अध्याय में केवल महात्मा गांधी का ही दृष्टांत देकर अपने विषय को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना लाभदायक समझा है; क्योंकि उनका जीवन-वृत्तान्त हमारे मस्तिष्क में अभी जीवित है। गांधीजी को लोक ने महात्मा की उपाधि क्यों दी ? इसलिए कि उनकी आत्मा महान् थी, अर्थात् उनका दृष्टिकोण स्वार्थ-अहंकार-मय व्यक्तित्व से सीमित नहीं था, बल्कि एकात्मीयता के आधार पर सर्वजग मे समभाव से फैला हुआ था। उनके उक्त गुण और उससे प्रभावित अन्य आचार-विचारों को देखकर कोई यह कह सकता है, कि गांधीजी हमारी सस्कृति के अनुसार इस युग के महान् सन्त थे; परंतु महान् सन्त होते हुए भी वे महाक्रान्तिकारी भी थे, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है! इसलिए, जब गांधी-जैसा क्रान्तिकारी मनुष्य महासन्त हो ब-सकता है, तब तुलसी-जैसा महासंत भी, क्रान्तिकारी हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। सच पूछा जाय, तो केवल सन्त ही अपने साधुत्व के कारण क्रान्ति करने का अधिकारी हो सकता है। क्रान्तिकारी का मूल लक्षण है समाज को गतिरुद्ध करने वाली रूढियों वा अनीतियों से मुक्त कर उन्नति के पथ पर लगाना, और वह उन्नति-पथ सृष्टि के स्वाभाविक विकास-प्रद नियम (Natural Law of Evolution) से सामञ्जस्य रखने वाला हो, अर्थात् उसका पथिक केवल वही हो सकता है, जो सर्वत्र समभाव

रखता हो। यदि किसी ने मेरा देश, तेरा देश अथवा मेरी कौम, तेरी कौम आदि में 'मै-तैं' का राग गाया और 'समता माहि' में नहीं चला, तो वह निश्चय ही सृष्टि की स्वाभाविक गति को अवरुद्ध करने वाला सृष्टि-द्रोही होने के कारण क्रान्तिकारी कहा जाने योग्य हो ही नहीं सकता।

: ३ :

तुलसी-विषयक अनुसन्धानों की समीक्षा

प्रचलित अनुसन्धानों का संक्षिप्त विवरण

तुलसी क्रान्तिकारी थे या नहीं, यह तो तभी जाना जा सकता है, जब हमें उनकी जीवनी का ज्ञान हो और जीवनी का यह हाल है कि वह अभी तक अनुमानों और सन्देहो से मुक्त नही है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'मानस की रामकथा' में यह ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी तुलसीदास की कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं मिलती। उसके लिए जो कुछ साधन उपलब्ध हैं, वे भी अधूरे और अनुपयुक्त से लगते है।"[१] एक तो स्वामीजी ने स्वय अपनी कोई आत्म-कथा लिखकर नही छोड़ी, और न कहीं उन्होंने अपने जीवन के किसी भाग का स्पष्ट वृत्तान्त ही दिया है। जो कुछ इधर-उधर थोड़ी-बहुत उनके ग्रन्थों मे बिखरी हुई सामग्री मिलती है, वह भी अपर्याप्त और भ्रमोत्पादक है। दूसरे, न तो किसी इतिहासकार का ऐसा इतिहास है और न तुलसी के किसी शिष्य या भक्त द्वारा लिखी गई कोई ऐसी कथा-वार्ता ही है, जिसमे हमे प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानुभव पर आधारित तत्संबन्धी प्रामाणिक सामग्री मिल सके। इतनी असुविधा होने पर भी कुछ विद्वानों ने तुलसी के ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाये गये कतिपय शब्दों, पदों या वाक्यों आदि को देखकर उनकी जीवनी के विषय में अनुसन्धान लगाना प्रारम्भ किया, और अभी भी उस सम्बन्ध में मंथन करते जा रहे हैं। ये अनुसन्धान अभी तक तुलसी की केवल जन्म-मृत्यु-तिथियों, जन्म-मृत्यु-स्थानों,

---

१. मानस की रामकथा (किताब महल, इलाहाबाद, पृ० ९)।

माता-पिता-जाति-कुल बाल्यकाल, गृहस्थकाल, वैराग्यकाल, मरणकाल तथा साहित्यांगों से सीमित रखे गये है। इन विषयों पर अनुसन्धानकर्त्ताओं के निष्कर्ष इस प्रकार पाये जाते है—

(१) **जन्म-मृत्यु-तिथियाँ**—जन्म सं० १५८९ (सन् १५३२) मे, और मृत्यु ९१ वर्ष की आयु में सं० १६८० (सन् १६२३) में। जन्म-तिथि के विषय में मतभेद था, परन्तु अब प्रायः सभी उक्त संवत् को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। मृत्यु-तिथि के विषय मे कोई मतभेद नहीं रहा।

(२) **जन्म-मृत्यु-स्थान**—मृत्यु काशी मे हुई, इसमे कोई मत-भिन्नता नहीं है; परन्तु जन्म-स्थान के विषय से काफी मत-भेद चल रहा है। कोई उसे हस्तिनापुर कहते हैं, कोई चित्रकूट के निकट हाजीपुर, कोई तारी, कोई राजापुर, कोई काशी, कोई अयोध्या और कोई जिला एटा के सोरों अर्थात् सूकर क्षेत्र कहते हैं। अधिकांश मत राजापुर, जिला बाँदा की ओर है, यद्यपि जिला बाँदा के गजेटियर से यह प्रतीत होता है कि राजापुर तो तुलसी ने सोरों से आकर बसाया था, जैसा कि 'मानस की राम-कथा' के १८वें पृष्ठ पर दिये हुए उद्धरण से विदित होता है।

(३) **माता-पिता तथा जाति-कुल**—केवल एक मत को छोड़कर, जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा[२] यह प्रायः सभी को मान्य है कि तुलसी की जाति ब्राह्मण, माता हुलसी और पिता आत्माराम दुबे थे। वे कौन से वर्ग के ब्राह्मण थे, इस पर पर्याप्त मत-भेद है। कोई उन्हे कान्यकुब्ज, कोई सनाढ्य और कोई सरयूपारी कहते हैं। कोई शुक्ल ही कहते हैं, क्योंकि 'कवितावली' में तुलसी ने एक स्थान पर 'सुकुल' शब्द का प्रयोग किया है; परन्तु यथार्थतः 'शुक्ल' कोई जाति-वर्ग नहीं है—वह ब्राह्मण जातियों का एक कुल-विशेष ही होता है।

(४) **बाल्यकाल**—तुलसीकृत 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका'

---

२. रजनीकान्त कृत 'मानस-मीमांसा' (किताब महल, इलाहाबाद)

के कुछ छन्दों वा भजनों को प्रमाण-स्वरूप मान, केवल एक उपर्युक्त मत को छोड़कर प्रायः सभी एक मत से स्वीकार करते हैं कि तुलसी का अपने माता-पिता से बिछोह उनके बाल्यकाल में ही हो गया था। बिछोह के कारण के विषय में भिन्न-भिन्न मत है। कोई कहते है कि माता-पिता को मृत्यु बाल्यकाल मे हो गई थी। कोई कहते हैं कि वे बहुत गरीब थे; इसलिए त्याग दिया था, और कोई यह बताते हैं कि तुलसी का जन्म 'अभुक्त मूल नक्षत्र' में हुआ था, जिससे उन्होंने तुलसी को त्याग दिया। त्याग का कारण जो भी हो; पर सब एक स्वर से यह कहते है कि तुलसी को बाल्यकाल में खाने-पीने की बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। अन्त मे 'नररूपहरि' शब्दो को रामचरित मानस में देखकर यह कहा जाता है कि नरहरिदास नाम के गुरु ने उनका पालन-पोषग किया और काशी में रखकर उन्हे भक्ति और ज्ञानोपार्जन कराया।

(५) **गृहस्थ-काल**—अधिकांशतः यह कहा जाता है कि काशी में कुछ काल व्यतीत होने के उपरान्त तुलसी राजापुर लौट गए और वहाँ किसी-किसी के अनुसार उनके तीन विवाह हुए। तीसरी पत्नी का नाम बुद्धिमती था। उससे—ओर किसी-किसी के मतानुसार दूसरी पत्नी रत्नावली से—तारक नाम का एक पुत्र हुआ, जो अल्पायु में ही मर गया। पुत्र शोक तथा बुद्धिमती में कामासक्ति के कारण उसके द्वारा धिक्कारे जाने पर तुलसी को वैराग्य उत्पन्न हुआ।

(६) **वैराग्यकाल ओर मृत्यु**—वैराग्य आ जाने पर तुलसी अधिकतर काशी में रहे और तीर्थाटन भी करते रहे। अन्त में काशी मे उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु किस कारण से हुई, इस पर मतभेद है। डॉ० ग्रियर्सन तथा उनको मान्यता देने वाले कहते है कि वे काशी मे फैली हुई महाभयंकर 'महामारी' (प्लेग) से मरे और कोई कहते है, उनकी मृत्यु 'बरतोर मिस' से हुई।

(७) **रचनाएँ**—तुलसी की रचनाओं पर, विशेषकर रामचरित-मानस पर, विशद और विपुल विवेचन किया हुआ मिलता है, जिसका

यहाँ परिचय मात्र कराना आवश्यक है ; क्योंकि हमारे प्रस्तुत विषय के अनुसंधान का आधार हमें भी तो तुलसी की रचनाओं को बनाना होगा। तुलसी की रचनाओं मे निम्नलिखित ३१ ग्रन्थों के नाम बताये जाते हैं, जिनमें से प्रथम १० के विषय में कोई संदेह नहीं। ११ वें और १२ वें के विषय मे किंचित् संदेह है। शेष के विषय में पर्याप्त संदेह है। वे ये हैं--

(१) रामचरित मानस, (२) वैराग्य-संदीपिनी, (३) पार्वती मंगल, (४) जानकी मंगल, (५) रामाज्ञाप्रश्न, (६) दोहावली, (७) कवितावली (हनुमान बाहुक समेत),[३] (८) गीतावली, (९) कृष्णगीतावली, (१०) विनय-पत्रिका, (११) रामलला नहछू, (१२) बरवै-रामायण, (१३) सतसई (राम सतसई), (१४) संकट मोचन, (१५) छन्दावली, (१६) छप्पय रामायन, (१७) कड़रवा रामायन, (१८) रोला रामायन, (१९) झूला रामायन, (२०) कुंडलिया रामायन, (२१) हनुमान चालीसा, (२२) कलिधर्म निरूपण, (२३) रामलता, (२४) ज्ञान-दीपिका, (२५) विजय दोहावली, (२६) ध्रुव-प्रश्नावली, (२७) मंगल रामायन, (२८) अंकावली, (२९) बजरंग साठिका (३०) राम मुक्तावली, और (३१) गीता भाषा।[३] (अ)

---

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली भाग २ में 'हनुमान बाहुक' को 'कवितावली' के अन्तर्गत रखा है।

३. (अ) उपरोक्त ३१ ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ भी तुलसी की रचनाएँ कही जाती हैं, जिन पर हमारा ध्यान इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के पश्चात् गया है। उनके नाम ये हैं--(१) बजरंग वाण, (२) भरत मिलाप, (३) बृहस्पति काण्ड, (४) धर्मराय की गीता, (५) हनुमान स्तोत्र, (६) हनुमान पंचक, (७) पदबन्द रामायण, (८) रसभूषण, (९) साखी तुलसीदासजी की, (१०) संत भक्त उपदेश, (११) सूर्य पुराण,

तुलसी की साहित्य-कुशलता और साहित्य तथा मानव जीवन दोनों की दृष्टि से मानस के अनुपम ग्रन्थ होने में किसी को संदेह नहीं। उनकी कवितावली और विनयपत्रिका भी मानवता पर पर्याप्त प्रकाश डालने वाले अनूठे ग्रथ प्रायः सभी मानते है। दोहावली मानों धर्मतत्त्व और नीतितत्त्व का कोश ही है, और वैराग्य-संदीपिनी मे तो तुलसी ने स्वयं कहा है--"अखिल ज्ञान का सार है।" इसलिए जो तुलसी की यथार्थता को जानना चाहता है, वह यदि रामचरित-मानस के अतिरिक्त उक्त ग्रंथों का भी अध्ययन यथाविधि करे, तो बड़ा लाभ होगा।

रामचरितमानस की रचना तुलसीदासजी ही के कथनानुसार सं० १६३१ (संवत् सोलह सौ इकतीसा, कहों कथा हरिपद धरि शीसा) अर्थात्--सन् १५७५ में प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व तुलसी अन्य ग्रंथ लिख चुके थे, इसमें सदेह नहीं है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास' में रचना-काल-क्रम के अनुसार तुलसी के ग्रंथों का क्रम इस प्रकार दिया है--राम लला नहछू, वैराग्य-सदीपिनी, रामाज्ञा-प्रश्न, जानकी मंगल, रामचरित-मानस, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली।[3](ब) डा० बुल्के के क्रम के अनुसार

---

(१२) तुलसीदास जी की बानी, (१३) उपदेश दोहा, (१४) रामशलाका, (१५) बारहमासी, और (१६) ज्ञान परिकरण।

इस प्रकार इन्हें मिलाकर कुल योग ४७ हो जाता है। परन्तु यह न समझिए कि इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। मतभेद तो पर्याप्त है, किन्तु उससे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं

३.(ब) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने उसी ग्रन्थ 'तुलसीदास' के वर्तमान तृतीय संस्करण (सन् १९६३) में 'वैराग्य-संदीपिनी' को प्रामाणिक ग्रन्थों की कोटि से निकालकर अप्रामाणिक ग्रन्थों की कोटि में ला बैठाला है; किन्तु हम स्वतः उनके इस मत से सहमत नहीं हैं, जैसा हमने अन्यत्र लिखा है। यदि और जब आवश्यक संयोग मिल सकेंगे, तब हमारा यह मत अन्य विषयों के साथ यथाविधि किसी ग्रन्थ के रूप में प्रकाश में लाया जायेगा।

भी मानस की रचना रामाज्ञा-प्रश्न, जानकी-मंगल और गीतावली के बाद आती है। रामाज्ञा-प्रश्न का रचनाकाल रामाज्ञा-प्रश्न के ७ वें सर्ग के ७ वें सप्तक के तीसरे दोहे के आधार पर सं० १६२१ माना जाता है।[४] यदि रामाज्ञा-प्रश्न का रचनाकाल सं० १६२१ न भी हो, तो भी यह तो निश्चय है कि मानस की रचना के काफी समय के पहले से तुलसी की विचारधारा आदर्श मानवता की ओर झुक चुकी थी। और वह आदर्श मानवता उन्हें अपने पूर्व-कथित त्रिभावात्मक राम ही में दिखाई दे रही थी। रामचरित-मानस के

---

४. 'मानस की रामकथा' पृ० १४७; नोट—चूंकि हमें उक्त दोहे में ऐसा कोई विश्वसनीय आभास नहीं मिलता, इसलिए हम उस दोहे को पाठकों के विचारार्थ उद्धृत करते हैं—

सगुन तीन ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान।।

'क्रान्तिकारी तुलसी' के प्रथम संस्करण के पश्चात् एक दूसरे प्रसंग में हमें उक्त दोहे पर विशेष रूप से विचार करने का अवकाश आया। उस समय विदित हुआ कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उक्त दोहे में प्रयुक्त कुछ सांकेतिक शब्दों की गणना के आधार पर यह सं० १६२१ निरूपित किया है। प्रतीत होता है, 'मानस की रामकथा' के लेखक ने गुप्तजी के उक्त मत के आधार ही पर अपना मत दिया है। यदि यह सत्य हो, तो हमारी सम्मति में वह अग्राह्य है। गुप्तजी ने जो गणना दी है, उसके अनुसार सं० १३२१ होता है न कि सं० १६२१। मेरे मन में जब यह शंका उठी, तब मैंने गुप्तजी को उसके निवारणार्थ पत्र लिखा। उन्होंने उत्तर दिया कि छापे की भूल से 'गुण' के लिए ६ के स्थान में ३ छप गया है। इसलिए सं० १६२१ ही सही है। उक्त भूल नवीन संस्करण में सुधार दी जायगी; अतः अब नवीन संस्करण प्रकाशित होने ही पर इस संबंध में कुछ अधिक कहा जा सकेगा। फिर भी, दोहे की अन्य पहलुओं पर अभी कुछ न कह कर, इतना तो कह देना उचित ही होगा कि शास्त्रों में एवं सामान्यतः 'गुण' तीन ही माने जाते हैं, न कि छह।

बाद की रचनाओं में विनयपत्रिका, दोहावली और कवितावली के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ तुलसी की स्फुट रचनाओं के संग्रह-मात्र अथवा उनके ग्रन्थों में कहे गये कथनों के संकलन-मात्र प्रतीत होते हैं; तथापि तुलसी की जीवन-रेखा को खींचने के लिए उनका आश्रय लेना हमें अपरिहार्य-सा प्रतीत होता है।

दूषित अन्वेषण-पद्धति

तुलसी की रचनाओं के संबंध मे इस समय मुझे कुछ और अधिक नहीं कहना है, इसलिए उसे छोड़ देता हूँ। हमारी अल्प मति के अनुसार, तुलसी जीवन के अन्य उपर्युक्त अंगों के विषय में अनुसन्धायकों ने तुलसी के द्वारा कहे हुए शब्द-पदादि के आधार पर जो बहुत-से निदान--विशेषकर उनके बाल्यकाल और जीविका-निर्वाह के बारे में--निकाले हैं, वे सदोष और भ्रम-पूर्ण हैं, क्योंकि उनकी साधना अर्थात् अन्वेषण-पद्धति ही हमें सदोष मालूम होती है। हीरा-मोतियों की तोल जिस तरह शाक-भाजी-की तराजू से नही की जा सकती, उसी तरह महापुरुषों के वचनों की परख स्थूल-बहिर्दृष्टि से नहीं हो सकती। उसके लिये चाहिए गहराई मे धँसने वाली अन्तर्दृष्टि। प्राचीन कालीन भाष्यों या मीमांसाओं को पढिए, तो पता चलता है, कि उस समय हमारा अध्ययन विज्ञानमय अध्यात्म-प्रधान था, अर्थात् जब हम किसी महापुरुष के विषय मे अनुसन्धान करना चाहते थे, तो उसके प्राप्त-लेखों का विवेचन गहराई मे पैठकर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करते थे; परन्तु मनुष्य का स्वभाव है कि वह कालान्तर से प्रचलित यथार्थता में किसी-न-किसी प्रकार की कृत्रिमता को ला ठूँसता है। इस स्वभाव के कारण शिष्यों ने गुरु पर अथवा पूजकों ने पूज्य पर अटल श्रद्धा होने के कारण, या उनकी सम्मानित ख्याति बढाने के अभिप्राय से, उनके शब्दों और कृत्यों का विश्लेषण--आध्यात्मिक दृष्टि से न कर उनमें चमत्कार-आरोप (Mysticism) करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम इस प्रसंग पर भी व्यापक रूप से पड़ा है। तुलसी की जीवनी में तुलसी के कतिपय शिष्यों या भक्तों

ने कुछ ऐसी बातें लाद दीं कि उन्हें सुनकर विद्वान् लोग उन्हें निरी गप्पें कहते है, जैसे किसी प्रेत की सहायता से तुलसी को हनुमान और रामचन्द्र का दर्शन होना, उनके द्वारा लड़की का लड़का हो जाना एवं मरे हुए मुर्दे को पुन: जीवनदान करना तथा उनकी प्रार्थना करने पर कृष्ण-मूर्ति का राम-मूर्ति बन जाना, इत्यादि।

परन्तु तुलसी की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष बाद से, जब पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान तुलसी की ओर जाना प्रारम्भ हुआ, उक्त पद्धति में परिवर्तन होना शुरू हुआ।[५] इन विद्वानों ने चमत्कार-प्रिय लोगों के कथनों की उपेक्षा की और अपनी वास्तविक (Realistic) एवं सयुक्तिक (Rationalistic) कही जाने वाली पाश्चात्य आलोचनात्मक पद्धति का आश्रय लेकर तुलसी के जीवन का अध्ययन आरम्भ किया तथा उनके विषय मे कुछ निष्कर्ष निकाले। इसके उपरान्त जब भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी को मान्यता दी जाने लगी तब से हिन्दी के कुछ प्राध्यापको (Professors) और हिन्दी मे डाक्टरेट उपाधि-प्राप्ति के कुछ इच्छुक विद्यार्थियों ने भी उसी पाश्चात्य विधि का अनुसरण कर तुलसी-विषयक साहित्य को उन्नत करने मे योगदान किया है और सम्भवत: भविष्य मे भी करते रहेंगे। इसी तरह कुछ अन्य लेखको ने भी इसी पाश्चात्य पद्धति के आश्रित होकर तुलसी के जीवन-वृत्त तथा कृत्यो पर पाश्चात्य लेखकों के समान कुछ हेर-फेर से अपने विचार निर्धारित किये हैं। इस प्रकार से लिखे गये कुछ ग्रन्थ हमने देखे है। उन्हें देखने पर हमारी अपनी सम्मति तो यह है कि यद्यपि उक्त विद्वान् लेखक सैकड़ों पुस्तकों वा लेखों के अवतरणों के आधार पर अपने अथक परिश्रम के द्वारा निर्दिष्ट विषय की परिपुष्टि करने में सलग्न रहे हैं, तथापि तुलसी की जीवन-विषयक यथार्थता को वे भी नहीं

---

५. सं० १८८८ (सन् १८३२) में डा० विल्सन की पुस्तक A sketch of the religious Sects of the Hindus' प्रकाशित हुई। यही उसका आरम्भकाल कहा जा सकता है—देखिए 'मानस की रामकथा', पृ० ११।

पा सके । इसका मूल कारण हमे जो प्रतीत होता है, वह यही है कि इन्होंने पश्चिमी भौतिक दृष्टिकोण को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को, जो हमारी संस्कृति का परंपरागत प्रधान अंग है, भुला दिया है । पाश्चात्य विवेचनात्मक पद्धति का स्वीकार किया जाना लाभदायक हुआ है, इसमे सन्देह नहीं ; परन्तु आध्यात्मिक पद्धति के बिना वह पंगु और भ्रमोत्पादक ही रही है । वह एकागी होने के कारण हमें केवल वाह्य रूपों, नामों और अर्थो मे यहाँ तक उलझा कर रख लेती है कि हमारा ध्यान वास्तविकता की ओर जाता ही नहीं । इसका एक अत्यन्त बुरा परिणाम हमे यह दिखाई दे रहा है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले इन लेखकों ने भी तुलसी के कतिपय कथनों का यथेष्ट अर्थ न लगाकर उन्हें जनता की दृष्टि मे कुछ-का-कुछ बना दिया है, यहाँ तक कि श्री रजनीकान्त-जी तो अपनी पुस्तक 'मानस-मीमांसा' लिखते समय मानो बौखला कर तुलसी पर आ ही टूटे है ।

तुलसी के प्रति विद्वेष और दोष का प्रकाशन

यदि हमारा अनुमान गलत नहीं है, तो 'मीमांसा' शब्द के पूर्वकालीन प्रयोगों पर विचार करते हुए हमे प्रतीत होता है कि उसमें 'आलोचना' शब्द की अपेक्षा विशिष्टत्व (Technique) निहित है । हमारी समझ में मीमांसा उस शास्त्र को कहते है, जिसमें लोक के आधार तत्त्वों या नियमों के विवेचन करने वाले दर्शन-शास्त्रों की समालोचना हो । इस दृष्टि से आलो-चक की अपेक्षा, जिसका कार्य स्थूल भौतिक पदार्थो की विवेचना से सम्बन्धित रहता है, मीमांसक पर क्रोध और आवेश से परे, साहित्यिक-शिष्टता, विचार-साम्य, गंभीर अध्ययन तथा सम्पुष्टिकारक-तर्क निबाहने का उत्तर-दायित्व कई गुना अधिक रहता है, ताकि एक ओर तो आलोच्य विषय के प्रति अन्याय न हो, और दूसरी ओर जनता सन्मार्ग से च्युत न होने पाये; इसलिए हमें यह कहते अत्यन्त दुःख होता है कि 'मानस-मीमांसा' जैसे पवित्र नाम वाले ग्रन्थ में उसके लेखक अनेक उपाधिधारी होकर भी क्रोध और

आवेश में आकर शोचनीय निम्नस्तर के गहरे गड्ढे मे गिर पड़े है। यह कैसा शास्त्री, जो गुण-कर्म के अनुसार 'वर्णो' के द्योतक शास्त्रीय शब्दो 'द्विज' और 'शूद्र' का शास्त्रीय अर्थ न जाने और उनसे जन्मजात प्रचलित जाति-विशेषों का अर्थ समझ ले, जो यह न जाने कि 'विप्र' और 'ब्राह्मण' मे शास्त्रीय भेद है, अथवा जो यह न जाने कि तुलसी ने कुछ-न-कुछ भेद देखकर ही 'ब्राह्मण' को कहीं 'पूज्यादि' नहीं कहा है—विप्र को ही पूज्यादि कहा है। यदि इन महोदय ने इन शास्त्रीय शब्दों का शास्त्रीय अर्थ लगाया होता, अथवा यही समझा होता कि तुलसी ने शास्त्रज्ञ होने के कारण शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग शास्त्रीय अर्थो मे ही किया होगा, तो वे 'मानस-मीमांसा' के ५७ वें पृष्ठ पर उद्धरित तुलसी के कथनो मे आये हुए 'द्विज', 'शूद्र', 'विप्र', 'वरनाधम' शब्दों का अनर्गल अर्थ लगाकर तुलसी को ब्राह्मणो का पक्षपाती और शूद्रों का विरोधी न कह पाते, जिसके कारण क्रोध और आवेश मे आकर उन्होने अपना मानसिक सतुलन खोकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर तुलसी को 'पाखंडी', 'राग-द्वेष-कलुषित-हृदयवाला', 'हेय तथा घृणित चालबाजी वाला', 'जहरीले दो मुँहे साँप की तरह वाला' आदि-आदि सैकड़ों घृणित गालियाँ देने की धृष्टता न की होती। इनके केवल दो ही दृष्टान्त उसी स्थान के लीजिए, जहाँ उन्होने तुलसी का अवैध (नाजायज) सन्तान होना तथा उस कारण से माता-पिता के द्वारा फेंका जाना सिद्ध करने के हेतु अपनी सारी बुद्धि खर्च कर दी है। पृष्ठ ९ पर आप कहते हैं कि "गोसाईंजी के माता-पिता-सदृश महादरिद्र भिखमंगों के घर बच्चे उत्पन्न होने पर अर्थाभाव के कारण ज्योतिषी नहीं बुलाये जाते", और पृष्ठ ११ पर आपने कहा है कि "हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता पुत्र का जन्म होने पर आर्थिक स्थिति के अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य बधावा बजाते हैं।" यहाँ 'बधावा बजाना' और 'ज्योतिषी बुलाना' की प्रधानता नहीं है, बल्कि दरिद्र-से-दरिद्र माता-पिता की हर्ष-प्रदर्शन करने की प्रधानता है। दूसरा दृष्टान्त इतना प्रबल है कि वह उनकी अवैध सन्तान वाली थ्योरी को अपने-आप धड़ाम से गिरा कर

फेंक देता है। एक ओर तो पृष्ठ ४ पर आप कहते है कि 'गोसाईंजी के पैदा होते ही आपके माता-पिता ने अति ही निष्ठुरता के साथ आपका परित्याग कर दिया था' और दूसरी ओर उसी प्रसंग में पृष्ठ ६ पर उक्त पक्ष-समर्थन के हेतु आप 'विनय-पत्रिका' के २७२ वें भजन का यह अंश उद्घृत करते हैं और आपही स्वयं उसका अर्थ भी देते हैं——

"(घ) अगुण अलायक आलसी जानि अधन अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा कैसो टोटक औचट उलटि न हेरो ॥२७२॥"

अर्थ——"मुझे गुणहीन, नालायक, आलसी और पापी जानकर अपने मतलब के साथी माता-पिता ने तिजारी के टोटके की तरह तज दिया और भूलकर भी मेरी ओर नहीं ताका।"

इसमें 'गुणहीन' आदि शब्दों, विशेषकर 'आलसी' शब्द के आने से कोई भी मूर्ख यह कह सकता है कि तुलसी का त्याग 'पैदा होते ही' अथवा 'सद्योजात अवस्था' में नहीं किया गया। बहुधा देखा जाता है कि किसी-किसी को रुचि बाल्यकाल से ही भजनीकों, सन्तों आदि मे बैठने-उठने तथा भक्ति की ओर रहती है; इसलिए ऐसे बालक का मन घर के किसी काम-काज में नहीं लगता। तब उसके माता-पिता, विशेष कर वे, जिनका उदर-निर्वाह निजी परिश्रम पर निर्भर रहता है, उससे नाराज रहने लगते हैं और उसे नालायक, आलसी, पापी आदि कहते हुए कभी-कभी ठोकने-पीटने भी लगते हैं। इस तरह धीरे-धीरे मामला यहाँ तक बढ जाता है कि या तो बालक स्वयं तंग आकर अपने माँ-बाप को छोड़ कही बाहर भाग जाता है, या माँ-बाप निकम्मा या भार समझ उसे भगा देते है। यह भी देखने में आता है कि ऐसा होनहार बालक सन्त-हृदय महात्माओं को प्रिय लगता है; इसलिए कभी वे गरीब माता-पिता की अनुमति से, या कभी उसके माता-पिता के द्वारा त्यागे जाने पर, अपने-आप उसे अपने संरक्षण में लेकर उसका पालन-पोषण या शिक्षण आदि करने लगते है। जो लोग वैरागी सम्प्रदाय वाले महन्तों या मठाधीशों आदि की गुरु-शिष्य-परंपरा को जानते हैं, उन्हें विदित होगा कि कई बालक इसी प्रकार से शिष्य बनाये

हुए रहते हैं। इसलिए, यदि तुलसी का उक्त कथन उन्हीं के व्यक्तित्व का ही परिचायक मान लिया जाय, तो इतना तो निश्चय ही मानना पड़ेगा कि तुलसी के माता-पिता ने उनको लगभग ८-१० वर्ष की अवस्था के पहले नहीं त्यागा होगा ; क्योंकि उसके पूर्व वह कोई टहल करने योग्य ही नहीं हुआ होगा कि जिससे वे उसे आलसी समझने लगे होंगे। अतः रजनीकान्तजी स्वयं अपने हाथ से अपने 'अवैध सन्तान' तथा 'सद्योजातावस्था' वाले सिद्धान्त की हत्या कर डालते हैं, जिसकी सिद्धि के लिये उन्होंने बिना किसी प्रमाण के 'कवितावली' के ७३ वें छन्द के प्रथम पद के पूर्वार्द्ध 'बधावनो बजायो सुनि' के स्थान में उसे अस्वाभाविक और ऊटपटांग कहकर 'बधावो न बजायो सुनि' का पाठान्तर तक कर डाला है। यदि रजनीकान्तजी का कोई समर्थक यह कहे कि उन्होने 'स्वारथ के साथिन' का अर्थ 'माता-पिता' अनभिज्ञता-वश या मूर्खता-वश लगा कर उक्त अंश को तुलसी के जीवन पर घटाने मे भूल की है, तो हम भी नम्र शब्दों में कह कहते हैं कि उन्होंने 'मातु-पिता जगजाय तज्यो'[६] और 'जननी जनक तज्यो जनमि'[७] का अर्थ 'पैदा होते ही' करने में अपनी अनभिज्ञता या मूर्खता ही प्रकट की है। उनका सीधा-सादा अर्थ इतना ही है कि 'माता-ने जन्म देकर तज दिया', जो सब जीवधारियों के लिए सर्वत्र सदा एक-सा नियम है। 'तज्यो' से 'वियोग' का ही अभिप्राय है। इसी तरह कविता-वली और विनयपत्रिका में दिए हुए तुलसी के कथनो के जितने उद्धरण अपने पक्ष-समर्थन के हेतु रजनीकान्तजी ने दिये है, उनमे से किसी से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि तुलसी का त्याग 'पैदा होते ही' हुआ।

---

६. कवितावली, उ० कां० ५७, जो 'मानस-मीमांसा' के चौथे पृष्ठ पर उद्धृत है।

७. विनय-पत्रिका, भजन २२७, जो 'मानस-मीमांसा' के चौथे पृष्ठ पर उद्धृत है।

इसमें हम केवल रजनीकान्तजी ही को दोषी नहीं कहते। दोष तो प्रारम्भ हो चुका था, उनके पूर्व के लेखकों मे भी। चूँकि रजनीकान्तजी ने अपने पूर्व के लेखकों की ही पद्धति का आश्रय लिया है, इसलिए उस दृष्टि से वे निर्दोष कहे जाने के निस्सन्देह अधिकारी है; परन्तु उनका दोष इसलिये हो गया है कि वे दूषित मनोवृत्ति के वशीभूत होकर चल पड़े। यह मनोवृत्ति क्यों उठी? इसलिए कि उन्होंने अज्ञानतावश तुलसी को ब्राह्मणों का पक्षपाती और शूद्रों का विरोधी होने का अपराधी मान लिया है।

'जन्मते ही फेंक देने' की बात तो उनके पूर्व के लेखक कह ही चुके थे, केवल 'अवैध' कहने की बात रह गई थी, सो रजनीकान्तजी ने पूरी कर दी। लाला भगवानदीन 'दीन' और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की सटीक कवितावली के सं० १९८८ वाले द्वितीय संस्करण (प्रकाशक---साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी) में उक्त 'मातु पिता जग जाय तज्यो' में आये हुए 'जाय' शब्द का अर्थ पृष्ठ १५१ पर लिखा है---'जन्म देकर', और 'पैदा होते-होते ही'। इससे विदित होता है लि 'जाय' का अर्थ साधारणतया 'जन्म देकर' ही होता है। परन्तु पूर्व सम्मतियों का अभिप्राय सम्भवतः 'जन्मते ही' से रहा है। इसलिए अनुमानतः उक्त टीकाकारों ने उस अभिप्राय के प्रदर्शनार्थ 'पैदा होते-होते ही' यह दूसरा अर्थ भी दे दिया है। तभी तो उन्होने ६४ वें पृष्ठ पर यह कहा है कि "यहाँ पर कुछ अंश उद्धृत करके अब अन्य ग्रन्थों और जीवनी-लेखकों के कथित वृत्तान्तो द्वारा कवि की एक छोटी-सी जीवनी भी हम देंगे। तुलसीदास को जन्मते ही माता-पिता का वियोग सहना पड़ा था। .....कुछ लोग कहते है कि अभुक्त-मूल-नक्षत्र में जन्म लेने के कारण तुलसी को उनके माता-पिता ने फेंक दिया था।" इससे सिद्ध होता है कि 'जन्मते ही फेक दिया था' यह विचार रजनीकान्तजी के पहले से मौजूद था। उन्होने तो केवल अभुक्त-मूल-थ्योरी का खण्डन कर उसके स्थान में 'अवैधपन' की थ्योरी को प्रस्तुत किया है। 'जन्मते ही वियोग' का भाव आया कि स्वभावतः अन्य प्रश्न उठ खड़े हुए, जैसे जाति-कुल और

जीवन-निर्वाह के। अतः 'जायो कुल मंगन' (क० व० उ० कां० ७३), 'मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति' (क० व० उ० कां० १०७), तथा 'लोक कहे पोचु सो न सोचु न संकोच, मेरे ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं' (वि० प० ७६) आदि को देखकर यह आवाज भी उठ बैठी कि तुलसी की जाति का कोई ठिकाना नहीं; और जब जाति का ठिकाना नहीं, तो कुल कैसे मालूम हो? इसलिए उसे मंगनादल का ठहरा दिया और फिर चले ढूँढने गुजर-बसर के मसले को। तुलसी के इन कथनों में—'कूकर टूकन लागि ललाई' (क० व० उ० कां० ५७), 'पेटागिबस खाए टूक सब के' (क० व० उ० का० ७२), 'बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन' (क० व० उ० कां० ७३), 'चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो' (वि० प० २२६) तथा ऐसे कुछ अन्य वचनों से यह निश्चय कर लिया, मेरे इन दोस्तों ने, कि तुलसी दर-दर पर गली-गली में कुत्ते के समान जूठन खाकर पेट पालता रहा, और 'मलीन कथरी वा करवा' (क० व० उ० कां० ५६) रखे हुए 'मसीत को सोइबो' (क० व० उ० कां० १०६) अर्थात् बिना घर-द्वार का होने के कारण मसजिद मे सोकर समय काटता रहा। फिर कुछ दिनों के बाद उसे गुरु नरहरिदास उठाकर ले गये; परन्तु रजनीकान्तजी को भला इतने से कैसे चैन! उन्होंने फिर एक नयी बात निकाली और कहा कि युक्त प्रदेश मे एक अथीथ नाम की मंगनू जाति है, जो गोसाईं कहलाती है, इसलिये "हो न हो आपका पालक गोसाई वर्ग का कोई अथीथ मंगन था, जो कहीं पर फेंके हुए आपको..... (अपने) घर उठा लाया और पाला-पोसा।"[८] इसी कारण से, उनके निदानानुसार तुलसी ने अपना कुल 'मंगन' कहा है और उपाधि 'गोसाई' की धारण की है। इसके पश्चात् आपने तुलसी के विवाह तथा सन्तान वाले निष्कर्ष को भी गलत बताया है; क्योंकि उनके मतानुसार ऐसे बे-घरबार के भिखमंगे को कौन पुत्री देता!

---

८. मानस-मीमांसा, पृ० २६।

प्रचलित अनुसन्धानों की निरर्थकता

आश्चर्य होता है कि इन विद्वान् अन्वेषकों ने तुलसी की जाति-पाँति खान-पान, विवाह-सन्तान आदि की खोज में ही लगभग ३०० वर्ष व्यर्थ नष्ट कर दिये ; क्योंकि मानवता की जाँच के लिए वे प्राय: निरर्थक ही रहते हैं। किसी ने इस पर लक्ष्य रखकर अन्वेषण नहीं किया कि तुलसी नें अपने आदर्श 'सियाराम मय सकल जगत्' के पूजनार्थ क्या उपाय किये और 'साहिब सीतानाथ से सेवक तुलसीदास' कहकर इस जगत्रूप राम की क्या और किस प्रकार सेवाएँ कीं। जितनी माथा-पच्ची उपर्युक्त विषयों के निर्णयार्थ की गई है, उतनी कहीं तुलसी की समाज-सेवा के अन्वेषणार्थ की जाती, तो हमारा विश्वास है, तुलसी अपने काल का एक महाक्रान्तिकारी पुरुष पाया जाता। कुछ लोगों ने उसे धर्म-संशोधक (Religions reformer) ही कहकर छोड़ दिया है; और धर्म से उनका अभिप्राय रहा है केवल 'हिन्दू-साम्प्रदायिकता' अथवा 'हिन्दू वर्णाश्रम-व्यवस्था' से। फिर, जिन विषयों के सम्बन्ध में मस्तिष्क लगाया गया, वही यदि शुद्ध विधि से लगाया जाता, तो भी मानव-सेवा की कुछ-न-कुछ रश्मियाँ अवश्य दिखाई देने लगतीं।

अनुसन्धानों की त्रुटियों के मूल कारण

तुलसी के शब्दों का अर्थ करते समय यदि यह ध्यान रखा जाता कि (१) तुलसी ४३ वर्ष की अवस्था में ही, जब कि उन्होंने मानस-जैसे धर्म और नीति-प्रधान अद्वितीय ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ कर दी थी, जीवन के उच्चत्तम तात्त्विक स्तर पर विचरने वाले तथा भक्ति-पक्ष के कट्टर समर्थक हो गये थे, (२) मानस के बाद वे ९१ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। इसी शेष अवस्था मे, संभवत: चौथेपन में उन्होंने विनय-पत्रिका और कवितावली की रचनाएँ कीं जैसा कि **'जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो'** (क० व० उ० कां० ३१) से स्पष्ट होता है; इसलिए उनमें उस समय मानव-समता सम्बन्धी प्रौढ़ता और आत्म-गाम्भीर्य की अधिकता का हो जाना स्वाभाविक था, (३) कवितावली का उत्तर काण्ड, जिसमें से तुलसी की शारीरिक

दिनचर्या के निदान निकाले गये है, उसी प्रकार ज्ञान-प्रधान है, जैसा रामचरित-मानस का उत्तरकांड, (४) संन्यास-आश्रम अथवा वैराग्य-काल में हर संन्यासी या वैरागी का, शास्त्रीय नियमानुसार, कर्तव्य ही यह हो जाता है कि वह ममता को त्याग कर समता में रत हो जाय और व्यक्तिगत बातों को छोड़ सार्वजनिक कार्यों में लग जाय। यद्यपि यह शास्त्रीय नियम बहुत कम लोग पूर्णतः पालन करते हैं, तथापि यह तो देखा ही जाता है कि एक नहीं, अनेक सन्यासी, वैरागी अथवा साधु-सन्त अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों को प्रकट नहीं करते। इसके दो कारण होते हैं—एक तो शास्त्रीय सिद्धान्त ही यह बताता है कि संन्यासी या वैरागी के सम्मुख सब एक समान हो जाते हैं, और दूसरे इस तरह सम्बन्धों को गुप्त रखने से मोहात्मक मेल-जोल मिट जाता है, (५) जब अन्य संन्यासी, वैरागी या साधु-सन्त अपने व्यक्तित्व तथा ममत्व की चर्चा नहीं करते, तब तुलसी-जैसे महान् वैरागी या सन्त से, जो बाल्यकाल से ही गुरु के निकट और सत्संगति में रहकर 'ममता तजि कै, समता सजि, संत-सभा' (क० व० उ० कां० ३०) का सेवी होने में रच-पच गया था, यह आशा करना कि जीवन के अन्तिम समय वह अपनी पूर्व कालीन शारीरिक जीवनी के विषय में रोता बैठेगा, वैसा ही होगा, जैसे स्वच्छ-निर्मल आकाश से पानी की बूँदों का टपकना तथा (६) विनयपत्रिका और कवितावली के उत्तरकाण्ड का प्रसंग यह नहीं है कि एक शरीरधारी मनुष्य दूसरे शरीरधारी मनुष्यों को अपने दुःख-सुख की कथा सुनाता हो। वह प्रसंग है, जीव का ईश्वर से विलग होने पर तड़फड़ाना और उससे फिर मेल करके तदनुकूल सुख की प्रतीक्षा करना—वह प्रसंग है, आत्म-चिन्तन या आत्म-निरीक्षण (Self-introspection) का।

यदि इन बातों पर ध्यान रखा जाता, तो तुलसी के कथनों का इतना ओछा अर्थ लगाने में शक्ति व्यर्थ न खोई जाती। तात्पर्य यह कि कौन किस स्तर से बोल रहा है, किससे बोल रहा है, कब बोल रहा है और किस प्रसंग में बोल रहा है, इन चार आवश्यक बातों में से किसी एक पर भी यथार्थ ध्यान नहीं रखा गया।

तुलसी की विचार-धारा का प्रकाशन

तुलसी की विचार-धारा कैसी चली है, उसे जानने के हेतु थोड़ी देर को एक समुद्र के पास पहुँच जाइये। उसके जल का प्रत्येक कण उसके पूर्ण सुख का अनुभव कर रहा है। ग्रीष्म काल आया और सूर्य-रश्मियो के सग के लोभ में कुछ कण अभिमान (अहंकार) वश उससे विलग हो जाते है, और हवा के झकोरे आदि नाना प्रकार की यातनाएँ सहते हुए ऊँचे आकाश की ओर भागते हैं। तत्पश्चात् उन्हें नीचे गिरना पड़ता है। फिर कभी मैल में लिपटकर, कभी पहाड़-पत्थर से टकराकर, कभी कन्दरा-खोह में धँसकर, कभी इस तालाब की, कभी उस नद-नदी की शरण मे जाकर उस पूर्ण सुख को प्राप्त करने के हेतु छटपटाते हुए इधर-उधर मारे-मारे भटकते फिरते है। जब वह सुख नहीं मिलता, तब उसकी याद करके अपनी पिछली मूर्खता से उत्पन्न अहंकार वाली बात पर रोते है, कभी मारे-मारे फिरने पर पाश्चात्ताप करते है, कभी इसकी शरण जाते है, तो कभी उसकी ; परन्तु जब सब की ओर से निराशा मिलती है, तब उसी अपने पूर्व स्वामी का चिन्तन करते हुए उसी की ओर उस समय तक भागते रहते हैं, जब तब कि उसी मे फिर से लीन नहीं हो जाते। बस, जीव की इसी भावना को तुलसी ने विनयपत्रिका और कविता-वली के उत्तरकांड मे व्यक्त किया है। तुलसी की भक्ति विज्ञानमय है, यह हम पहले देख चुके हैं। हर विज्ञानी का ध्यान भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर रहता है। तुलसी सर्वसाधारण जीव के रूप मे इन्हीं तीनों कालों पर विचार प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं। जीव गहरी मुद्रा मे होकर वही विचारता है, जैसा भारत-भारती मे स्व० श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।'

जीव पहले कण या अंश रूप से ईश्वर में लीन था ; इसलिए वह स्व-भावतः पूर्ण सुखी था—'ईश्वर अस जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी' (मा० उ० का० ११६ (ख) । २)। वही फिर अविद्या अथवा माया के वश में होकर अहंकारी अथवा अभिमानी हो जाता है—'माया वस्य जीव अभिमानी' (मा० उ० का० ७७ (ख) । ६) । पराधीन हुआ कि

वह सारा सुख खो चुका—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' (मा० बा० का० १०१।५), क्योंकि मायारूप मदारी उसे बन्दर के समान विषयरूपी रस्सी से बाँधकर मन चाहे तहाँ भटकाने लगा—'सो माया बस भयउ गोसाईं, बध्यो कीर मरकट की नाईं' (मा० उ० का० ११६ (ख) ।३)। इस तरह माता के गर्भ मे पहुँचते ही अनेक प्रकार की यातनाएँ शुरू हो गईं। अन्त में शरीररूपी घर की जरजराहट मालूम पड़ने लगी, अर्थात् बुढापा शुरू हो गया और मृत्युरूपी महाभय दिखाई देने लगा। परन्तु, स्वभाव-वश पुरानी लतों में फिर भी कोई शिथिलता नहीं आई। यह जगत् के सभी जीवों का दुःख-क्रम होता है, न कि केवल तुलसी का। हर एक बुड़ापे के चिह्न आने पर अपने पहले कृत्यों पर पश्चात्ताप करता और धिक्कारता है। यही आत्माभिमानी तुलसी तीसरे स्तर से दूसरे स्तर वाले जीवाभिमानी से अपने-आप (Soliloquy) कहता है कि अरे मूर्ख जीव! तेरी तरुणाईरूपी निशा, जिसमें तू ममता आदि विषयों में फँसा रहा है, निकल गई, और मृत्युरूपी महाभय के साथ बुढापा-काल ऐसा आ गया, मानो अब सूर्य का उदय हो गया, फिर भी तू जागता नहीं है (देखो क० व० उ० कां० ३१) इसी छन्द की अन्तिम पंक्ति यह है—'जरठाइ दिसा रवि काल उग्यो, **अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे**।' जीव का मूल दोष है, उसका 'अहं' अर्थात् 'मैं पन'। इस 'मैं पन' के साथ ही इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। जहाँ इच्छाएँ हैं, वहाँ 'तृष्णा' है। जहाँ 'तृष्णा' है, वहीं सब प्रकार के पाप-दोष उठने लगते हैं। जीव की इस तृष्णायुक्त कुवृत्ति को देखकर तुलसी ने उसे बार-बार 'कूकर' और 'मंगना' कहा है। इन्हीं शब्दों के प्रयोग ने उपर्युक्त अन्वेषकों को भ्रम में डाल दिया है, जिससे उन्होंने जीव-परक अर्थात् मानव-जातिवाचक कथनों को व्यक्ति-वाचक, तुलसी-परक समझ लिया है। कूकर की आदत है कि वह द्वार-द्वार पर टुकड़ा पाने के लिए पहुँच जाता है। जहाँ किसी ने कुछ दे दिया या पुचकारा, तो पूँछ हिलाकर उसके पैरों पर लेटने लगता है, और और कूँ-कूँ करके सैकड़ों प्रकार से उसे रिझाने लगता है। इसके विपरीत जरा-सी डाँट-डपट की कि, फौरन भयभीत होकर भाग उठता है। गरज़

यह कि, उसकी टुकड़खोर वृत्ति नीच रहती है और उसी वृत्ति के कारण जहाँ देखो वहाँ उसको निरादर सहना पड़ता है तथा भयभीत भी रहना पड़ता है। ठीक यही हाल उस मनुष्य का होता है, जो भाग कर पेट भरता है—मान का तो उसे लेशमात्र कोई खयाल नहीं रहता और चिन्ता भी यह बनी रहती है कि कुछ मिलेगा या नहीं। तथा भय इतना रहता है कि किसी ने दुतकारा कि भागा। अब हर जीव की—हर जीवधारी मनुष्य की—भी दशा देखिए, ठीक वैसी ही है, जैसी कूकर या मंगन की होती है। जिस प्रकार कूकर और मंगन को माँगे बिना चैन नहीं मिलता, उसी प्रकार जीव जब से उत्पन्न होता है, तभी से रो-रो कर माँगना शुरू कर देता है; पहले माता से और फिर जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे उसके माँगने का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। तात्पर्य यह है कि उसे किसी-न-किसी पदार्थ को प्राप्त करने की लौ लगी ही रहती है, और उस हेतु वह, न केवल अन्य जीवधारियों से, जिनमें मनुष्य की भी गणना आ जाती है, बल्कि पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन या मौखिक प्रार्थनाओं आदि के द्वारा प्रेत-पितरों तथा देव-देवियों आदि सभी से कुत्ते-जैसी पूँछ हिलाता या कूँ-कूँ करता हुआ, अथवा मंगन जैसे दाँत काढकर हा-हा (काढ़त दत करंत हहा है) करता हुआ याचनाएँ करता फिरता है। इच्छा पूरी होगी या नहीं, इसका उसे भय बना रहता है। पूरी नहीं हुई, तो मुँह नीचा कर लेता है, और फिर भी जब जैसा अवसर आता है, तब वैसा पुनः वहीं दौड़ा जाता है। तुलसी के कहने का सार केवल इतना ही है कि हर जीव जब से माया अथवा अविद्या के वश में होकर अभिमानी हुआ, तब से वह अपने स्वामी को भूल जाता है, जो सर्वसमर्थ है, और इधर-उधर उन लोगों तथा देव-देवियों के पास भटकता-फिरता है, जिनका कर्ता-धर्ता उसी स्वामी के अतिरिक्त अन्य और कोई नही। इसलिए, तुलसी कवितावली, उत्तरकाण्ड के २६वें छन्द में कहते हैं कि अरे, मूर्ख जीव! उस एक ही को क्यों नही भजता, जिसकी दृष्टि-मात्र से, मनुष्य की कौन कहे, सारे देवता तथा लोकपाल निहाल हो जाते हैं और जिसके साथ वही लक्ष्मी, जो अपने चंचलतारूपी जाल में

फँसाकर सारे संसार को छकाती रहती है, कलायुक्त बनकर उन्हें प्रसन्न रखने में लगी रहती है। ऐसे समर्थ प्रभु का जन होकर उन्हें छोड़। तुलसी कहते हैं—हे जड़ जीव! तुझे लाज नही आती कि इधर-उधर कूकर के समान कौरा (टुकड़ा) माँगता फिरता है, तेरी जीभ क्यों नहीं जल जाती—'ताको कहाय, कहै 'तुलसी' तू लजाहि न, माँगत कूकर कौरहि' (क० व० उ० कां०, २६) । इसलिए हे मूर्ख जीव ! जब तू यह देख चुका कि जो स्वयं तेरे स्वामी का दिया खाते है, उनकी जूठी पातरों के चाटते रहने पर भी तेरा पेट नही भर पाया, अर्थात् तृष्णा पूरी नही हो सकी—'चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो' (वि० प० २२६) तो अब भी मान, उसी की शरण पकड़ ले और लोभी कुत्ते के समान मत भटक—'जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यो' (क० व० उ० कां० ३०) । क्या कोई कह सकता है कि तुलसी ने इन तथा इसी प्रकार के अन्य कथनों में, जिनका विस्तार-भय और पुनरुक्ति-दोष के कारण यहाँ उल्लेख करना निरर्थक है, जगत् के सर्वजीवधारियों का सर्वसाधारण नियम (General Universal Law) निहित नहीं किया ? कौन मनुष्य है, जो इससे बचने का दावा कर सकता है? आप किसी के पास चले जाइये, चाहे वह निर्धन हो या धनी, तो उसे आप यही कहते पायेंगे कि भाई क्या करें, पेट-पापी नहीं मानता, इसी के लिए यह सब कुछ करना पड़ता है। ऐसा वह कहे अथवा न कहे, पर करता तो वह यही रहता है। सम्पत्ति-सम्पन्नता के हेतु रात-दिन व्यस्त रहने वाले एक लखपति को एक दिन पेट ठोककर यह कहते हुए कि पेट-पापी के लिए सब कुछ करना पड़ता है, मुझे हँसी आई और मन में कहने लगा कि वाह रे समय ! गरीब पेट ठोके और धनवान भी पेट ठोके !! पेट बेचारा क्या हो गया, मानो अतृप्त अग्निकुंड ! इसलिए जहाँ तुलसी 'मंगन' आदि की चर्चा करते हैं, वहाँ प्रत्यक्ष भिक्षा से अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। उसे तृष्णा, लोभ आदि का प्रतीक जानना चाहिए। इसी सर्वत्र-व्याप्त तृष्णा को दर्शाने के लिए तुलसी ने यत्र-तत्र 'पेटाग्नि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, न कि तुलसी से उस प्रकार के व्यक्तिगत

भीख माँगने को, जैसा कि अभी तक के अनुसन्धायक करते चले आ रहे हैं। उदाहरण-स्वरूप यह देखिए—

"जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागिबस,
खाये टूक सब के, विदित बात दुनी सो।
मानस वचन काम, किये पाप सति भाय,
राम को कहाय दास, दगाबाज पुनी सो।"

(क० व० उ० कां०, ७२)

अथवा—

"ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की।"

(क० व० उ० कां०, ९६)

भाव-प्रदर्शनार्थ दृष्टांत-स्वरूप एक छन्द का विवेचन

तुलसी के कथनों में जहाँ देखो वहाँ राम, जीव, परिणाम, पश्चात्ताप तथा विश्वास (आशा) का विशद विवेचन मिलता है। इसी भाव का प्रदर्शन आपको कवितावली, उत्तरकांड के ७३वें छन्द में भी मिलता है, जिसमें 'जायोकुल मंगन' देखकर रजनीकान्तजी-जैसे अनुसन्धानकर्ता मारे खुशी के उचक पड़े, मानो किसी न्यूटन ने तुलसी को गिराने के लिए गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का अन्वेषण कर डाला हो। चूँकि रजनीकान्तजी के शब्दों में "तुलसी,विषयक यह अति ही प्रसिद्ध छन्द है," और चूँकि उन्होंने कहा है कि "पाठकगण इसको विशेष रूप से नोट कर लें, कारण कि इससे गोसाईंजी के कुलादि तथा माता-पिता के आचरण पर प्रकाश पड़ता है" इसलिए अब हम केवल उसी को पूरा-पूरा लेकर पाठकों को बताएँगे

कि इस प्रकार के लोग तुलसी के पवित्र विचारों पर दुर्बुद्धि की कीचड़ लपेट घोर अन्याय कर रहे है। वह छन्द यह है—

> "जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
> भयो परिताप पाप जननी-जनक को।
> बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
> जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।।
> 'तुलसी' सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
> सुनत सिहात सोच विधिहू गनक को।
> नाम, राम रावरो सयानो किधौं बावरो,
> जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को।।"

अर्थ जो रजनीकान्तजी ने दिया है—

"मैने भिखमंगों के कुल में जन्म लिया। मेरा जन्म सुनकर बधावा नहीं बजाया गया (यहाँ पर पाठक ध्यान रखें कि रजनीकान्तजी ने 'बधावनो बजायो सुनि' के स्थान में 'बधावो न बजायो सुनि' पाठ कर लिया है, जिसके विषय में अभी पहले बताया जा चुका है)। मेरे माता-पिता को अपने पाप (कुकर्म) का परिताप (पछताना) हुआ। मैं बचपन से ही भूख से व्याकुल होकर दरिद्रता के कारण अन्न के लिए लालायित रहता और घर-घर रोता फिरता था। कहीं चने के चार दाने भी मिल गये, तो मुझे चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) पा जाने की खुशी होती थी। ब्रह्मा-ज्योतिषी ने जब सुना कि तुलसीदास-जैसा दीन-हीन पापी भी समर्थ स्वामी (रामचन्द्र) का एक अच्छा सेवक बन गया, तो उसको तुलसीदास विषयक अपने फलादेश को झूठा होते देखकर आश्चर्य और शक हो गया। हे राम ! नहीं मालूम होता कि आपका नाम समझदार है कि पागल, जो वह तृण से भी हल्के पदार्थ को पहाड़ से भी भारी बना देता है; अर्थात् महापतितो को भी पूज्य बना देता है।"[१]

---

१. मानस-मीमांसा, पृ० ७।

इस कवित्त का प्राण है वही राम-नाम, जिसके विषय में तुलसी की चातक रटन वाली उक्ति प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य है, कर्म और ज्ञान-मार्गियों के लिए राम-नाम वाले भक्ति-पक्ष की श्रेष्ठता बताना। इसकी विधि है आत्म-निरीक्षण (Self-introspection) करते हुए आत्म-चिन्तन करना। इसका वक्ता तुलसी और श्रोता भी तुलसी है—अन्त-निरीक्षण चल रहा है; एक ओर जीवात्मा की हीनता है, और दूसरी ओर उस हीनता को मिटा देने वाले परमात्मा राम की समर्थता है। इसके अन्तर्गत निम्न सिद्धान्तों का रहस्य है, जिनके जाने बिना अर्थ नहीं समझा जा सकता। इसलिए, उनका कुछ विस्तृत विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे उनकी सहायता से तुलसी के अन्यान्य कथनों को भी समझने में सुगमता हो।

(१) **जायो कुल मंगन**—इसमें जीव के पुनर्जन्म का सिद्धान्त है! जब से जीव अहंकारी होकर सुखराशि भगवान् से अलग हुआ, तब से सुखाकांक्षा से प्रेरित हो, वह अपने ज्ञान तथा कर्मों के बूते पर मारा-मारा फिरता है। यह देखकर, जरठावस्था आने पर तुलसी सोचते हैं कि अरे, जड़ जीव! अब भी नहीं जागता (क० व० उ० कां० ३१)। देख तो, तू कितनी योनियों में जन्मा और सुख-लाभ के लिए कितने असख्य कर्म किये, पर क्या तेरे हृदय की प्यास कभी बुझी? वह तो ताप से जलता ही रहा—"जन्म्यो जेहि जोनि अनेक क्रिया सुखलागि करी, न परै बरनी। जननी जनकादि हितू भए भूरि बहोरि भई उर की जरनी।" (क० व० उ० कां० ३२)। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि तू अखंडात्मा का त्याग कर स्वाभिमानी बन खंडात्मा हो गया है और जिस अहंकार का तूने संग पकड़ा है, वह 'मंगना' है, अर्थात् उसकी मृग-तृष्णा कभी बुझती नहीं। अविद्या का संग पकड़ने से तेरा एक बड़ा प्रबल कुनबा हो गया है—"प्रबल अविद्याकर परिवारा (मा० उ० कां० ११७घ। ३)। इस परिवार में तत्वज्ञानी प्रधानतः अहंकार, मन, बुद्धि और चित्त की गणना करते हैं। इसी चतुष्टय को वे सूक्ष्म देह या लिंग शरीर भी कहते है—लिंग, अर्थात्

चिह्न-मात्र। हिन्दू-दर्शन के अनुसार यही लिंग-शरीर जन्मता-मरता है, न कि जीव। जीव तो अपने पूर्व स्वरूप ईश्वर के समान अपरिवर्तनीय है। चूँकि उसने अविद्यावश लिंग-शरीर का साथ पकड़ लिया है; इसलिए उसके जन्म-मरणादि गुण-अवगुणों का आरोप जीव पर ही अज्ञानवश किया जाता है। उदाहरण-स्वरूप—यदि निर्दोष 'क' चिरकाल या अल्पकाल से 'ख' और 'ग' चोरों की संगति में पाया जाय, तो चोरी पकड़ी जाने पर 'ख' और 'ग' के साथ निर्दोष 'क' को भी दण्ड मिलता है। इस तरह जब तक अहंकार का पूर्ण त्याग कर मुक्तावस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक कर्म-फलों के अनुसार जीव का इस लिंग-शरीर के साथ-साथ बार-बार अनेक योनियों में जाना-आना नहीं रुक सकता। यही कारण है कि तुलसी ने जीव का 'मंगन कुल में जायो' (उत्पन्न) होना बताया है।

जिस पाश्चात्य दर्शन में जीव को ईश्वर उत्पन्न करता हो, और वही न मालूम कब आने वाले 'न्यायदिवस' (Day of Judgment) पर सब जीवों के कर्मों का फैसला करके सुनाता हो, जिसमे चेतना (consciousness) का भूतों से विकसित (Theory of Evolution) होना बताया जाता हो, न कि तम के हट जाने से प्रकट (Theory of Manifestation) होना, जिसमें ईश्वर और जीवों में बड़े-छोटे का भेद रखकर आत्म-बल और आत्मानुभूति की प्रधानता न रख गौणता रखी हो, जिस मे आत्म-समर्पण असहाय्य (Helplessness) का चिह्न हो, न कि अभिमान-दर्पादि से बचने का, तथा जिसमें केवल भौतिक और मानसिक, अर्थात् नैतिक गति पर लक्ष्य रख आत्मैक्य वाले धर्म-तत्त्व को स्थान न दिया हो—तात्पर्य यह कि जिस दर्शन के सिद्धान्त हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तों से तीन और छै के अंकों के समान विपरीत हों, उसके मानने वाले तथा उनके अनुयायी 'कुल मंगन' का अर्थ लगाने मे यदि यह भूल करें कि तुलसी का सम्बन्ध संसार से केवल सन् १५३१ से सन् १६२३ तक ही रहा और उसका कुल उसके माता-पिता स्थूल शरीधारियों ही का था, तो कोई आश्चर्य नहीं।

(२) बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हौ—इसमें

लालच (तृष्णा) के वशीभूत होकर व्याकुल रहने के कारण दीनता तथा यत्र-तत्र भटकते रहने का भाव है। समर्थ के सम्मुख असमर्थता प्रकट करना ही दीनता कहलाती है। मुण्डकोपनिषद् ३।१।२ मे इसी दीन भाव को 'अनीशा' (अन्+ईश) कहा है, जिसका शंकराचार्य ने अपने भाष्य मे यह अर्थ बताया है—'तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थं प्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमान:' अर्थात् वह उस दीन भाव से युक्त होकर मोहवश अनेक अनर्थमय प्रकारों से आन्तरिक चिन्ता को प्राप्त हुआ, शोक या सन्ताप करता रहता है।

जो लोग इसका तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानों पर कई बार तुलसी द्वारा कहे गये कथनों का यह अर्थ लगाते हैं कि तुलसी बाल्यावस्था में भीख माँग कर पेट पाला करते थे, वे भूल करते हैं। हम यह बता चुके हैं कि कवितावली का रचना-काल तुलसी की जरठावस्था थी; इसलिए इस छन्द में 'बारे तें' (बालापन से) और 'जानत हौं' ये जो दो पद आये हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि तुलसी अपनी केवल भूतकालीन दशा का वर्णन नहीं कर रहे हैं, वरन् बचपन से लेकर कवितावली के लेखन-काल, अर्थात् बुढापे (जरठकाल) तक की समान स्थिति का चित्र खीच रहे है। क्या किसी अनुसन्धानकर्ता ने यह कहा है कि तुलसी दरिद्र-हीन होने के कारण बाल्यकाल के बाद भी जरठावस्था तक कूकर के समान टुकड़ा या जूठन आदि माँग-माँग कर अपना पेट पालता था? यदि नहीं, तो फिर केवल बाल्यावस्था के विषय मे ही कैसे और क्यों निदान निकाल लिया?

(३) **भयो परिताप पाप जननी-जनक को**—हमारी समझ में 'परिताप' और 'पाप' ये दोनों विशेषण 'जननी-जनक' के लिए प्रयोग में नहीं लाये गये। 'परिताप' तुलसी की दशा का परिचायक है, और 'पाप' जननी-जनक की दशा का ; इसलिए 'परिताप' के बाद विराम चिह्न (,) समझकर अर्थ किया जाना चाहिए। ऐसा करने से इसका अर्थ यह होगा—'जननी-जनक का पाप मेरे लिए परिताप हुआ।' यह कैसे ? आत्म-निरीक्षक तुलसी सोच रहा है कि यदि माता-पिता का संयोग न होता, तो मैं (जीव) न तो

माता के गर्भ में आता और न मेरा यह तन ही उत्पन्न होता। यदि यह तन न होता, तो समस्त यातनाओं और परितापों से बच जाता—'तुलसी यह तन तवा है, तपत सदा त्रय ताप' (वै० सं० ६)। परन्तु यह न हो सका। संभोग करने का 'पाप' तो माता-पिता ने किया ; पर उसका त्रितापरूप फल मुझे भोगना पड़ रहा है। माँ-बाप का भोगार्थ ससर्ग नैतिक दृष्टि से भले ही अदूषित हो, पर धार्मिक दृष्टि से इन्द्रिय-जनित विषय-भोग पाप ही समझा जाता है (पाप=प+आप ; प=पतन, आप=प्राप्त होना, अर्थात्—जो पतन कराये वही पाप कहाता है)। यद्यपि पाप का पतन-रूप फल पाप-कर्ता को तो भोगना पड़ता ही है, तथापि कभी-कभी संयोगवश दूसरों को भी उसका दण्ड मिलता है, जैसा अभी बता चुके है और तुलसी ने भी कहा है—

"करइ जो कर्म पाव फल सोई। निगमनीति अस कह सब कोई॥"

× × ×

"और करै अपराध कोई, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवंत गति, को जग जाने जोग॥"[१०]

(४) जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को—तुलसी ने जिस प्रकार तृष्णा के अर्थ में 'कूकर' का प्रयोग कई स्थानों पर किया है, उसी प्रकार लोभ के अर्थ में 'चारि चनक' (चार चना) का भी कई स्थानों पर प्रयोग किया गया मिलता है। इस पंक्ति में भी मनुष्यमात्र की लोभ-वृत्ति का वर्णन है। यथार्थ में यहाँ उन ज्ञान और कर्म-मार्गियों के प्रति व्यंग्य है, जो यह कहते है कि बिना ईश्वर-भक्ति के ही वे ज्ञान और कर्म के बल पर चारों फल, अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तुलसी के मत में भक्ति के बिना चारों पदार्थो का मिलना कठिन है, जैसा कि उनके

---

१०. मानस, अयो० कां० ७६।८, ७७।

इस दोहे से प्रकट है—

'चारि चहत मानस अगम, चनक चारि को लाहु।
चारि परिहरे चारि को, दानि चारि चख चाहु॥"[११]

अर्थ—मनुष्य चार फल चाहता है ; परन्तु उनका मिलना अगम है, क्योंकि वह चार चनों (अर्थात् संपत्ति-संचय) के लाभ में लगा रहता है। इसके अतिरिक्त उसे यह आवश्यक होता है कि वह काम-क्रोध-मद-लोभ, इन चार विषयों को 'परिहरे' अर्थात् त्यागे, तन-मन-धन-धाम इन चारों का दान कर दे। (चारि को दानि) अर्थात्—उनमे आसक्त न रहे, तथा वह इतना सावधान रहे कि उसकी दृष्टि (चारि चख चाहु) चारों ओर चौकन्ना रहे।[१२]

चूँकि इन सब वृत्तों का भली भाँति निबाहना अत्यन्त दुर्गम है, इसलिए इसी दोहे के आगे के दोहे में भक्ति-मार्ग की सरलता दर्शाने के हेतु यह कह दिया है—

"सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम-प्रसूति॥"

इन दोहों से स्पष्ट है कि 'जानत हों चारि फल चारि ही चनक को' इस पंक्ति का अर्थ तुलसी की जीवनी से परिसीमित नही है, वरन् अपने ऊपर ढालकर उन्होंने विश्व-व्यापी मानुषी वृत्ति का ही प्रदर्शन किया है।

(५) **सोच विधिहू गनक को**—सच बात तो यह है कि किसी काम के करने के तरीके को विधि या विधान कहते है। यही गुणवाचक संज्ञा बाद में 'भाग्य', 'प्रारब्ध', 'ललाट' आदि शब्दों के रूप में जातिवाचक

---

११. दोहावली १५१।

१२. इस दोहे में पाँच बार 'चारि' शब्द का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ हमने अपनी बुद्धि के अनुसार लगाया है ; अतः हमी उसके उत्तरदायी हैं।

संज्ञा, और 'ब्रह्मा', 'सृष्टिकर्ता' आदि के रूप में व्यक्तिवाचक संज्ञा बना ली गयी। इन सबका मूल भाव एक यही है कि सृष्टि मे कर्म की प्रधानता रहती है, अर्थात् जो जैसा करता है, वैसा ही फल वह भोगता है—'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।' इस तरह मनुष्य जितने शुभाशुभ कर्म करता है, उन सब की छाप या संस्कार उसकी चेतना (चित्त) शक्ति पर पड़ते रहते हैं; इसलिए विद्वान् लोग जब कभी ब्रह्मा, सृष्टिकर्ता, विधाता, भाग्य, ललाट आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उनके मन में इनका व्यक्तिवाचक या जातिवाचक अर्थ नहीं रहता, वरन् उनका ध्यान इन्हीं शुभाशुभ कर्मो के संस्कार-समुच्चय पर रहता है, जिसका बनना-मिटना-सुधरना मनुष्य के कर्मो के अनुरूप चलता रहता है। इसके अतिरिक्त कर्म और उनके यथेष्ट फलों का सम्बन्ध इतना नियमित होता है, मानो कोई बड़ा चतुर-प्रवीण लेखा-जोखा लगाने वाला गणितज्ञ (गनक) उसे स्थापित करने में लगा हो। इन्हीं सब स्वाभाविक अनिवार्य नियमों को ध्यान में रखकर तुलसी के कथनों का अर्थ यह नही समझना चाहिए कि वह किसी मूर्ख के समान ब्रह्मा को कपाल में लिखने वाला कहता हो, या कि वह भाग्य-अभाग्य के आधार पर निर्भर रहने वाला हो। वह तो पूर्व कर्मो की विधि के अनुरूप पूर्व संस्कारों का भोगना अनिवार्य मानता है। पूर्व कर्मो की यदि भलाई होती, तो पूर्वोक्त विधान के अनुसार उसे यह पुनर्जन्म का भोग क्यों भोगना पड़ता? यही सोचकर तुलसी कहते हैं 'विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई' (क० व० उ० कां० ५७), 'लोक कहें विधिहू न लिखियो, सपनेहूँ नहीं अपने वरवा है' (क० व० उ० कां० ५६) तथा 'कै न आयों करौं न करौगो करतूति भली, लिखी न बिरंचिहूँ भलाई भूलि भाल है, (क० व० उ० कां० ६५)। परन्तु भक्ति-पक्ष इतना प्रबल होता है कि उसके सम्मुख कर्म-विधि-फलों की नियमित अनिवार्यता को भी झुक जाना पड़ता है, यही भाव तुलसी ने अपनी ओर इंगित करके कर्म-ज्ञानवादियो के सम्मुख उक्त छन्द मे 'सोच विधिहू गनक कौ' कहकर दर्शाया है।

अब जब भाव स्पष्ट हो गये, तब उक्त छन्द के अर्थ मे कुछ कठिनाई नही रह जाती ; इसलिए उसका अर्थ यह होता है--

पूर्व कर्म-वश अविद्या के अहंकारादि से युक्त प्रबल कुल मे, जो तृष्णा-वश भिखारी बना रहता है, मुझे (मुझ जीवात्मा को) जन्म लेना पड़ा। कैसे? माता-पिता के भोगार्थ पाप के कारण। मेरे जन्म से उन्हे खुशी हुई और बधावा बजाया गया, जिसे मैने सुना ; परन्तु वह मुझ जीव को सन्ताप रूप ही हुआ। ज्योंही जन्म हुआ कि माता के दूधादि के लिए ललाने लगा ; और ज्यों-ज्यों शरीर बड़ा होता गया, त्यों-त्यों तृष्णा या लोभवश दृश्य-अदृश्य अथवा यथार्थ-अयथार्थ दाताओं के दरवाजे खटखटाता गया, तथा यह सोचता रहा कि इस भिखारीपन से ही चारों पदार्थ प्राप्त हो जायेंगे।

परन्तु जब से समर्थ स्वामी का सुसेवक बन गया हूँ, अर्थात् निष्कपट भक्त हो गया हूँ, तब से मुझ जीव की सभी सराहना करने लगे हैं, और कर्म-विधि-अंक मिटते हुए देख विधाता सोच मे हो रहा है। हे राम! यह सब तेरे नाम की ही महिमा है, जो जरा से तृण को पर्वत से भी भारी कर देता है।

अक्षम्य अवहेलना

इस तरह कवितावली के उक्त ७३ वें छन्द को दृष्टान्तवत् लेकर हमने यह बताया कि अनुसन्धानकर्ताओं ने तुलसी के भावों को नहीं समझा और इसलिए उनके कथनों का भ्रामक अर्थ लगाकर उनके प्रति अन्याय किया तथा पाठकों के बीच भ्रम फैला रखा है। भावों की अज्ञानता ही के कारण यदि यह त्रुटि होती, तो वह क्षम्य हो सकती थी ; परन्तु जब शब्दार्थ ही प्रसंग तथा तुलसी के अन्य कथनों की अवहेलना कर, एक आँख बन्द करके किया गया पाया जाता है, तब वही अन्याय अपराध के रूप मे हमें अक्षम्य-सा लगता है। यह भी हम कतिपय दृष्टान्तों को नमूने के तौर पर लेकर संक्षेप में बता देना आवश्यक समझते हैं। यदि क० व० उ० कां० के ७३

वें छन्द मे 'जायो कुल मंगन' आया है, तो उसी काड के ३३ वें छन्द में 'भले कुल जन्म' कहा गया है। यदि अवैध सन्तान होने के कारण अथवा अन्य किसी भी कारण से तुलसी के माता-पिता ने उन्हें जन्मते ही 'तज दिया था' (देखो पूर्व में उद्धृत क० व० उ० का० ५७ वें और ७३ वें छन्द तथा वि० प० २२७), तो इधर क० व० उ० कां० ३२ वें छन्द मे आये हुए 'जननी जनकादि हितू भए भूरि' की ओर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए थी। यदि यह कहना अभीष्ट था कि तुलसी का न कोई विवाह हुआ और न कोई सन्तान हुई, या कि तुलसी की न कोई जाति-पाँति थी और न कुल परिवार, तो इधर क० व० उ० कां० के ३० वें छन्द के 'सुत, दार, अगार, सखा परिवार विलोकु महाकुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै, समता सजि संतसमान विराजहि रे'—इन पदो पर भी दृष्टि डाल दी जाती, तो क्या ही अच्छा होता। यदि 'कूकर' 'टूकन' लागि लगाई . . . .पेट खलाई' (क० व० उ० कां० ५७) आदि को तुलसी की व्यक्तिगत गति का परिचायक मानना था, तो इधर छन्द १२४ वा १२५ पर दृष्टि डाल लेते, तो भ्रम-निवारण हो जाता। ऐसे एक नहीं, दो-चार नहीं, अनेक स्थानों पर परस्पर-विरोध प्रतीति वाले कथन आपको दिखाई देंगे। शुद्ध रीति से समझने वाले के लिए उनमें यथार्थतः कोई विरोध नही है। विरोध केवल उन्हीं लोगों की पतंग काटने के लिए कहे जा सकते हैं, जो यह समझते हैं कि तुलसी ने अपने व्यक्तिगत स्थूल शरीर की गाथा गाई है, न कि विश्वव्यापी सर्वसामान्य कुवृत्तियों तथा कुगतियों को प्रकाशित किया है। यदि इन मित्रों को अन्य कथनों को देखने का अवकाश नहीं था, तो उन्हीं छन्दों या भजनों को आद्योपान्त विचारपूर्वक पढ़ लेते, जिनमें से इधर-उधर के कुछ शब्दों को खींच-तान कर उन्होंने तुलसी की स्थूल प्रतिमा खड़ी करने के लिए कष्ट किया है। यदि यही किया होता, अथवा किसी भी छन्द या भजन को ध्यानपूर्वक देखा होता, तो भी इस प्रकार की अक्षम्य भूल न हो सकती। इसे बताने के लिए यदि हम दृष्टान्त प्रस्तुत करने लगें, तो सम्भवतः कवितावली के उत्तरकांड के प्रायः सभी छन्दों तथा विनयपत्रिका

के प्राय: सभी भजनों का उल्लेख करना पड़ेगा ; अतएव दृष्टान्तस्वरूप पाठकों के अवलोकनार्थ विनयपत्रिका का केवल एक पद प्रस्तुत कर देते हैं ; क्योंकि उसमें भी 'दीनता' और 'द्वार-द्वार' की बात आई है—

'कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भए जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ।।१।।
आस-विवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो ।
हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो ।।
असन वसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो ।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेटखलायो ।।
नाथ हाथ कछु नाहि लग्यो लालच ललचायो ।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभलघु निलज नचायो ।।
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति लायो ।।
मूँड़ मारि हियहारि कै हित हेरि हहरि अब चरन-सरन तकि आयो ।।
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो ।
तुलसी नमत अवलोकिये बलिबाँह-बोल दै विरदावलि बुलायो ।।

एक यही पद तुलसी के उन सब भावों को प्रकाश मे ले आता है, जिनके विषय मे हमने ऊपर कहा है। तुलसी रूप में दीन जीवात्मा अपने समर्थ स्वामी के सम्मुख कहता है कि जहाँ तक मैने सुना, देखा तथा कल्पना की, वहाँ तक मै सब थलपतियों अर्थात् भौतिक सुखाधिपतियों (Sensual or Materialistic topmost pleasure) के पास सिर मार आया, पर बिना आपकी चरण-शरण के कहीं सुख न पाया। इतने ऊँचे भाव के सामने कितना खोटा लगता है वह भाव, जो कहता है कि तुलसीदास द्वार-द्वार पर टुकड़ा माँग कर अपना पेट पालता था।

एक तो अन्य कथनों (छन्दों आदि) की ओर आँख उठाकर नहीं देखना, दूसरे एक ही कथन के तारतम्य पर विचार नहीं करना और तीसरे अपनी

पूर्व में बना ली गई धारणा को सिद्ध करने के लिए अन्वय और अर्थ की खींचातानी करना, ये है त्रुटियाँ, इन अनुसन्धायकों की, जो हमें दिखाई देती है। कविता के रूप मे होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उन कथनों मे कारक-सम्बन्धी विभक्तियों की कमी रहती है तथा शाब्दिक-क्रम भी कभी-कभी यथास्थान पर नहीं रहता; इसलिए, उक्त खींचातानी अथवा तोड़-मरोड़ आसानी से की जा सकती है। इसका भी यह एक दृष्टान्त लीजिए—

विनयपत्रिका के २७५वें पद में यह पंक्ति आई है—

'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ'

इसका अर्थ यह किया जाता है—"जैसे कुटिल कीड़ा (साँप) अपनी देह से उत्पन्न हुई केंचुली को छोड़ देता हैं, वैसे ही मेरे माता-पिता ने मुझे जन्मते ही त्याग दिया।"[१३] यहाँ पर 'कुटिल कीट' की उपमा मातु-पिता को दे दी, क्यों कि उससे 'अवैध उत्पत्ति' तथा 'जन्मते ही त्याग' की धारणा को सिद्ध करने मे बल मिलता है; परन्तु हमारी समझ में, वह उपमा तुलसी ने अपने तन के लिए दी है। यह तन क्या है? वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म लिंग-शरीर से लेकर चर्मादिकयुक्त स्थूलातिस्थूल पर्यन्त। वह कुटिल क्यों है? इसलिए कि वह एक तो पूर्वकर्मो की हीनता के कारण अभागा है ही, और दूसरे अभी भी दुष्कर्मो से बाज नहीं आता और सर्प के समान आत्मा को डसता रहता है। यही अर्थ उक्त पंक्ति को उसके ऊपर और नीचे वाली पंक्तियों की संगति के साथ पढ़ने से विदित होता है। वे इस तरह हैं—

"हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष-दलन छम, कियो न संभाषन काहूँ॥
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यो तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को दोष रोष काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत सब छुई छाहूँ॥"

तुलसी अपने स्वामी के सम्मुख अपनी दीनता बता रहे हैं कि हे प्रभु!

१३. मानस-मीमांसा, पृ० ५।

दुनिया की दसों दिशाओं में बड़े-बड़े दयालु हैं, जो दुख-दोष को मिटाने वाले और क्षमाशील हैं। फिर माता-पिता तो इन सब से बढ़े-चढ़े हैं। परन्तु मैं एसा अभागा (कर्म-हीन) हूँ कि औरों की क्या कहूँ, मेरे माता-पिता भी, जिन्होंने मेरे इस तन को रचा है, मेरी रक्षा नहीं कर सके। तुलसी साधु-स्वभाव के हैं; इसलिए वह न किसी पर रोष करते और न किसी को दोषी ठहराते, क्यों कि कर्मों के वश वे स्वयं उस सबके उत्तरदायी है।

निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसी के नैतिक और अध्यात्म-प्रधान कथनों पर जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन से संबंधित घटनाओं का आरोप किया गया है, वह न्यायसंगत नहीं है। उनके कथनों पर से उनकी जीवनी के विषय में अनुसन्धान लगाने की जो पद्धति चल पड़ी है, वह हमारी अल्पमति के अनुसार सदोष तथा भ्रामक है।

: ४ :

तुलसी और मानस की पृष्ठ-भूमि

वर्त्तमान अध्याय का विषय

पिछले अध्याय के पढ़ने से ज्ञात हुआ होगा कि तुलसी की जीवनी के विषय में जो अनुसंधान किये गये हैं, उनका आधार अधिकतर उनकी कवितावली और विनयपत्रिका ही है। रामचरित-मानस की ओर, जो उनका सर्वप्रधान ग्रंथ है, प्रायः कोई ध्यान नही दिया गया। मानस की रचना सं० १६३१ मे हुई, उनकी माता का नाम हुलसी था, और बाबा नरहरि-दास ने उन्हें पाला और शिक्षा दी तथा वे राम के महाभक्त थे—बस, इन्ही इनी-गिनी तीन-चार बातों का आधार मानस से किया गया प्रतीत होता है; परन्तु हमारी समझ में मानस ही उनका एक ऐसा ग्रंथ है, जिसके आधार पर उनकी प्रौढ़कालीन जीवनी का सही-सही लेखा लगाया जा सकता है। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि दूसरे ग्रंथों की ओर कोई ध्यान देने की जरूरत नहीं। दूसरे ग्रंथ सहायक के रूप में उपयोगी हैं, इसमे संदेह नहीं। यथार्थ बात तो यह है कि तुलसी और मानस का, सब लोग जानते है, ऐसा जोड़ा बन गया है कि एक का नाम लेने या स्मरण करने से दूसरे की तत्काल याद आ जाती है, और ऐसा लगता है, मानो एक दूसरे का प्राण हो, अथवा यह कहिए, एक दूसरे का प्रतिबिम्ब झलकाने के लिए दर्पण के रूप में हों। परन्तु, मानस में तुलसी के प्रतिबिम्ब का देखा जाना तभी सम्भव हो सकता है, जब वह मानस किन्हीं ऐसे चतुर व्यक्तियों के हाथ में हो, जो उसमे भिदे हुए गुणों का न केवल अवलोकन ही कर सकें; बल्कि उन्हें यथाविधि देख-देख कर उस प्रतिबिम्ब की रेखाएँ भी

खींचने में समर्थ हों। दूसरे शब्दों में 'मानस' का जो सच्चा आलोचक हो, उसी को उसके लेखक तुलसी की जीवनी का परिचय उसमे मिल सकता है। इसे जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम तुलसी के कथनों के आश्रय से वर्त्तमान अध्याय मे मानस की एक पृष्ठभूमि पाठकों के सामने प्रस्तुत कर उसके द्वारा यह बता दें कि तुलसी के मत मे मानस का सच्चा आलोचक होने का अधिकारी कौन हो सकता है।

मानस नाम क्यों?

तुलसीदासजी ने 'नामनिरूपण नाम यतन ते' कहकर यही बताना चाहा है कि नामकरण का भावी जीवन के लिए साधारणतः बड़ा महत्त्व होता है। आर्य, सस्कृति में प्राचीन काल से ही इस महत्त्व पर यहाँ तक विचार रखा गया है कि जीवन के सोलह संस्कारों मे से एक संस्कार नाम रखने का भी मनाया जाता है, जिसमें विद्वान् लोगों की सम्मति से सन्तान का नाम रखा जाता है। इश महत्त्व का मूल कारण यह है कि उपयुक्त परिस्थितियों में नाम एक प्रकार से जीवन-पथ पर ले चलने के लिए मूक मार्ग-प्रदर्शक (guide) का काम करता रहता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ के नाम अभी भी देवादि सूचक रहा करते हैं। जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान का नाम बड़ी सावधानी से रखते हैं, उसी प्रकार ग्रंथकर्त्ता भी अपने ग्रंथ का नाम बड़े सोच-विचार के बाद चुनता है, ताकि नाम मे ग्रथ-विषय की मूर्त्ति झलक उठे। तुलसीकृत रामायण को हाथ में लेते ही पाठक के मन में यह शंका उठती है कि तुलसीदासजी ने उसे सीधा-सादा नाम 'रामायण' 'राम कथा' या 'रामचरित' न देकर 'रामचरित-मानस' क्यों दिया? इनका स्पष्टीकरण तुलसी की निम्न पंक्तियों मे थोड़ी गहराई में जाने से हो सकता है—

विमल कथा कर कीन्ह अरंभा।
सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥

राम चरित मानस एहि नामा।
सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।।
× × ×
रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।।
तातें रामचरित मानस वर।
धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर[1]।।

हमारी बुद्धि के अनुसार तुलसी ने यह रामचरित-मानस नाम दो कारणों से चुना है। एक, पाठकों या श्रोताओं की दृष्टि से, जो प्रथम दो पंक्तियों में व्यक्त है, और दूसरे स्वयं अपनी दृष्टि से, जो अन्तिम दो पंक्तियों से प्रकट होता है। ('पाइअ बिश्रामा' वाली पंक्ति और 'रचि महेस' वाली पंक्ति के बीच में जो तीन पंक्तियाँ कल्याण प्रेस वाली प्रति में दी है और जिनसे मानसरोवर का अर्थ निकलता है, वे हमारी समझ में तथा मूल मानस के एक अप्रचलित संस्करण के आधार पर प्रक्षिप्त है। यदि प्रक्षिप्त न भी मानी जायें, तो भी वे रूपक के रूप में हैं; अतः हमारे अर्थ का उनसे कुछ बिगड़ता नहीं।) मानस का अर्थ मन है, यह सभी जानते हैं; इसलिए प्रथम दो पंक्तियों का भावार्थ यह है कि "जिस पवित्र कथा का लिपिबद्ध करना मैंने आरम्भ किया है और जिसका 'रामचरित-मानस' नाम मैंने रखा है, उसके सुनने से श्रोताओं के कामादि विकार नष्ट हो जायेंगे तथा नष्ट होने पर मन को विश्राम या शांति मिलेगी।" रामायण, रामकथा या रामचरित कहने से केवल इतना अर्थ निकलता कि ग्रन्थ में राम के चरित्रों का वर्णन है न कि उसके फल का भी। वह फल तुलसी कहते है, यह है कि उसके सुनने ('सुत' दोनों पंक्तियों में आया है) से सुनने वाले के मन को शांति मिलेगी। ग्रन्थ की यही महत्ता बतलाने के अभिप्राय से 'मानस' शब्द जोड़ा गया है, ऐसा हमारा विचार है, क्योंकि तुलसी का, अन्य सभी

---

१. मानस, बा० कां० ३४।६–७ और ११–१२।

सभ्य जातियों के समान, जीवन का मूल सिद्धान्त यही है कि मन अविकृत होकर शांति-सुख प्राप्त करे ; अतः वर्णन और उद्देश्य दोनों प्रकट करने के अभिप्राय से यह नाम चुना गया है।

अपनी निजी दृष्टि से क्यों यह नाम रखा, उस पर विचार करने के पूर्व दो बातों को समझना आवश्यक है। एक तो यह कि हर कर्त्ता हर वाह्य कार्य के पहले अपने मस्तिष्क या मन मे उसकी रचना कर लेता है, और यदि मन अविकारी हुआ, तो उसमे अभ्रम श्रेष्ठता आ जाती है। दूसरे, महेश के और भी नाम है; जैसे—शंकर, कामारि, हर, शिव आदि। शंकर (शम्+कर) और कामारि (काम+अरि) उस मानसिक स्थिति के बोधक हैं, जहाँ इन्द्रिय-जनित कामादि विकारों का पूर्णतः शमन हो गया हो। (शिवा या उमा प्रकृति की द्योतक है। उनकी तात्त्विक व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।) अतः आखिरी दो पंक्तियों का भावार्थ यह है—"मैंने अपने हृदय में प्रसन्नतापूर्वक महेश रूपी कामादि से पूर्णतः विकार-हीन स्थिति को आदर्श मान अपने मन को यथाशक्ति विकारहीन (पवित्र) बनाकर पहले उसमें ही रामचरित का ढाँचा तैयार किया, तब पीछे उसे लिपिबद्ध कर रहा हूँ। इसलिए (तातें) मैने इसका नाम रामचरित-मानस रखा है ; क्योंकि उसके मूल में मेरी अदूषित मानसिक स्थिति ही की प्रधानता है।"

चूंकि मानसिक पवित्रता प्राप्त करना ही धर्म है, इसलिए यह दर्शाने के लिए कि ग्रंथ का आधार और उद्देश्य दोनों 'धर्म' है, रामचरित-मानस नाम रखा गया है। आपने वाल्मीकि रामायण के वालकाण्ड के दूसरे सर्ग में पढ़ा होगा कि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना ब्रह्मा के कहने से की। परन्तु, तुलसी को यह पसन्द नहीं आया, क्योंकि 'ब्रह्मा' संज्ञा में विकारोत्पादक भौतिक सृष्टि या रचना (Material Creation) का भाव रहता है ; इसलिए उन्होंने निर्विकार रूप कामारि महेश की रचना को आदर्श मान उससे प्रोत्साहित होकर रामायण लिखी; क्योंकि सृष्टि में भूले हुए लोगों के लिए महेश ही धर्म अथवा अध्यात्म रचना (Religious

or Spiritual Creation) के अधिष्ठाता होकर नायक का काम करते है, जैसा कि आगे १० वें अध्याय मे बताया जायगा।

मानस का विषय

जैसा नाम, वैसा ही ग्रंथ का विषय, राम के चरित्रों का वर्णन। परन्तु स्मरण रहे कि तुलसी का यह राम वाल्मीकि के राम से भिन्न है। वाल्मीकि का राम इक्ष्वाकुवंशीय आदर्श पुरुष दशरथ-नन्दन है। उसी का गुण-गान नारद मुनि ने वाल्मीकि को उनके पूछने पर सुनाया था (वा० रा० बा० कां० प्रथम सर्ग), और जिस राम का गुण-गान उन्होंने नारद से सुना था, उसी के चरित्रों को श्लोकबद्ध करने के लिए ब्रह्माजी ने उनसे कहा था (वा० रा० बा० कां० दूसरा सर्ग। इससे प्रकट है कि वाल्मीकि का यह राम केवल एक ऐतिहासिक अथवा आख्यानित आदर्श पुरुष है, न कि तुलसी का त्रिविध राम, जिसके विषय मे हम प्रथम अध्याय मे अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। सर्वव्याप्त निर्गुणात्मक राम, सर्वव्याप्त सगुणात्मक राम और विशेषात्मक राम---इन तीनों का समन्वय तुलसीकृत रामायण का विषय है. और यह समन्वय भी ऐसा रखना था कि जिससे, एक ओर तो, तत्संबंधी शास्त्रों की मर्यादा भंग न हो, और दूसरी ओर तुलसी-काल की बिगड़ी हुई समाज-व्यवस्था का सुधार भी हो सके।

तुलसी का ध्यान तीन बातों पर

अपना वक्तव्य देते समय हर वक्ता का और अपना ग्रंथ लिखते समय हर लेखक का विचार तीन ओर दौड़ता है---(१) अपने विषय की ओर, (२) उस विषय के संपादनार्थ अपनी योग्यता की ओर, और (३) श्रोताओं या वाचकों पर तदर्थीय प्रभाव पड़ने की ओर।

तुलसीदास का ध्यान भी इन तीनों बातों की ओर गया। फिलहाल अभी प्रथम दो बातों को देखेंगे। तत्पश्चात् इसी अध्याय मे प्रसंग आने पर तीसरी बात पर कहा जायगा।

भाव और भाषा का सम्बन्ध

प्रथम बात को जानने के लिए पहले हमें संक्षेप में यह जानना चाहिए कि भाव और भाषा का क्या सम्बन्ध है। भाषा भाव को प्रकट करने का एक साधन है। व्यापक दृष्टि से देखिए, तो सारी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सृष्टि ईश्वरीय भाव का प्रकाशमात्र है। मनुष्य-जगत् की दृष्टि से देखिए, तो मानवीय भाव का प्रकाशन दो प्रकार से होता है। एक है--शरीरांगों पर अनेक प्रकार से उसका प्रस्फुटन हो उठना, जैसे हर्ष या प्रेम का मुसकराहट, अश्रु-धार एवं रोमांचादि के रूप में तथा रौद्र या क्रोध का लाल नेत्र, ओंठ का फड़कना एवं भौंहारोहणादि के रूप में। इस प्रकार के प्रस्फुटन को लोग स्वाभाविक (Natural) कहते है, हालाँकि विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट है कि उक्त प्रस्फुटन के पूर्व भाव को भावुक के राग-द्वेष, सुख-दुःखादि विकारों को पार करते आना पड़ता है। फलतः सच पूछा जाय, तो यह स्वाभाविक कहा जाने वाला प्रस्फुटन उसी प्रकार स्थूल विकृत रूप होता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला किसी नदी का प्रथम स्रोत, उसके पूर्व अदृश्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म उस जल कण का होता है, जिसे भूमि के क्षार आदि आंतरिक गुणों (Properties) में से होता हुआ आना पड़ता है। दूसरा प्रकार है--भाषा के द्वारा भाव को प्रकट करना। इसमे प्रथम प्रकार के प्रस्फुटन की अपेक्षा कृत्रिमता कई गुनी अधिक रहती है, क्योंकि भाषा मनुष्यकृत है। मनुष्य आंतरिक गतियों को प्रकट करने के लिए भाषा रूपी कृत्रिम संकेतों का निर्माण कर लेता है, जिनका विकास यद्यपि सामाजिक गति-विधि के अनुरूप होता रहता है, तथापि उच्चकोटि के भाव तक पहुँचने के लिए वे अपर्याप्त ही सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त राग-द्वेषादि विकारों को इस भाषा रूपी साधन के समय विशेष रूप से अपना बल दिखाने का अवकाश मिलता है। निष्कर्ष यह हुआ कि भावुक तथा दर्शक, चाहे वे वक्ता या श्रोता के रूप में हों, या लेखक तथा वाचक के रूप में, दोनों विकारहीन नहीं हुए तो न तो भावुक अपने भाव का प्रदर्शन यथार्थ निर्मल रूप में कर सकता और न दर्शक उसका यथार्थ

निर्मल रूप में दर्शन कर सकता है। समाज की जिस संस्कृति में भावुक वा दर्शक शिक्षित होते है और भाव जिस कोटि का होता है, इन दोनों का भाव प्रदर्शन और भाव-दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।

मानस-रचना के पूर्व तुलसी के सम्मुख गहरी समस्या और उसका समाधान

यद्यपि तुलसीकालीन समाज की नैतिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी, जैसा कि आगे बताया जायगा, तथापि तुलसी सन्त थे, इसलिए यह अनुमान लगाना कि उनके व्यक्तित्व पर उस समाज में प्रचलित विकारों का प्रभाव न पड़ा होगा, कुछ असंगत न होगा। इसके अतिरिक्त जिस धर्म-प्रधान 'भलि भारत-भूमि'[1](अ) की प्रसिद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक आर्य-संस्कृति मे वे पुष्ट हुए, जिस धर्म-प्रधान प्राचीनतम विकसित संस्कृत साहित्य में उनका अध्ययन हुआ, जिस धर्म-प्रवीण गुरु तथा संत-समाज के समागम में उनका बौद्धिक और आत्मिक विकास हुआ, एवं जिस परम-पवित्र परमतत्त्व राम-भाव को लेकर वे चल निकले, उन सब पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर यदि यह कहा जाय कि उनका भाव भाषा के रूप में प्रकट होते-होते तक निर्मल ही बना रहा होगा, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी तुलसी स्वयं तो यही जानते थे कि उनका राम पूर्ण है, और पूर्ण अपूर्ण से उसी प्रकार नहीं बाँधा जा सकता ; जैसे—अथाह-असीम समुद्र चुल्लू में नहीं समा सकता, अथवा यथार्थ अयथार्थ से उसी प्रकार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता ; जैसे—आन्तरिक गतियों का प्रतिबिम्बन फोटो या शिलांकित मूर्ति के द्वारा नहीं हो सकता। वे यह भी जानते थे कि पवित्र अपवित्रता की थोड़ी-सी धुंध में भी उसी प्रकार धुँधला प्रतीत होने लगता है, जिस प्रकार आकाश में धूलि-कणों के फैल जाने से सूर्य ढँक जाता है ; इसलिए उन्होंने रामायण को प्रारम्भ करते समय ही पाठकों के सम्मुख पुनरुक्तियों की चिन्ता न करके अपने आदर्श की असीमता तथा अपनी असमर्थता एवं अपवित्रता को बार-बार विविध प्रकार से कह कर

१(अ). कवितावली, उ० कां० ३३।

प्रकट कर दिया है। उक्त आशय की अनेक पंक्तियों में से कुछ थोड़ी हम पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे देते हैं। वे ये हैं--

करन चहउँ रघुपति गुण गाहा। लघुमति मोर चरित अवगाहा।।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मनमति रंक मनोरथ राऊ[२]।।

× × ×

भाग छोट अभिलाष बड़। करउँ एक विस्वास[३]।।

× × ×

भाषा भणित मोरि मति भोरी। हँसिबे योग हँसे नहिं खोरी[४]।।

× × ×

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना[५]।।

× × ×

जे जनमे कलि काल कराला। करतब वायस वेष मराला।।
चलत कुपंथ वेदमग छाँड़े। कपट कलेवर कवि मल भाँड़े।।

---

२. मानस बा० कां० ७ (ध)। ५–६। नोट—सूक्ष्म विवेक से—'मति' और बुद्धि में कुछ थोड़ा भेद दिखेगा।

३. मानस बा० कां० ८। नोट—कर्म संस्कारों के सामूहिक फल को ही 'भाग्य' कहते हैं।

४. मानस, बा० कां० ८।४। नोट—भाषा भणित (भणिति) का अर्थ लोग 'भाषा' में अथवा हिन्दी में की गई 'कविता' लगाते हैं। परन्तु हमारी समझ में 'भाषा भणित' का अर्थ किसी विशिष्ट भाषा की विशिष्ट शैली से सीमित नहीं है। 'भणित' 'भण्' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'कहना' इसलिए 'भाषा भणित' का अर्थ हुआ 'किसी भी भाषा में कहा गया।'

५. मानस बा० कां० ८।८। गीता प्रेस की गुटका-प्रति में 'चतुर' के स्थान में 'वचन' पाठ है। परन्तु हमारी समझ में 'चतुर' ही उपयुक्त है।

वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिक धरम ध्वज धंधकधोरी॥
जो अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार न लहऊँ॥
तातें मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानहहि सयाने[६]॥

अर्थ यह निकलता है कि मानस लिखने के पूर्व तुलसी के सम्मुख एक बड़ी गहरी समस्या उठ खड़ी हुई। उनकी अभिलाषा रामचरित वर्णन करने की थी; और यह अभिलाषा थी भी बड़ी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण। पर वह कैसे पूरी हो, तुलसी इसी उधेड़बुन में पड़ गये। पहले तो उन्हें अपने आदर्श प्रभु के चरित ही अथाह (अवगाह) दिखे। दूसरे, उन्हें अपनी मति (बुद्धि) अत्यन्त लघु मालूम हुई। तीसरे यदि भाग्य का भरोसा किया जाता, तो वह भी छोटा निकला। भाग्य यथार्थतः पूर्व मे किये गये कर्मो के फलों के संचित सत्व (Essence) या संस्कार को कहते हैं; इसलिए जब तुलसी अपने पूर्व कर्मो पर विचार करते हैं, तो वहाँ भी निराशा उत्तर देती है। चौथे, तुलसी जब वाणी या भाषा का आश्रय लेने दौड़ते हैं, तब वह भी जवाब दे देती है कि हम अपूर्ण हैं। पाँचवें, उन्हें जब यह स्मरण आता है कि उन्हें तो मानस की रचना कविता में करना है, तब वे और भी अधिक ठंडे पड़ जाते हैं; क्योंकि उनके ध्यान में आता है कि न तो वे और कवि ही हैं और न उनमें कवि-कुलोचित स्वभाविक अथवा अन्यान्य प्रकार से अर्जित चतुरता और प्रवीनता ही है, बल्कि वे समस्त कलाओं और विद्या से हीन हैं। 'कवि' यथार्थ में ईश्वर की उपाधि है,[७] और उसका अर्थ होता है वह शक्ति, जो सबकी सब ओर से जाँच-परख कर सके।

---

६. मानस बा० कां० ११।१–६। नोट—'धिक' के स्थान में 'धृक', 'धिग' 'धींग' पाठ मिलते हैं। 'धोरी' 'धुर' का रूप प्रतीत होता है।

७. "सपर्यगात.............अपाप विद्धम्।
कविः मनीषी......शाश्वताभ्यः सामाभ्यः"॥
यजु० संहिता मंत्र ८।

परन्तु, इन सबसे अधिक ग्लानि उत्पन्न करने वाली छठवीं कमी उन्हें मिली 'धर्मत्व' की त्रुटि में अर्थात् सद्गुणों की क्षीणता मे, क्योंकि सृष्टि को धारण करने वाले समस्त सद्गुणो का उद्बोधन केवल एक शब्द 'धर्म' से हो जाता है। उधर मनसा-वाचा-कर्मणा की कमी थी, तो इधर सद्गुणों के स्थान हृदय की कमजोरी आ पड़ी। उन्होंने देखा कि लोग हंस जैसा वेश बना कर जनता को ठगते है, हालाँकि कर्म उनके कौआ जैसे निकृष्ट होते हैं। उन्होंने इस श्रेणी में उन लोगों को पाया, जो वेदमार्ग को त्याग कुपंथी हो गये थे तथा लोभ-क्रोध-मोह के हाथ बिके हुए होकर भी रामभक्त बने फिरते थे। गरज यह कि यद्यपि ऐसे लोग अपने-आप को धर्म-ध्वज धारी कहने का दावा करते थे, तथापि धंधा उनका धिक्कृत ही रहता था। इन लोगों की अधर्मता का चित्र खिचते ही तुलसी भी अपना हृदय टटोलने दौड़े, तो वहाँ भी उन्हें चन्द्रमा के जैसे दाग दिखे, और कहने लगे कि मैं दूसरों के दोष क्या कहूँ, मुझ में खुद इतने अधिक अवगुण हैं कि संसार के अवगुणियों में मेरा नम्बर ही पहला होगा। इस तरह हम समझ गये कि रामचरित-मानस लिखने के पूर्व तुलसी ने अपने हृदय, मन, वचन और कर्म सबकी ओर आँख डाली ; पर सबने जवाब दे दिया कि हम असमर्थ हैं। हृदय ने कह दिया हम उस सर्वगुण सम्पन्न प्रभु के सम्मुख अत्यंत तुच्छ है ; क्योंकि उनके मुकाबले हममे अवगुण है। मन अथवा बुद्धि बोल उठी, हम उस सर्वव्याप्त परमात्मा को क्या जान सकें, क्योंकि वह तो ज्ञान (Knowledge) का विषय ही नहीं—वह तो अनुभूति (Realisation) का विषय है। जब बुद्धि का यह उत्तर वाणी ने देखा, तब वह घबड़ाकर बोली कि हमारा आश्रय तो बुद्धि है—हम तो उसी की अंगुली के बल पर नाचते रहते हैं, जब वही घुटना टेक रही है, तब हमारा भरोसा करना व्यर्थ है। अंत में कर्म की बारी आयी, तो वह मानो चीख ही पड़ा और उस भगवान् के हर पल किये गये निष्काम कामों का स्मरण कर बोल उठा कि मै तो अत्यन्त आलसी, सकामी, कपटी रहा हूँ—मैं किस प्रकार उस सर्वसमर्थ राम की कृपा-रश्मि

को अपने छोटे-खोटे कामों के द्वारा आकर्षित कर सकता हूँ। गरज यह कि अपने सर्वसमर्थ आदर्श राम के सम्मुख सब ओर से उठी हुई अपनी असमर्थता की ध्वनि जब तुलसी ने अपने समस्त शरीरांगों से सुनी, तो उन्हें कुछ बेचैनी-सी हुई (सूझ न एकउ अंग उपाऊ)[८] और सोचने लगे कि अब क्या किया जाय। तब अनुसंधान करने पर व्यापक विश्वरूप भगवान्[९] की ओर ही ताका। उस ओर ध्यान देते ही बल आया और कह उठे—

"तेहिं बल मैं रघुपति गुणगाथा। कहिहौं नाइ राम पद माथा॥"[१०]

यह व्यापक विश्वरूप भगवान् क्या है। यह है वही श्रेयस्कर आत्मैक्य-शक्ति जो सब में अभेद रूप से अन्तर्स्थित है। वही धर्म नाम से भी विख्यात है। इसमें अचल विश्वास (वट विश्वास अचल निज धर्मा)[११] हुआ कि सब की सब ग्लानियाँ-कठिनाइयाँ आदि दूर हुईं।

मानस लिखने के कारण

आत्मबल आ जाने पर ग्लानि तो दूर हुई सही, पर एक हिचकिचाहट फिर तुलसी के मन में उठी। उन्होंने सोचा, जिस राज के अनन्त नाम और अनन्त गुण हैं और जिसकी कथा अमित विस्तार वाली है[१२] जिसका गुण-गान शारदा, शेष, महेश, ब्रह्मा, शास्त्र, और वेद निरंतर करते-करते थक जाने पर नेति नेति (न+इति) कहने लगते हैं[१३] तथा जिसकी 'प्रभुता किसी से छिपी नहीं है, उसी की कथा-वार्त्ता को मेरे द्वारा भाषा-बद्ध करने से क्या लाभ होगा ? तुलसी स्वयं इसका उत्तर देते हैं कि उससे मेरी तथा समाज

---

८. यहाँ अंग का अर्थ शरीरांग ही लेना उपयुक्त है।

९. मानस बा० कां० १२।४।

१०. मानस बा० कां० १२।९।

११. मानस बा० कां० १।११।

१२. मानस बा० कां० ३३।

१३. मानस बा० कां० १२।

दोनों की भलाई होगी। अपने विषय में उनका कहना है कि सबसे पहले सो मुझसे कहे बिना रहा ही नहीं जाता, जैसा कि अन्य लोगों से भी कहे बिना नहीं रहा जाता, हालाँकि सब उस प्रभु की प्रभुता को जानते है—

'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई।।'[१४]

दूसरा कारण तुलसी ने बताया कि बिखरे हुए विचारों को यथाविधि लिख डालने से मुझे प्रबोध होगा, अर्थात् विचार परिपक्वता आ जायेगी—'भाषा-बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।।[१५] यही बात प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् और निबंध-लेखक लार्ड बेकन ने यह कह कर बताई है कि 'लिखना मनुष्य को परिपक्व बना देता है' (Writing makes a man perfect)। तीसरी बात तुलसी ने यह कही है कि सीताराम के यश-गुण-गान से न केवल मेरे मन और कर्म में पवित्रता आयेगी, वरन् मेरी वाणी (भाषा) भी पवित्र होगी। भणित भदेस वस्तु भलि वरणी। राम कथा जग मंगल करणी।।[१६] अथवा 'प्रभु सुयश संगति भणितिभलि होइहि सुजन मन भावनी।[१७] चौथी बात जो सबसे अधिक महत्त्व की तुलसी ने कही, वह है अपने अन्तस्थ में सुख-प्राप्ति को 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुलमातनोति'।[१८] आंतरिक (स्व+अन्तः) सुख आन्तरिक पवित्रता के बिना नहीं मिलता और आन्तरिक पवित्रता बिना हरिस्मरण अथवा हरि-कीर्तन के, जिनकी यथार्थता पर आगे कहेंगे, नहीं आ सकती। इसीलिए तुलसी ने कहा कि रघुनाथ-गाथा कहने का उनका प्रयोजन यही है कि वे आन्तरिक पवित्रता को प्राप्त कर अन्तःकरण में सत्य

---

१४. मानस बा० कां० १२।१।

१५. मानस बा० कां० ३० (ख)।२

१६. मानस बा० कां० ९।१०।

१७. मानस बा० कां० ९। छंद की तीसरी पंक्ति।

१८. मानस बा० कां० प्रारम्भिक मंगलाचरण का अंतिम पद।

सुख की अनुभूति कर सकें। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि तुलसी ने जब अन्य स्थानों पर भाषा को अनुपयुक्त अर्थात् भद्दी (भणित भदेस) कहा है[१९] तो यहाँ भाषा-निबंध को मंजुल क्यों कहा ? क्या इसमें विरोधापत्ति का दोष है ? नहीं, यथार्थ में तुलसी की दृष्टि से मंजुल रघुनाथ-गाथा है, न कि भाषा-निबंध। मंजुल रघुनाथ-गाथा के संसर्ग से भाषा-निबंध आलंकारिक प्रयोग में उसी प्रकार मंजुल कहा गया है, जिस प्रकार चंद्रमा के संसर्ग से हम रात्रि को ही उजेली रात कहते है, हालाँकि रात खुद का स्वाभाविक गुण अँधेरापन है।

समाज की दृष्टि से तुलसी ने रघुनाथ-गाथा भाषाबद्ध इसलिए की, कि जिस आदर्श राम को उन्होंने अपनाया है, वह वही सर्वव्याप्त निर्गुण-सगुण रूप है, जो संसार का नियंता, कर्त्ता-धर्ता आदि है। वही सृष्टि को उन्नति-पथ पर ले जाने वाला है। वही जरा-मरण द्वन्द्वात्मक जगत् से मुक्त करने का मार्ग-दर्शक है। उसी का प्रतिबिम्बन दशरथ के पुत्र पुरुषोत्तम राम के चरित्रों में पाया जाता है। जब ऐसे आदर्श को तुलसी ने अपनाया है, तो निस्संदेह उसके चरित्र-वर्णन से समाज को लाभ ही होगा। समाज भी उसी तरह पवित्रता तथा अन्तःकरणीय सुख प्राप्त कर सकेगा, जिस तरह की आकांक्षा तुलसी ने 'स्व' के विषय मे उपर्युक्त प्रकार से प्रकट की है। सच पूछा जाय, तो संत तुलसी के लिए लौकिक 'स्व' और 'पर' का कोई भेद ही नहीं रहता, जैसा पहले कहा जा चुका है। उनका 'स्व' सर्वसंसार के 'स्व' में लीन हो जाता है, या सर्वसंसार का 'स्व' उनके 'स्व' से सयुक्त हो जाता है ; इसलिए सैद्धांतिक दृष्टिकोण से वह सर्वसमाज का कल्याणकारी होगा, यही ध्येय रखकर तुलसी ने राम का चरित्र भाषाबद्ध कर मानस की रचना की। उसके कल्याणकारी गुण को उन्होंने सैकड़ों नहीं, सहस्रों बार दुहराया है ; परन्तु यहाँ उदाहरण-स्वरूप उनकी निम्न पंक्तियों को

---

१९. देखो फुटनोट १६ 'भणित भदेस वस्तु भलि वरणी' और बा० कां० १३।१० 'राम सुकीरति भणित भदेसा।'

ही देख लेना पर्याप्त होगा, जो उन्होंने बालकांड के प्रारंभ में ही मानस रचना के प्रबंध (Scheme) को बताते समय लिख दी है—'रामकथा जगमंगल करनी'[२०] 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'[२१] 'प्रिय लागहि अति सबहि मम, भणित रामयश संग'[२२] 'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही, मधुकर सरिस संतगुण ग्राही'[२३] इत्यादि।

शंका की रोक के लिए तुलसी के दो मूल निवेदन

यद्यपि 'राम कथा जगमंगल करनी' है, तथापि तुलसी का अनुमान हुआ कि उसमे कुछ ऐसी आश्चर्यमय अद्भुत बातों का उल्लेख करना पड़ेगा कि उन्हें सुनकर श्रोताओं को उनकी सत्यता में संदेह हो उठे, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए हमारी समझ में तुलसी ने एक लम्बी भूमिका लिख डाली है, जिसमें कुछ आवश्यक चेतावनियाँ पाठकों को दे रखी हैं, ताकि वे उक्त प्रकार के संदेहों में न पड़ें। पाठक पुनः स्मरण करें कि उन्होंने एक तो यह बताया कि राम अनन्त है और उनके गुण-रूप भी अनन्त हैं, और इसलिए उनकी कथा भी असीम और अथाह है। दूसरे, इसका पार जब देवी-देवता, जो गुणों के साक्षात् अतीव रूप (Personified qualities in abundance) माने जाते हैं, नहीं पा सकते, तो मनुष्य किस मूली की जड़ है। तिस पर तुलसी ने तो अपनी असमर्थता और दीनता का चित्र बड़ी विशिष्टता के साथ प्रस्तुत कर यहाँ तक कह दिया है कि जग के अवगुणियों में मेरी रेख प्रथम ही समझिए। यह सब प्रकट करने के बाद ही तुलसी ने समाज के लोगों से कहा कि मेरे द्वारा मानस में भाषाबद्ध की गई, इस संक्षिप्त-रूपिणी राम-कथा को सुन, यदि किसी के मन में तत्संबंधी कोई बात समझ में न आये, या आश्चर्यप्रद होने से अविश्वसनीय समझी

२०. मानस बा० कां० ९।१०
२१. मानस बा० कां० ९। छन्द प्रथम पंक्ति
२२. मानस बा० कां० १० (क)
२३. मानस बा० कां० ९।६

जाये, तो वे मुझे खोरी न दें, अर्थात् मुझ पर दोषारोपण न करें, क्यों कि मैंने जो कुछ उसमे लिखा है वह पूर्वकाल मे लिखे गये वेद-शास्त्र-पुराणादि तथा अन्य ग्रथों में कही हुई बातों को आधार मानकर ही तो लिखा है (नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि)।[२४] इसलिए यदि खोरी दी जाय, तो उनको दी जाय न कि मुझको, और वह भी तब, जब यह अच्छी तरह से जाँच लिया जाय कि किसने किस आधार पर किन परिस्थितियों में, क्यों और कब लिखा। फिर मैं तो, तुलसी कहते हुए प्रतीत होते है, उस परीक्षार्थी के समान क्षम्य हूँ, जो केवल मैट्रिक की योग्यता रखता हो, पर प्रेरणावश अथवा परवश ही कहिये (तदपि कहे बिन रहा न कोई), प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण एम० ए०, एम० एस-सी० (M. Sc.) आदि के साथ किसी उच्च विषय की परीक्षा देने बैठ गया हो और जब वे ही फेल हो गये, तब मेरी कौन बुनियाद; क्यो कि मैं अपनी योग्यता ही के अनुरूप तो अपना कार्य बता सकता हूँ। इतने पर भी यदि किसी ने मुझ पर शंका की तो, तुलसी का कहना है, वह मुझसे भी अधिक ओछी मतिवाला मूढ ही समझा जाने योग्य हो सकता है। यह कहा है उन्होंने—

समुझि विविध विधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहिं खोरी॥
एतेहु पर करिहहिं जे संका। मोहिं ते अधिक ते जड़ मति रंका॥[२५]

हमारे उक्त विवेचन पर ध्यान रखने से उन आलोचकों के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं रहता, जो यह कहते हैं कि तुलसी ने ये पंक्तियाँ इसलिए रच डाली हैं कि मानस के श्रोता चूँ-चपट न करें और अन्ध-विश्वासी बन जायें, या बने रहें। इन्हीं पंक्तियों के ठीक नीचे आपको निम्न पंक्तियाँ भी पढ़ने को मिलती है, जो इन शंका-ग्रस्त आलोचकों की आँखें खोलने के लिये पर्याप्त हैं—

---

२४. मानस बा० कां० प्रथम मंगलाचरण।

२५. मानस बा० कां० ११।७–८।

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥
जेहि मारुत गिरिमेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

इन पंक्तियों मे हमें प्रक्षिप्तता प्रतीत होती है, जो किसी ने बाद में उक्त प्रकार की शंका निवारण के लिए जोड़ दी हो। इसी प्रक्षिप्तता के कारण उन्हें हमारे पास की एक अप्रचलित अप्रक्षिप्त मंजु सस्करण नाम की रामायण में कई स्थानों पर यही कहा है कि 'हरि चरित्र अनूप है और उन्हें मैंने अपनी मति के ही अनुरूप कहा है।' (देखो उ० कां० १२२ (ग) १ और १२७ (१)।

शंकावरोध का उपाय

तुलसीदास ने भले ही कुछ कह दिया हो, पर क्या किसी के कहने से शंकाएँ रुक सकती हैं? वे तो तभी रोकी जा सकती है, जब श्रोता की बुद्धि निर्मल हो। शका-ग्रस्त स्थिति इन्द्रिय-जनित होती है। इद्रियों में बहुधा मन की गणना नहीं करते; परन्तु अनेक तत्त्वज्ञानी मन को ही प्रधान इन्द्रिय मानते हैं, क्योंकि मन सुषुप्त तो अन्य इन्द्रियाँ सुषुप्त, और मन जागृत तो अन्य इन्द्रियाँ जागृत हो जाती हैं। इसीलिए गीता मे 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि'[२६] और 'इंन्द्रियाणि दशैकं'[२७] आदि कहकर मन को भी इन्द्रिय कहा है। मन की व्यवस्थित गति ही बुद्धि कहलाती है; इसलिए यदि मन इन्द्रियो का राजा है, तो बुद्धि को उनका राजेश्वर तथा आत्मा को महाराजेश्वर कहना उचित होगा। तात्पर्य यह कि आत्मा को छोड़ ज्ञान के समस्त साधन इन्द्रिय ही होते हैं; इसलिए अभ्रम-ज्ञान-प्राप्ति के लिये अपनी इंद्रियाँ शुद्ध-अविचलित दर्पण के समान बनानी पड़ती है। कहते है, यथा राजा

---

२६. गीता १५।७।
२७. गीता १३।५।

तथा प्रजा। इस कहावत के अनुसार यदि बुद्धि अविकृत हो, तो अन्य ज्ञानेन्द्रियों से अभ्रम ज्ञान अवश्य मिलेगा। अविकृत बुद्धि दीप की उस लौ के समान कही गई है, जो बिना लेश-मात्र प्रकम्पन के सीधी जलती हुई प्रकाश दे रही हो। ऐसी स्थिर बुद्धि को गीता में, हमारी छोटी बुद्धि के अनुसार व्यवसायात्मिका बुद्धि[२८] इसलिए कहा है कि हर कर्म (व्यवसाय) में सिद्धहस्त होने के लिये उसकी आवश्यकता रहती है, बुद्धि की स्थिरता से ही विवेक होता है; इसलिए मानस के पाठको ने देखा होगा, तुलसी ने बार-बार कहा है कि बिना विवेक के ज्ञान नहीं होता, अथवा विवेक ही ज्ञान है। अतः भ्रम से बचने का उपाय है, बुद्धि की निर्मलता या विवेक का प्राप्त करना।

श्रोताओं की कोटियों के अनुरूप सन्देह-निरूपण

चूँकि पूर्ण विवेकी कोई नहीं होता; इसलिए जिस कोटि का विवेक क्रम श्रोता में होता है, उसी के अनुरूप उसमें सन्देह या भ्रम उत्पन्न होता है। अतः संदेह के रूपों का अनुमान लगाने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि तुलसी ने मानस के श्रोताओं को कितनी कोटियाँ निर्धारित की हैं। श्रोता वही हो सकता है, जिसे वक्ता के विषय को सुनने की रुचि हो; पर आपको ऐसे भी श्रोता मिलते हैं, जिन्हें रुचि तो नहीं होती, पर उन्हें कभी-कभी लोक-व्यवहार को निबाहने (जैसे—सत्यनारायण की कथा को सुनने जाना), कभी-कभी स्वार्थवश (जैसे—स्वतन्त्रता दिवस के समय राष्ट्रीय गीत में सम्मिलित होना), कभी-कभी परवश (जैसे—विजित लोगों का विजेताओं के द्वारा आयोजित प्रोग्रामों मे भाग लेना), कभी केवल कतर-ब्योंत के अभिप्राय से (जैसे—विरोधी दल के व्याख्यानों को सुनना) अथवा कभी और अन्य कारणों से सुनना पड़ता है।

---

२८. गीता २।४१।

(क) खल और अनधिकारी श्रोता

जिसे श्रवण करने की रुचि हो, वह श्रोता तथा पाठक जिज्ञासु होता है। उसका हस जैसा लक्ष्य रहता है--गुण लेना और अवगुण छोड़ देना। दूसरे वर्ग के लोग अजिज्ञासु होते है। इस दूसरे वर्ग में से कुछ तो ऐसे होते हैं कि इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया। उन्हें न गुण से मतलब, न अवगुण से। उन्हें न शंका न विश्वास; इसलिए, उन्हें उदासीन कह सकते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जिनका उद्देश्य केवल ठट्ठा-मजाक उड़ाने का रहता है। उनकी शकाएँ या प्रश्न ऐसे रहते हैं, मानो बिना पेंदी का लोटा हों। ऐसे ही लोगों को तुलसी ने 'खल' कहा है। इन लोगों की उपेक्षा करने से ही लाभ होता है। उनसे माथा-पच्ची करने की अपेक्षा चुप ही रहना अच्छा, क्योंकि बकवाद करने से व्यर्थ समय नष्ट होता है और शक्ति क्षीण होती है। यदि वक्ता के कथित विषय में तथ्य रहता है, तो एक ओर तो कुछ दिनों के बाद वे अपने-आप ठंडे पड़ जाते हैं, और दूसरी ओर उस विषय की महत्ता उत्तरोत्तर प्रकाशित होती जाती है। यही कारण है कि तुलसी ने हाथ जोड़ उनकी वंदना कर ली और कह दिया—

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥
हंसहि क दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल विमल वतकही॥[२९]

उदासोन और खलों के अतिरिक्त अरुचिवाले वर्ग में कुछ लोग ऐसे भी होते है कि जिनका रुझान या ध्यान वक्ता के विषय में न रहकर उसके विपरीत गुणवाले विषयों में लगा रहता है। चूँकि इन लोगों का मन दूसरी जगह रखा रहता है; इसलिए वे वक्ता के विषय को न अच्छी तरह सुनते और न समझने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने इस मूल दोष से मुक्त होने की चिन्ता तो नहीं करते; बल्कि उसे अन्तस्थ में लपेटे रखने की हठ-सी पकड़े रहते हैं, और यदि कोई विद्वान् (द्विज) उनसे उसे त्यागने के लिये कहे, तो

---

२९. मानस बा० कां० ८।२।

वे उसे अपना बैरी-सा समझने लगते है। इन लोगों को रामकथा के अनधिकारी कहा जाय, तो ठीक ही होगा। तुलसी ने उन्हें 'द्विजद्रोही हठशील, शठ' कहा है। इनकी शकाएँ बेतुकी, बेसिर-पैर की होती हैं; इसलिए उनसे भी उलझकर समय और शक्ति बरबाद करना व्यर्थ है। रामकथा के भावों को वही समझ सकते है, जो विषय-लम्पट नहीं होते। विषय मनुष्य के बड़े बैरी कहे जाते हैं। गीता ने केवल एक मूल बैरी 'काम' (Desire) को ही पकड़ लिया है, और चूँकि 'क्रोध' 'काम' से ही उत्पन्न होता है, इस लिए काम और क्रोध दोनों को एक रूप 'काम एष क्रोध एष .. वैरिणम्'[३०] कहकर बैरी कहा है। इसी काम से 'लोभ' और 'मद' की भी उत्पत्ति होती है। इसलिए, कहीं-कही काम, क्रोध, लोभ और 'मद इन चारों का उल्लेख पाते है; परन्तु तुलसी ने इस प्रसग मे केवल काम, क्रोध और लोभ का ही उल्लेख किया है, और कहा है कि ऐसे लोगों को, जो इन बैरियों के पंजों में जकड़े हों, जो उन्हे छोड़ने को तैयार न हों तथा जो विद्वान् (द्विज) सलाहकारों से द्रोह करने वाले हों, वे शठता को प्राप्त होते है। अतः उन्हें भी कोई अधिकार नहीं कि वे रामकथा को सुनें और अट-सट तीतर-बटेर सी शंकाएँ करते फिरें। यह कहा है तुलसी ने उनके विषय में—

यह न कहिअ सठ ही हठ सीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥[३१]

इससे हमें प्रतीत होता है कि तुलसी के मन्तव्य में मानस के अरुचि वाले खल और अनधिकारी श्रोता तथा पाठक उपेक्षणीय हैं। उनके प्रति यही नियम हर जगह बरता भी जाता है।

---

३०. गीता ३।३७।

३१. मानस बा० कां० १२७।३–५।

(ख) अधिकारी श्रोता, उनके लक्षण और वर्ग

अब हम रुचि वाले जिज्ञासुओं की ओर मुड़ते है। हर कर्म में सिद्धि प्राप्त करने के हेतु उसके जिज्ञासु मे जो गुण होना चाहिए उन्हीं को आप देखेंगे। तुलसी ने रामकथा के जिज्ञासु के बारे में बताया है, इस संबंध में उनकी प्राथमिक पक्तियाँ ये हैं—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुन लागहि फीकी॥
हरिहर पदरति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की॥[३२]

उक्त पंक्तियों में जो महत्त्व हमें दिखाई देता है, वह निम्न प्रकार से देखिए—(१) पहली पंक्ति मे 'प्रभु' शब्द आया है, तो दूसरी मे 'हरि' और 'हर' क्यो आये है ? (२) पहली मे पद-प्रीति कहा है। तो दूसरी में पद-रति कहने का क्या तात्पर्य है ? और (३) 'पद' शब्द का क्या महत्त्वार्थ है ?

(१) यद्यपि सत् एक है ; पर उसके गुण अनन्त है। इसलिए, गुण-प्रदर्शनार्थ उसके नाम भी अनेक है। हर नाम का निरूपण किसी गुण या गुणों के आधार पर किया गया है। कभी-कभी एक ही नाम एक से अधिक या सर्वगुणों का द्योतक होता है, और कभी एक ही गुण को बताने वाले एक से अधिक नाम मिलते है। सृष्टि के विधान मे तीन गुण प्रधान है ; यथा—रचना या सृजन (Creation), रक्षण या पालन (Preservation) और त्याग या निर्वाण (Non-attachment or Renunciation) इन तीनों क्रियाओं को हिन्दू-संस्कृति में त्रिदेव कहते हैं, जिनके प्रचलित नाम है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश। विष्णु को हरि और महेश को हर भी कहते हैं। तुलसी ने 'हरि' का प्रयोग कभी सर्वगुण सम्पन्न सत् के लिए किया है, अर्थात् उपर्युक्त तीनों गुण उसके अन्तर्गत आ जाते है और कभी केवल एक गुण वाले 'विष्णु' के लिए ; परन्तु 'हर' सर्वत्र केवल महेश का प्रतीक माना

---

३२. मानस बा० कां० ८।५-६।

जाता है ; इसलिए जब उपर्युक्त दूसरी पंक्ति में 'हरि' 'हर' के साथ आया है, तब 'हरि' का अर्थ केवल 'विष्णुवाचक' ही हो सकता है। अक्षरार्थ की दृष्टि से 'प्रभु' (प्र+भु) शब्द का अर्थ होता है 'वृद्धि-सूचक शक्ति' (Dynamic force) क्योंकि 'प्र' का अर्थ है 'आगे बढ़ना' (Forward) और 'भु' का अर्थ है 'होना' (To become)। इस तरह पहली पंक्ति में 'प्रभु' शब्द मे उपर्युक्त तीनों क्रियाओं का भाव इस तरह निहित है कि ईश्वरीय सत्ता स्थिर रूप (Static) नहीं है, बल्कि वृद्धि-सूचक (Dynamic) है। तुलसी ने मानस में इस 'प्रभु' का प्रयोग भी, जहाँ तक हमे पता है, सर्वत्र सर्वगुण सम्पन्न सत्ता के लिये किया है। यदि अक्षरार्थ की दृष्टि से 'प्रभु' का अर्थ 'ब्रह्मा' (Creative force) ही लिया जाय, तो भी जिस महत्त्व को हम बताना चाहते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं होती। सारांश यह कि 'रघुवर की कथा' मे उपयुक्त त्रिदेवात्मक अर्थात् त्रिक्रियात्मक भाव रहता है।

(२) 'प्रीति' और 'रति' का भेद स्पष्ट है, परन्तु वाचक उसके महत्त्व पर ध्यान नहीं रखते। 'प्रीति' किसी वस्तु या गुण-विशेष की ओर आकर्षित करती है, और रति उसमें रम जाने, संलग्न हो जाने या तल्लीनता के भाव को बताती है। मग्न हो जाने पर ही विषय की विशिष्टताएँ झलकती हैं।

(३) भक्ति विषयक ग्रन्थों या वार्त्तालापों में बारंबार 'पद' या 'चरण' अथवा 'पदकमल' का 'चरणकमल' आदि शब्द मिलते हैं। भक्तिमार्गियों की पूजन-विधि तथा मूर्त्तिकारों एवं चित्रकारों की तत्संबन्धी कला ने हमें इन शब्दों के मूल भावों से इतनी दूर कर दिया दिया है कि हमे स्वप्न में भी उनका विचार नहीं आता। 'पद' और 'चरण' मूलतः स्थिति-विशेष के द्योतक हैं, न कि 'पाँव' के। आज भी हम 'प्रधान-पद', 'मंत्री-पद', 'पद-लोलुप' आदि शब्दों का प्रयोग स्थिति-विशेष के लिए करते हैं। 'चरण' 'चर' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'चलना'। इसी मूल भाव के अर्थ में आज भी 'चरित', 'आचरण' आदि का प्रयोग किया जाता है ; अतः

'पद-प्रीति' और 'पद-रति' में स्थिति-विशेष का भाव समझकर ही पढ़ना चाहिए न कि शिला-मूर्त्ति या कागजी झाँकी के पाँवों की विचारशून्य पूजा का भाव समझकर।

(१) **पद-रत अधिकारी**—अब इस प्रारम्भिक भूमिका के बाद देखा जाय कि तुलसी ने किन लोगों को किस प्रकार के अधिकारी कहा है। वे, हमारी समझ में, तीन प्रकार के कहे गये है। एक वे, जो पद-रत हों; दूसरे वे, जो नीति-रत हों और तीसरे वे, जो भक्ति-रत हों। इन तीनों के लिए एक सर्वमान्य आवश्यकता यह तो है ही कि उनमें प्रभु-पद-प्रीति अर्थात् राम, रघुवर, या प्रभु नाम्नी उपर्युक्त त्रिक्रियात्मक उपाधि (पद) के प्रति प्रीति या रुचि हो। बिना प्रीति के सुनने की आकाक्षा ही नहीं हो सकती। आकांक्षा के साथ ही समझने की शक्ति (सामुझि नीको) होनी चाहिए और कुतर्की नहीं होना चाहिए, तभी श्रोता में दत्त-चित्त (रत) होकर श्रवण करने और चिन्वन करने की क्षमता आ सकती है। चित्त-वृत्तियों का निरोध कर (चित्त-वृत्ति-निरोधः योगः)[३३] आत्मस्थिरता, अथवा समत्व को प्राप्त (समत्वं योग उच्यते)[३४] करनेवाला योगी ही अपने कार्य में रत कहाने का अधिकारी हो सकता है। रामकथा में रत हो जाने वाले श्रोता को ही उसमें माधुर्य और आनन्द मिलता है। जो मनुष्य अपने कार्य में रत होकर उसे सम्पन्न करने का प्रयास करता है, उसे बहुधा कार्य-रत कहते है; परन्तु तुलसी ने कथा-संबंध के कारण उसे पद-रत कहा है। यही उक्त दो पंक्तियों का सार है। कार्य-रत की विशेषता यह है कि वह किसी कठिनाई या सन्देह से विचलित नहीं होता। उसका नेपोलियन के समान, कहना रहता है कि 'असम्भव शब्द कोश से निकाल देना चाहिए'। तात्पर्य यह कि वह आत्मबल पर भरोसा करने वाला होता है। यही स्थिति तुलसी के पद-रती की समझना चाहिए। यदि किसी स्थिति-विशेष सूचक किसी शब्द या पद या वाक्य को देखकर

---

३३. पातंजल योग शास्त्र १।

३४. गीता २।४८।

कोई शंका उसके मन मे कथा संबंधी उठती है, तो वह उस पर बार-बार आत्म-चिन्तन और शास्त्र-चिन्तन (शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय)[३५] के द्वारा उसका निराकरण स्वयं कर लेता है ।

(२) नीति-रत अधिकारी—पद-रत और नीति-रत अधिकारी में यह भेद है कि पद-रत को अपने बल का भरोसा रहता है और नीति-रत को पराये बल का। यही भाव तुलसी की निम्न पंक्तियों से निकलता है—

'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिनके सत संगत अति प्यारी।।
गुरु पद प्रीति नीति-रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई' ।।[३६]

समाजहित-चिन्तन की दृष्टि से महापुरुषों द्वारा निर्धारित नियमों को नीति कहते है। उन नियमों का तन-मन-वचन से जो प्रतिपालन करे, वही नीति-रत होता है। कम बुद्धि या विद्या वाले अधिक बुद्धि या विद्या वालों से सीखें, यह महापुरुषों और शास्त्रों का सर्वमान्य नियम है, इस मूल नियम पर विचार करके तुलसी ने उक्त पंक्तियों में यह दर्शाया है कि राम-कथा में रुचि रखने वाले श्रोताओं को अपनी कठिनाइयों या शंका का निवारण, यदि वे स्वयं नहीं कर सकते, तो अपने से अधिक जानने वालों की सहायता से कर लेना चाहिए। ये अधिक जानने वाले तीन वर्ग के लोग कहे गये है—(१) सत्पुरुष, (२) गुरु और (३) द्विज।

सत्याचरण-शील पुरुष सत्पुरुष कहलाता है। शास्त्रों से अनभिज्ञ अथवा विद्याहीन अविद्वान् भी सत्पुरुष हो सकता है; क्योंकि आचारों की ही उसमें प्रधानता मानी जाती है। वह आत्मानुभूतियों (self realisation) के द्वारा कठिनाइयों या शंकाओं को सुलझाने मे सहायक हो सकता है।

'गुरु' शब्द से लोग उस पुरुष को समझा करते है, जिसने आर्य-संस्कृति

---

३५. मानस आर० कां० ३६।८ ।

३६. मानस उ० कां० १२७।६–७।

विधान के अनुसार दीक्षा ही दी, और चूँकि इस प्रकार के गुरु केवल कान फूँकने वाले हो गये, इसलिए गुरु-सेवा, गुरु-भक्ति आदि शब्दों को सुनकर चिढ-सी आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। यथार्थत: 'गुरु' मे गरुअता अथवा श्रेष्ठता का भाव निहित है; इसलिए हर भली भाँति सस्कृत मनुष्य, जो तम को मिटाकर हृदय-नेत्र खोल सके, वह गुरु-पद का अधिकारी है। केवल दीक्षा देने वाले या अन्य शिक्षा देने वाले व्यक्ति-विशेष से तुलसी का अभिप्राय प्रतीत नहीं होता; क्योंकि व्यक्ति-विशेष से हर समय सम्पर्क रखना असम्भव है।

जिस प्रकार 'गुरु' शब्द सुनकर लोग नाक-भौह सिकोड़ने लगते हैं, उसी प्रकार द्विज-सेवा आदि सुनकर क्रुद्ध हो जाते है। 'द्विज' से प्राय: सभी 'ब्राह्मण' का अर्थ लगा लेते है; और चूँकि आजकल ब्राह्मण बहुतायत से पथ-भ्रष्ट हैं, इसलिए द्विज-सेवा आदि सुनकर भी लोग नाराज हो जाएँ, तो कोई अनहोनी बात नहीं समझनी चाहिए। यथार्थत: द्विज शब्द विद्याधर या विद्वान् का द्योतक है। जन्म-संस्कार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए, यह कदापि न समझा जाय कि ज्ञान-शिरोमणि तुलसी ने 'गुरु' और 'द्विज' का प्रयोग संकुचित अर्थ मे किया है। तुलसी का तात्पर्य इतना ही है कि ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों की सेवा-शुश्रूषा कर उनसे अपनी रामकथा विषयक शंकाओं का समाधान करा लेना चाहिए। ठीक ऐसा ही निर्देश गीता में दिया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥[३७]

अर्थात्—यदि तुम्हें ज्ञान प्राप्त करना है, तो उन ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों के पास जाओ, जो तुम्हें बताने को तैयार हों और उन्हे साष्टांग प्रणाम कर अथवा उनकी सेवा कर, जब वे प्रसन्न हों, तब उनसे आवश्यक प्रश्न, उप-प्रश्न (परि+प्रश्नेन) पूछ अपनी शंकाओं का समाधान करो।

---

३७. गीता ४।३७।

(३) **भक्ति-रत अधिकारी**——पद-रत और नीति-रत अधिकारियों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के अधिकारियों का वर्णन मानस मे उस प्रसंग में मिलता है, जब याज्ञवल्क्य मुनि राम-कथा के वक्ता और भरद्वाज मुनि उनके श्रोता थे। दोनों एक समान आचरणशील, एक समान तत्त्वदर्शी, एक समान हरिचरित्रों के ज्ञाता, एक समान सृष्टि-हितचिन्तन से प्रेरित, भूत-वर्तमान-भविष्य को परखने वाले और एक समान हरि के भक्त थे। जब वक्ता और श्रोता मे इस प्रकार की समताएँ मिल जाती हैं अथवा जब वे दोनों एक ही स्तर वाले होते है, तो वे राम-विषयक जटिल प्रश्नों पर परस्पर वार्त्तालाप कर **विवेचना** करने योग्य होते हैं। ये है तुलसी की वे पक्तियाँ, जिनमें हमे उक्त भाव मिलता है—

'ते श्रोता बकता समसीला। समदरसी जानहिं हरि लीला।।
जानहिं तीन काल निज ज्ञाना। करतलगत आमलक समाना।।
औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना।।'[३८]

तीसरी पंक्ति विशेष महत्त्व की है। उसमे "औरउ जे" से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह प्रथम दो पंक्तियों से असंबंधित है और किन्हीं दूसरे 'हरि-भक्तों' के विषय मे कहती है। उसका अर्थ यह है कि श्रोता और वक्ता दोनों में जब अन्य और गुणों की समता के अतिरिक्त, जिनका वर्णन प्रथम दो पंक्तियों में किया गया है, ज्ञानमय हरिभक्ति (हरिभगत सुजाना) और होती है, तभी श्रोता वक्ता की श्रेणी का होकर केवल 'सुनने' और 'समझने' वाला अधिकारी न रहकर 'कहने' का भी अधिकारी बन जाता है, इसीलिए तीसरी पंक्ति के दूसरे चरण में 'कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना' कहा गया है। ज्ञानी होना या हरि-लीला जान लेना एक बात है, जैसा प्रथम दो पक्तियों मे बताया गया है, और ज्ञानी हरिभगत होना बिलकुल दूसरी बात, जैसा तीसरी पंक्ति में कहा है। जानना (ज्ञान) और

---

३८. मानस बा० कां० २९ (ग) ६–८, नोट—आमलक=आँवला, जो आसानी से उलट-फेर कर चारों तरफ़ से देखा जा सकता है।

तदनुसार आचरण करना---इन दोनों बातों के होने से ही भक्त-पद प्राप्त होता है ; अतः जब श्रोता राम-कथा के वक्ता के समान सुजान (ज्ञानी) हरिभक्त हों, तब ही वह उसके साथ राम-कथा पर विवेचनात्मक या आलोचनात्मक वार्तालाप करने के योग्य बन सकता है। ऐसे अधिकारी श्रोता को 'भक्ति-रत' कहना हमारी समझ मे, उपयुक्त है। जो अधिकारी भक्ति-रत नहीं होता, उसे तुलसी ने सुनने और समझने का ही अधिकारी बताया है, जैसे 'पैहहिं सुख सुनि सुजन जन'[३९], 'सो विचारि सुनहहिं सुमति'[४०] अथवा 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन'[४१] इत्यादि।

मानस में जिज्ञासु और आलोचक का अधिकार-क्षेत्र

निष्कर्ष रूप से अब यह कहा जा सकता है कि खल और विषय-लोलुप अनधिकारियों के तात्पर्य या शंकाओं को परिहास या प्रलापमात्र समझकर ही छोड़ देना चाहिए और पूर्वोक्त पद-रत, नीति-रत तथा भक्ति-रत अधिकारियों के प्रश्नों पर विचार कर उनका समाधान ढूँढना चाहिए। परन्तु, जब तक प्रश्नकर्त्ता सामने न हो अथवा जब तक उससे पूर्व-परिचय न हो, तब तक केवल प्रश्न को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह अधिकारी है या अनधिकारी, खल है या सुजन ; इसलिए सभी शंकाओं को दो वर्गों में विभक्त कर लेने से काम चल सकता है। एक जिज्ञासुओं की शंकाएँ, और दूसरे आलोचकों (विवेचकों) की। मानस में कथित किसी बात के सबध में जब कोई ऐसा प्रश्न उठाया हुआ देखा जाय कि जिससे यह मालूम पड़े कि प्रश्नकर्त्ता केवल तत्संबंधी कठिनाई का हल चाहता है, तब उससे यह समझा जा सकता है कि वह जिज्ञासु की शंका है। इस प्रकार की शंकाएँ कुछ तो भावार्थ की कठिनता से उत्पन्न होती हैं और अधिकतर भावार्थ

---

३९. मानस बा० कां० ८।
४०. मानस बा० कां० ९।
४१. मानस बा० कां० २।

को न समझ सकने के कारण। कुछ लेखकों ने इस प्रकार की अनेक शंकाओं और उनके समाधानों को, अपने-अपने अनुरूप स्वयं प्रश्नकर्त्ता या समाधानकर्त्ता होकर प्रकाशित किया है, परन्तु उन्हें देखने से यही प्रतीत होता है कि उनमें से अनेक प्रश्न तो लेखक महोदय ही के मन मे उठे हुए रहते है और वही उनका समाधान भी निकाल लेते हैं। इन्हीं लोगों को पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार कार्य-रत और तुलसी के शब्दों में, पद-रत कहा जा सकता है। सच कहा जाय, तो इन लोगों की पुस्तकों या लेखों में बहुत-सी ऐसो बातें रहती ही नहीं, जिन पर अच्छे-से-अच्छे मननशील श्रद्धावान् को भी शंकाएँ उठा करती है, या उठ सकती है, और जिनका, जब तक कि उन्हें कल्पनात्मक कहकर न टाला जाय, समाधान भी वैज्ञानिक रूप से करना बड़ा कठिन होता है। इस प्रकार की प्राय: सभी शंकाएँ मानस में कथित पौराणिक आख्यानों से उत्पन्न होती है, जैसे ईश्वर के दो द्वारपाल; जय और विजय का होना, तथा श्रापवश उनका हिरण्याक्ष और हिरण्य-कश्यप होना, और फिर रावणादि का होना, सीता का हल की नोक से पृथ्वी में से उत्पन्न होना, अथवा पार्वती का हिमाचल पर्वत की पुत्री होना इत्यादि।

इसके विपरीत जब शंका के साथ-साथ कोई शंकाग्रस्त मानस मे कथित तुलसीमत अथवा 'नाना पुराणनिगमागम सम्मतं' कथा या आख्यान को गलत बताकर अपना कोई नया निदान निकाले, तो उसकी शंकाओं को, हमारी समझ में, आलोचक की शंकाएँ कहना उपयुक्त होगा, जैसे कोई ईश्वर व अवतार को न माने और प्रकृतिवाद में सत्यारोप करे, अथवा समुद्र में पत्थरों के तैरने को तथा पर्वत समेत हनुमान के आकाश मार्ग से उड़ने आदि को झूठा कहता हुआ तुलसी पर अन्धविश्वासादि का दोषा-रोपण करे। इस प्रकार का शंकाग्रस्त श्रोता, यद्यपि आधुनिक दृष्टिकोण से समालोचक की श्रेणी में भले ही मान लिया जाय, तथापि हमारी समझ में, तुलसी के मत में, समशील-समदर्शी-त्रिकालज्ञ-भक्ति-रत नहीं माना जायगा; और इसलिए वक्ता के समस्तर का न होने के कारण वह रामकथा के विषय (Theme) पर विवेचन करने या अपने निदान निकालने का अधिकारी

नहीं हो सकता। तब फिर रजनीकांतजी-जैसे मीमांसकों के समान सम्भवत: आप भी कह बैठें कि तुलसी स्वयं अन्धविश्वासी था, और उसने अपनी इस 'भक्ति-रत' वाली अनोखी उपर्युक्त चाल से दूसरे स्वतंत्र विचारकों को भी अपनी नाई अन्धा बनाये रखना चाहा है। बात ऐसी नहीं है। आइन्सटीन (Einsteine) या जगदीशचन्द्र बोस की आलोचना वही कर सकता है, जो उनके जैसा विज्ञान-रत हो, यह कोई भी साधारण बुद्धि का व्यक्ति जानता है। तब तुलसी ने यदि वाल्मीकि-भरद्वाज का दृष्टांत देकर भक्ति-रत कह दिया, तो इसमे क्या अनोखापन है? तुलसी ने केवल अनधिकृत स्वच्छन्दता की रोक के लिए उसी प्रकार चेतावनी दे रखी थी, जैसी हर महापुरुष या हर क्रान्तिकारी मनुष्य दे रखता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि हर महापुरुष जब समाज मे किसी नवीन योजना के आधार पर आन्दोलन करना चाहता है. तब वह अपनी योजना के प्रचार व संचालन की बागडोर अपने हाथ में ही सम्हाल कर रखना चाहता है, ताकि जो उसकी तह में नहीं पहुँचते, उसके आन्दोलन को अपने दूषित प्रचार या संचालन के द्वारा किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा सकें। इस रोक के दो तरीके होते है—एक हिंसात्मक तरीका, अर्थात् बल (Physical force) के द्वारा रोकना, जैसे रूसी क्रान्तिकारी स्टालिन का और दूसरा अहिंसात्मक अर्थात् शान्तिपूर्वक लोगों को समझा-बुझाकर अनधिकृत या नासमझ लोगों को रोकना; जैसे—भारतीय क्रान्तिकारी गांधीजी का। आपको स्मरण होगा कि अहिंसात्मक असहयोग के द्वारा क्रांति लाने के हेतु गांधीजी अन्य लोगों से निरंतर यही कहा करते थे कि उसकी विशिष्टता को वे ही जानते है; इसलिए उसका समझाने या संचालन का काम कोई दूसरा अपने हाथ मे न ले, नही तो क्रान्तिमय उद्देश्य असफल हो जायगा। चूँकि उनके इस आदेश का प्रतिपालन नहीं हो पाता था, इसलिए उन्हें अपने उक्त आन्दोलन को कई बार स्थगित करना पड़ता था और प्रायश्चित्त के रूप में उपवास आदि भी कई बार करने पड़ते थे। यही अहिंसात्मक रोक का भाव तुलसीदासजी के 'समशील' आदिवाले उक्त कथन में निहित है, ऐसा हमारा मन्तव्य है;

क्योंकि उनका विचार था कि राम-मंत्र के द्वारा समाज में क्रान्ति लाई जाय; जिस प्रकार कि अहिंसा-मंत्र को फूँककर गांधीजी लाना चाहते थे। उसी क्रांति को लाने के हेतु उन्होंने अपनी एक योजना तैयार की थी, जिसके प्रचार के लिए उन्होंने रामचरित-मानस की रचना की। जो लोग यह समझ कर मानस पढ़ते हैं कि वह एक कौटुम्बिक कलह या कौटुम्बिक प्रेम का या कि वह केवल स्त्री-हरण के कारण महायुद्ध का ग्रन्थ हैं, या कि उसमें निरी माला फेरने की रामभक्ति का उपदेश है, वे बेचारे इस बात से नितांत अनभिज्ञ हैं कि उनमें महाक्रांति फूँकने का एक महा संदेश है। जिस ग्रंथ में सर्वजगत् के कर्त्ता और नियन्ता को ही आदर्श बनाया हो, जिस ग्रंथ में ऐसे महापुरुष को पूज्य पथ-प्रदर्शक कहा हो, जिसमें उस सर्वशक्तिमान महाप्रभु का सबसे अधिक समाजोपयोगी स्फुरण हुआ हो, तथा जिस ग्रंथ में नर को नारायण तक बनने की क्षमता रखी गयी हो, उसी में यदि कोई सामाजिक क्रांति का मंत्र न देख पाये, तो हमारी समझ में वह न मानस को समझ सका और न तुलसी को। यदि मानस को अपने एक निराले ढंग का तुलसी की क्रातिकारिणी योजना का, मार्क्स के घोषणापत्र (manifesto) जैसा घोषणा-पत्र कहा जाय कि गांधी का जैसा 'हिन्द स्वराज्य' (Indian Home Rule) कहा जाय, तो अनुपयुक्त न होगा।

: ५ :

तुलसी की विचारधारा पर आरोपित दोष और उनके निराकरण

तुलसी पर त्रिविध दोषारोपण

प्रथम अध्याय में हम कह चुके हैं कि तुलसी कुछेक लोगों को छोड़ सभी की दृष्टि में महासन्त थे। इनमें वे लोग हैं, जिनकी धारणा यह है कि तुलसीदास (१) केवल हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-धर्म के सुधारक थे अर्थात् उनमें साम्प्रदायिकता थी ; (२) हिन्दू-जाति के अन्तर्गत भी उनमें सब लोगों के प्रति एक समान प्रेमभाव नही था। वे ब्राह्मणों के पक्षपाती थे और शूद्रों के द्रोही और (३) उन्होंने नारी-वर्ग का पर्याप्त तिरस्कार किया और इसलिए समाज के सम्मुख अपराधी हैं।

(१) हिन्दू साम्प्रदायिकता का दोषारोपण और उसका निराकरण—अतएव इस अध्याय में हमें इन दोषारोपणों पर अपना मत प्रकट करके यह बताना है कि वे निर्मूल हैं। तुलसीदासजी का कार्य-क्षेत्र किसी सम्प्रदाय-विशेष, जाति-विशेष, वर्ग-विशेष के हित या अहित के दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं था, भले ही तत्कालीन परिस्थितियों-वश उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र को सीमित रखना पड़ा हो। उनका कार्य-क्रम एकात्म भाव से प्रेरित था, और इसलिए वे न केवल सन्त ही थे, वरन् महासन्त थे, यही हमें इस अध्याय में बताना है। यदि सिद्ध नहीं हुआ, तो प्रथम अध्याय में हमारे द्वारा क्रांतिकारी महापुरुष के बताये हुए लक्षणों मे कमी आ जाने से तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष कहाये जाने के अधिकारी न बन सकेंगे।

(क) हिन्दू-धर्म स्वाभाविक नियमों (Natural Laws) पर आधारित है—तुलसी हिन्दुस्तान में हिन्दू माता-पिता के घर जन्मे और हिन्दू-संस्कृति में पाले-पोसे गये। उन्होंने कबीर आदि सन्त कहाये जाने वाले सुधारकों का अनुकरण न कर हिन्दुओं के चिरकालीन वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाई, और वह भी हिन्दी भाषा के द्वारा तथा हिन्दुओं के ईश्वरवाची 'राम' के नामाधार पर। ऐसी स्थिति में जब कि हिन्दुस्तान में न केवल हिन्दू जाति ही थी, वरन् मुसलिम जाति भी बस गई थी तथा कुछ लोग उनका मेल कराने के लिए हिन्दुओं की जाति-पाँति तोड़कर उन दोनों का खान-पान का पारस्परिक व्यवहार बढाने एवं मूर्ति-पूजा आदि की सार्थकता मिटाने मे संलग्न थे, तब यदि तुलसी की उपर्युक्त योजना को देखकर कोई उन पर साम्प्रदायिकता का दोष लगाने के लिए खड़ा हो जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं; परन्तु इसे केवल भ्रम से उत्पन्न प्रतीति-मात्र ही समझना चाहिए। यदि रामचरित-मानस को ही विचारपूर्वक पढा जाय, तो विदित होगा कि यद्यपि तुलसी ने उसकी इमारत हिन्दुओं के शास्त्रों के आधार पर खड़ी की है, तथापि उसमें उन अटल प्राकृतिक स्वाभाविक अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश है, जिनके पालन से सार्वदेशिक समाज सुख-लाभ प्राप्त कर सकता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आर्य-संस्कृति के पोषक आर्यशास्त्रों में मूलत: उन्हीं सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है, जो सर्वजातीय-सर्वकालीन मानव-समाज को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त हैं। यही कारण है कि आधुनिक काल के महाक्रान्तिकारी महात्मा गांधीजी ने, जिनके व्यवहार-कुशल तत्त्वज्ञ होने मे कोई संदेह नहीं है, तुलसीकृत रामायण की प्रशंसा उसी प्रकार की है, जिस प्रकार श्रीमद्भागवत गीता की की है। उन्होंने कहा है कि "जितना आनन्द मुझे गीता या तुलसीकृत रामायण के गान में मिलता है, उतना अन्य और किसी प्रकार से नहीं मिलता।"[१] "रामायण, और नहीं तो कम-से-कम मेरे लिए

---

१. यंग इण्डिया, ६-१०-१९२१ ई०।

प्राय: अद्वितीय ही है.....पुस्तक में आत्मीयता का जो संचरण है, उसी ने मुझे मंत्र-मुग्ध कर बाँध लिया है।"[२] तुलसीकृत रामायण का सारा विषय तुलसी ने वर्णाश्रम-धर्म के सूत्र में बाँधा है और गाधीजी भी वर्णाश्रम-व्यवस्था के कट्टर पक्षकार थे। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि "मेरी सम्मति तो यह है कि वर्णाश्रम मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है और हिन्दू-धर्म ने उसे केवल वैज्ञानिक रूप दे दिया है। वह निस्सन्देह जन्म से सम्बन्धित रहता है, (It does attach to birth)। मनुष्य अपना वर्ण, जब जी चाहे तब नहीं बदल सकता। अपने वर्ण का त्यागना, मानो परंपरागत अधिनियम का उल्लंघन करना है (Not to abide by one's Varna is to disregard the law of heredity)। परन्तु असंख्य जातियों में विभक्त हो जाना, उस सिद्धान्त का अवांछनीय दुरुपयोग है। चार विभाग ही सर्व प्रकार से पर्याप्त है।......वर्णाश्रम, आत्म-संयम और शक्ति-सचय एवं शक्ति की मितव्ययिता का द्योतक है। इसलिए, यद्यपि वर्णाश्रम का अन्तर्जातीय भोजन तथा अन्तर्जातीय विवाह से कुछ बिगड़ता नहीं है, तथापि वह विभक्त वर्णों के बीच अन्तर्जातीय भोजन वा विवाह के लिए प्रोत्साहित नहीं करता।"[३] इस प्रकार गाधीजी ने एक बार ही नहीं, अनेक बार अपने भाषणों, लेखों तथा वक्तव्यों में आधुनिक व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से वर्णाश्रम के विशेषकर वर्ण-विभाग के महत्त्व की प्रस्थापना की है। जिस किसी को उनके तत्सम्बन्धी विचारों को विशिष्ट रूप से जानने की इच्छा हो, वे 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर (Navajivan Publishing House) अहमदाबाद' से प्रकाशित 'हिन्दू धर्म' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के तेरहवें अध्याय को पढें। उसमे उनके तद्विषयक उन लेखों, वक्तव्यों तथा प्रश्नोंत्तरों का संकलन किया गया मिलेगा, जो उनके 'यंग इण्डिया' तथा 'हरिजन' नामक पत्रों में समय-समय पर निकलते रहे थे।

---

२. वही २७-८-१९२५ ई०।

३. वही ६-१०-१९२१ ई० (हिन्दू-धर्म, पृ० ३७४)।

(ख) आश्रम-व्यवस्था में स्वाभाविकता—अब आइए, हम स्वयं देखें कि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म किस तरह स्वाभाविक नियमों पर आधारित होने के कारण सर्वदेशीय और सर्वजातीय है, अथवा होना चाहिए। पहले आश्रम-व्यवस्था को ही लीजिए ; क्यों कि वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा उसका समझना सरल है।

किसी भी समाज के किसी भी मनुष्य के जीवन को परखिए, तो विदित होगा कि उसे अपने जीवन-काल मे चार प्रकार की अनुभूतियाँ अपने-आप होती है। प्रथम तो यह कि बाल्यकाल से लेकर यौवनकाल तक उसे सीखने-पढने-जानने अर्थात् ज्ञान-प्राप्त करने की इच्छा होती है। फिर युवावस्था आने पर विवाहादि की ओर उनका मन जाता है, तथा सन्तान या गृहस्थी की ओर प्रवृत्ति बढती है। तीसरी सीढी उस समय प्रारम्भ हो जाती है, जब उसका मन गृहस्थो के बखेड़ों से ऊबना प्रारम्भ होने लगता है। ऐसी प्रवृत्ति उम्र के ढलकने के साथ-ही-साथ आरम्भ होने लगती है। चौथी प्रवृत्ति का प्रारम्भ बुढापा आने पर होता है। उस समय मनुष्य-मात्र की इच्छा यही होती है कि गृहस्थी छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाय। बस, इन्हीं चार स्वाभाविक प्रवृत्तियों का नाम हिन्दू-शास्त्रकारों ने आश्रम कहा है। यह एक स्वयं-सिद्ध सत्य है कि यदि स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उचित प्रकार से नियंत्रण न किया जाय, तो उनसे लाभ के स्थान में हानि की संभावना रहती है। इसी बात को ध्यान मे रख, उक्त शास्त्रकारों ने आश्रम-व्यवस्था को वैज्ञानिक साँचे में ढाला। उन्होंने मानव-जीवन की आयु सामान्यतः सौ वर्ष की कूती।[४] फिर पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के आधार पर उसको चार समकालीन विभागों मे विभक्त किया तथा हर विभाग के समय की प्राकृतिक गति-विधियों को इस प्रकार नियम-बद्ध किया कि जिनके अनुपालन से न केवल साधक को, किन्तु समाज को भी पर्याप्त सुख-लाभ हो। इसी भाव को दर्शाने के लिए उन्होंने, हमारी सम्मति में, 'आश्रम' शब्द का

---

४. ईशावास्योपनिषद् मं० २।

प्रयोग किया है। आश्रम (आ+श्रम) शब्द संयमित परिश्रम अथवा तप करते हुए लोकचर्या का प्रतीक है। इस तरह आर्यो ने ब्रह्माचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम का विधान निर्मित किया।

उक्त भारतीय समाज के अतिरिक्त, जहाँ तक हमें ज्ञात है, अन्य किसी दूसरे समाज ने अपने जीवन-शास्त्रों मे इन चारों का न तो कोई व्यवस्थित विधान बनाया और न इनके अनुसार आचरण करने के लिए आदेश या आग्रह किया। जहाँ देखो वहाँ, प्रथम दो विभागों, अर्थात् विद्यार्थीकाल और गृहस्थकाल पर ध्यान रखा पाया जाता है और वह भी ऐसा कि जिससे मानव-समाज केवल लौकिक वैभव तथा प्रलोभनों की ओर अग्रसर होने के लिए लालायित रहता है। भारतीय आश्रमों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनमें जीवन के दोनों पहलुओं अर्थात् लोक-वृत्त और ब्रह्म-वृत्त को साथ-साथ विकसित होते जाने के लिए विधान रखे गये हैं। यही कारण है कि उन्होंने जीवन के प्रथम भाग को अत्यन्त महत्त्व देने के अभिप्राय से उसे 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा से विभूषित किया है। दोनों वृत्तों की उप-योगिता को जान लेने पर ही प्रेम और सहयोग वाले आचार-क्षेत्र अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था। तत्पश्चात् देशाटन, तीर्थाटन तथा वनादि के प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की ओर ले जाने वाले वानप्रस्थ (वन को प्रस्थान) आश्रम में पहुँचा जाता था, और अन्त में त्यागमय चौथा संन्यासाश्रम आता था, जिसका अनुपालक मानव-मात्र को एकात्म के रूप में देखने लगता है। तुलसी के काल मे मानव-जीवन कंचन-नारी-मोह आदि के कारण अत्यन्त विषम स्थितियों से गुजर रहा था। उसी का उद्धार करने के लिए उन्होंने आश्रम-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहा था। यदि कोई यह देख कर कि तुलसी ने हिन्दुओं द्वारा प्रतिपादित आश्रम विभाग के महत्त्व पर बड़ा आग्रह किया है, यह कहने लग जाय कि तुलसी में साम्प्रदायिकता अथवा हिन्दुत्व की बू थी, तो उसका कहना वैसा ही मूर्खतापूर्ण होगा; जैसे कोई यह कहे कि न्यूटन द्वारा प्रतिपादित गुरुत्वा-

कर्षण का सिद्धान्त उसी की जाति के अंग्रेज लोगों के लिए उपयुक्त है, न कि अन्य दूसरे जाति के लोगों के लिए।

(ग) **वर्ण-व्यवस्था में स्वाभाविकता**––आश्रम-विभाग के समान वर्ण-विभाग भी स्वाभाविक वृत्तियों पर आधारित होने के कारण सार्वदेशिक समाज के लिए हितकर है। आश्रमों के समान वर्ण भी चार प्रकार के है। आश्रम यदि व्यक्तिगत धर्म की प्रधानता लेकर समाज-व्यवस्था में परिणत हो जाता है, तो वर्ण समाज-व्यवस्था की प्रधानता लेकर व्यक्तिगत धर्म में विलीन हो जाता है। इसलिए, वर्ण-विभाग के रहस्य को समझने के लिए हमें पहले अपना ध्यान समाज पर ले जाना आवश्यक है, और चूँकि हम भिन्न-भिन्न समाजों का भिन्न-भिन्न प्रकार से विभक्तीकरण देखते है, इसलिए वर्ण-विभाग के महत्त्व को जानने मे बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है। इस भ्रम का एक मूल कारण यही है कि वर्ण-व्यवस्था को केवल हिन्दू-समाज ने ही वैज्ञानिक रूप दिया है, परन्तु कालान्तर से अभाग्यवश वही हिन्दू समाज सैकड़ों जातियो मे विभक्त हो पड़ा है। इसलिए, न केवल अन्य समाजो के लोग, बल्कि हिन्दू-समाज ही के अधिकांश लोग वर्ण और जाति के भेद को भूल जाते है––तर्क करते-करते जब 'वर्ण' के स्थान में यह बहु-मुखी 'जाति' मस्तिष्क मे प्रवेश कर जाती है, तब तर्कशील विद्वान् की बुद्धि भी भ्रम-चक्र में फँस बैठती है। अतः पाठकों से निवेदन है कि वर्ण-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण आदर्श को समझने के हेतु किसी भी युग के किसी भी ऐसे समाज का दृश्य अपने नेत्रों के सामने ले आएँ, जिसकी जनता में अपनी तथा समाज की उन्नति और रक्षण की चेतना तो जागृत हो उठी हो; पर परस्पर मे कोई भेद-भाव न रखती हो।

(१) **गुण और कर्म का स्वाभाविक सम्बन्ध**––समाज चाहे जो हो, आपको विदित होगा कि रंग-डोल-डौल, शिक्षित-अशिक्षित आदि अनेक प्रकार के भेद-विभेदों के रहते हुए भी सर्व संसार के मनुष्य-मात्र में कुछ आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार की स्वाभाविक गतियाँ अभेद रूप से कार्य करती है, जैसे स्वाँस का चलना, खाना-पीना इत्यादि। इन समस्त

गतियों का बोध शास्त्रों में केवल एक शब्द 'कर्म' के द्वारा कराया गया है। हर क्षण किसी-न-किसी कर्म का व्यापार चलता ही रहता है। फिर हर कर्म का कोई-न-कोई कारण भी अवश्य होता है। एक कारण के अनेक कर्म, और एक कर्म के अनेक कारण हो सकते है। इसके अतिरिक्त, ये कर्म और कारण एक दूसरे से इस तरह सम्बन्धित होते रहते है कि एक वही कर्म जिसे किसी कारण ने उत्पन्न किया, कारण रूप बनकर दूसरे कर्म या कर्मों का उत्पादक बन जाता है; परन्तु कारण-कर्म की इस उलझन को अभी जाने दीजिए और यह न भूलिए कि हिन्दू शास्त्रियों ने समस्त कारणों को केवल एक शब्द 'गुण' के द्वारा सूचित कर रखा है। फिर इस 'गुण' का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। तत्त्वज्ञ कहते है—वह है 'प्रकृति' अथवा 'स्वभाव'[५]। तात्पर्य यह हुआ कि मानव के समस्त कर्मों का आदि कारण प्रकृति या स्वभाव (nature) होता है, जिसे शास्त्रज्ञ उपादान कारण कहते हैं। इसीलिए कहा गया है—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यं ते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥"[६]

अर्थात्—ऐसा एक क्षण भी कभी नही गुजरता, जब कोई बिना कर्म किये रहता हो। सब (प्रकृति जैः) प्रकृति से उत्पन्न (गुणैः) गुणों द्वारा (अवशः) परवश हुए कर्म करते है।

इन समस्त गुणों को शास्त्रकारों ने तीन विभागों में विभक्त किया है; यथा—सत, रज और तम (सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवः)[७]

---

५. प्रकृति (प्र+कृति) वह स्थिति, जब निष्क्रियता के स्थान में सक्रियता प्रारम्भ हो। इसी तरह स्वभाव (स्व+भाव) का अर्थ है वह स्थिति, जब अभाव अथवा निष्भाव के स्थान में भाव का उठना प्रारम्भ हो। इससे प्रकृति या स्वभाव के पूर्व वाली सशक्त-निष्क्रिय स्थिति ही का नाम 'ब्रह्म' है।

६. गीता ३।५।

७. वही १४।५।

इनका नामकरण निर्मल-प्रकाश के दृष्टिकोण से किया गया है ; इसलिए सत् प्रकाश का, रज धुँधलेपन का और तम अंधकार का अर्थवाची है। साधारण भाषा में इन तीनों स्थितियों को लोग अच्छा, मध्यम और बुरा कहकर दर्शाते है। परन्तु, अधिकतर केवल अच्छा और बुरा--इन्ही दो स्थितियों के विषय में कहा-सुना करते है---बीच वाली स्थिति पर जो इन दो का मिश्रित रूप होता है, विचार नहीं करते। सच पूछा जाय, तो इस सृष्टि मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति से लेकर स्थूलातिस्थूल स्थिति तक का क्रम अटूट रहता है। यही बात उपर्युक्त 'गुण' और 'कर्म' संज्ञाओ के विषय मे ध्यान रखना चाहिए। इसी तरह सत्, रज और तम---ये तीनों एक लम्बे अटूट क्रम के तीन मोटे-मोटे रूप हैं। जो इस क्रम-बद्धता को ध्यान मे रख लें, उन्हे इस सिद्धान्त की सचाई मे कोई सन्देह न रहेगा कि हमारा यह स्थूल शरीर हमारे सूक्ष्म या लिंग शरीर (मन+बुद्धि+चित्+अहकार) का निरा वाह्य रूप है, और सशक्त-निष्क्रियता से सक्रियता तथा सक्रियता से निष्क्रियता प्राप्त होती है। इसी अनुभूति के आधार पर यह कहा जाता है कि हमारा वर्तमान जीवन ही सब कुछ नहीं है---वह पूर्व जीवन और भविष्य जीवन से सम्बन्धित रहता है। इसी मे पुनर्जीवन का सिद्धान्त निहित है। यों तो सभी धर्म-मत, जैसा कि जगत्-प्रसिद्ध थियॉसोफिस्ट विदुषी श्रीमती ऐनीबिसेन्ट ने कहा है, इन सिद्धान्तों को मानते है, परन्तु उनके अनुयायी अज्ञान-वश उन्हें नहीं समझते।

(२) **कुरान में गुण और कर्म का सम्बन्ध**---जिसे हिन्दू-शास्त्रज्ञ गुण और कर्म कहते हैं, उसी को विज्ञान-शास्त्री कारण (cause) और परिणाम या फल (effect) कहते हैं। कुरान को विज्ञान-दृष्टि से अध्ययन करने वालों को कुरान में भी इन दोनों--कारण और फल--का सम्बन्ध स्थापित किया हुआ मिलता है। इस विषय पर हम विशेष रूप से कुछ अधिक न कहकर पाठकों का ध्यान केवल श्री मौलाना मुहम्मद अली, एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा किये गये कुरान के अंग्रेजी अनुवाद की ओर आकृष्ट कर देना चाहते है। उक्त विद्वान् लेखक ने उक्त पुस्तक की भूमिका

में एक विषय 'मत्यु के बाद का जीवन' (life after death) भी लिखा है, जिसमें उन्होंने कुरान की ५६·५७-६१, १७:१३, ५०:२२, ८६:९ एवं ९९:७-८ आयतों के आधार पर यह बताया है कि मृत्यु के अनन्तर जीवन की समाप्ति नही हो जाती, बल्कि मनुष्य पर अपने कर्मो का फल या प्रभाव अंकित होता रहता है और उसी के अनुसार वह इस जीवन तथा पाश्चात्य में उच्च या निम्नस्तर का भोक्ता बनता।[८]

सिद्धान्त रूप इस कथन को कुछ और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पहले तो मौलना सा० कुरान के ५६ : ५७-६१ और ७५ : ३६ ४० का अनुवाद देते हुए, उनके आधार पर निष्कर्ष रूप मे यह लिखते हैं कि "पवित्र कुरान के अनुसार भृत्यु से मनुष्य-जीवन का अन्त नही हो जाता ; वह केवल जीवन के उच्चतर रूप का दरवाजा खोलती है। जिस प्रकार रज (धूल) से मनुष्य विकसित होता है, उसी प्रकार मनुष्य के द्वारा किये गये कर्मो से उच्चतर मानव का विकास होता है। इसका नाम है, दूसरा जीवन।" ये है, उनके तत्संबधी शब्द—

"According to the Holy Quran, death does not bring the life to an end; it only opens the door to a higher form of life. Just as from dust is evolved the man, from the deeds which man does is evolved the higher man,.... Such is the next life."

ये कर्म मनुष्य के भावी जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते है, इसे जानने के लिए कुरान शरीफ के १७ : १३ को देखिए। उसका अनुवाद मौलाना सा० ने यह दिया है—

"And we have made every man's actions to cling to his neck, and we will bring forth to him on the day of

---

८. **मौलाना मुहम्मद अली कृत** 'Translation of the Holy Quran, pages LIV, LVIII.

resurrection a book which he will find wide-open."
अर्थात्—"हमारा (खुदा का) यह नियम है कि हर मनुष्य के कर्म उसकी गर्दन से चिपकते जाते है, और हम पुनरुज्जीवन अथवा मृतोत्थापन के 'दिन' (उसके सम्मुख) एक किताब रख देंगे, जिसमें उसे (यह सब) उजागर रूप में लिखा दिख जायगा।"

उपरोक्त आयत (कुरान-वाक्य) में कर्मों के चिपक जाने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय यथार्थ में कर्म-फलों से है। इसीलिए उक्त विद्वान् लेखक ने उपरोक्त आयत तथा ५०:२२, ८६:९ एवं ९९:७-८ के आधार पर यह अभिव्यक्त किया है—

"Thus an action leaves its effect upon man as soon as it is done; only it is not seen by the human eye, it will be palpably manifest in the form of a wide-open book on the day of resurrection, for the veil which covers the eye now, so that it cannot see the finer things, shall then be removed....So every good bears a fruit and every evil deed bears an evil consequence, whether the doer is a muslim or non-muslim.

अर्थात्—"इस प्रकार (सारांश यह है कि) ज्यों ही कर्म किया जाता है, त्योंहो वह अपना फल (प्रभाव) मनुष्य पर छोड़ जाता है; बात केवल इतनी है कि वह मनुष्य की आँख से दिखाई नहीं देता, वह पुनरुज्जीवन के दिन उजागर खुली हुई किताब के रूप मे प्रत्यक्षत: प्रकट हो जायेगा, क्योंकि वह पर्दा जो इस समय हमारी आँख पर चढा है, या जिसके कारण हम सूक्ष्म पदार्थों को नहीं देख सकते, उस समय हटा दिया जायेगा... ....अत: हर अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है, और हर बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है, चाहे कर्त्ता (कर्म करने वाला)—मुसलमान हो या अन्य कोई।

इसके आगे चलकर मौलाना सा० ने कुरान शरीफ की उन आयतों

का, जिनमें कर्म-पुस्तक का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विवरण आया है, साभिप्राय अर्थ बताते हुए यह कहा है कि "कर्म-पुस्तक न केवल हर व्यक्ति की होती है, वरन् हर राष्ट्र की भी होती है, क्योंकि जिस प्रकार के कर्म उसकी प्रजा करती है, वैसा ही प्रभाव राष्ट्रीय जीवन पर भी पड़ता है, और उसी के अनुरूप व्यक्तियों ही के समान राष्ट्र भी न्याय पाने के भागी होते है"[८] (अ)

(३) **हिन्दू-मत और कुरान-मत में गुण-कर्म-सम्बन्धी समता**—उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट हो जाता है कि कारण, कर्म तथा कर्म-फलों के विषय में हिन्दू-मत और मुसलिम-मत में प्राय: समता है। भेद केवल भाषा और औपम्य का है। कुरान यदि कहती है कि कर्म गर्दन से चिपकते जाते हैं, तो हिन्दू-शास्त्र कहते है कि कर्मो के परिणाम या फलों का आभास चित्त पर पड़ता जाता है; कुरान यदि कहती है कि कर्मो की एक पुस्तक लिखी जाती है, तो हिन्दू-शास्त्र कहते है कि वे—भाग्य के रूप में अथवा विधाता के अंकों के रूप में—अंकित होते जाते हैं; कुरान यदि अच्छाई-बुराई को तुलनात्मक दृष्टि से कहता है कि उक्त-पुस्तक मे 'मीजान' (total or balance) या 'वजन' (weight) लिखा जाता है, तो हिन्दू-शास्त्र कहते हैं कि भाग्य का निर्माण अच्छे-बुरे कर्म-फलों के समुच्चय के अनुसार होता है; कुरान यदि बताती है कि उक्त कर्म-पुस्तक पुनरुज्जीवन (resurrection' के दिन उजागर सामने रखी मिलती है, और उसमे लिखित खोटे-खरे सब कर्मो के अनुरूप न्याय मिलता है, तो हिन्दू-शास्त्र बताते हैं कि भाग्य में जो कर्म-फल अकित अथवा संचित होते रहते है, जो अमिट होते हैं, और उन्हीं के अनुसार पुनर्जन्म होता तथा ऊँच-नीच भोग भोगने पड़ते हैं।[८] (ब) यथार्थत: कुरान में—कथित कर्म-पुस्तक

८(अ). वही, पृ० LIV से LXI तक के पृष्ठों में से अवतरित।

८(ब). कुरान में 'यौमुल क़यामह' 'यौमुल हिसाब' आदि (यौमुल= the day of) आदि कई एक, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कहे हुए समान

चित्ताभास का द्योतक है जैसा कि उक्त मौलाना सा० के निम्न वाक्य से स्पष्ट है--

"The book of deeds is, therefore, within the man, because the deeds are preserved by the effect which they leave on man." अर्थात् 'कर्म-पुस्तक मनुष्य के अन्दर ही रहती है क्योंकि कर्म-संचय (अथवा कर्म-संरक्षण) का अर्थ ही होता है, कर्मों का वह परिणाम जो कर्म ही मनुष्य पर अंकित कर छोड़ जाते हैं। अतः अन्त में मोहम्मदअली सा० के उक्त अनुवाद के प्रभाव पर हम कह सकते हैं

भावार्थी पद आये हैं, जिनका अंग्रेजी अनुवाद (resurrection) किया जाता है। उसी का अर्थ हमने वामन शिवराम आप्टे के अंग्रेजी-संस्कृत कोश के आधार पर 'पुनरुज्जीवन' अथवा 'मृतोत्थापन' दिया है। यथार्थ में (resurrection) का मूलार्थ है 'पुनः उठना' (rising again)। इसी तरह 'यौमुल क्यामह' का 'The day of rising तथा 'यौमुल हिसाब' का The day of reckoning' होता है। परन्तु रौढ़िक दृष्टिकोण से उनका तथा समभाववाची कुरान में प्रयुक्त अन्य पदों का अर्थ 'उस अन्तिम न्याय-दिवस का लिया जाता है, जिस दिन दुनिया का अन्त (प्रलय) होगा।' इस अर्थ की दृष्टि से वर्तमान, मृत्यु और इस न्याय-दिवस के बीच एक अत्यन्त अनिश्चित कालीन असीम खाई की स्थिति आ जाती है, जिससे जीवन-संबंधी स्वाभाविक क्रमिक अखण्ड प्रगति पर आघात होता है। अतः उसे पाटने का केवल एक उपाय यही है कि गुण-कर्म-फल से प्रभावित होते रहने वाले जीवन की 'अटूट क्रमिक प्रगति' (Continuity of gradual progressive motion) के स्वाभाविक विधान को मान्यता दी जाय, जैसा कि हमारी समझ में, उक्त मौलाना सा० ने प्रकट किया है, और हिन्दू-शास्त्रों के 'पुनर्जन्म' सिद्धान्त में निहित है। यद्यपि हमारा हस्तगत विषय केवल इतना है कि मानव-समाज में वर्ण-विभाग की स्वाभाविकता को प्रकाश में लाया जाय, और इसलिए उक्त विवाद-ग्रस्त विषय में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि तत्सम्बन्धी आनुषंगिक सन्दर्भ के कारणवश उसमें प्रवेश मात्र करना आवश्यक प्रतीत हुआ, अतः पाठक क्षमा करें।

कि कुरान अपने निर्देश को यदि अच्छा और बुरा कहकर दर्शाती है, तो हिन्दू-शास्त्र 'अच्छा' मध्यम और 'बुरा' अर्थात् 'सत्' 'रज' और 'तम' कहकर बताते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मो अथवा कर्म-कारण के दृष्टिकोण से जन-समूह का विभाजन किसी-किसी समाज में अच्छे लोग और बुरे लोग कह कर कर लेते हैं, जब कि हिन्दू उन्हें सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी कहकर करते है। ये ही विभाग वर्णो के मूलाधार है।

(४) **चित्र द्वारा चार वर्णों का संकेत**—अब यदि कोई मुसलमान उपरोक्त मुसलिम-गत के अनुसार किसी राष्ट्र या जन-समाज की समस्त जनता का विभाजन कर्मो अथवा कारण-कर्म-परिणाम के दृष्टिकोण से करे, तो वह उसे दो विभागों में दर्शायेगा; एक विभाग होगा—अच्छे लोगों
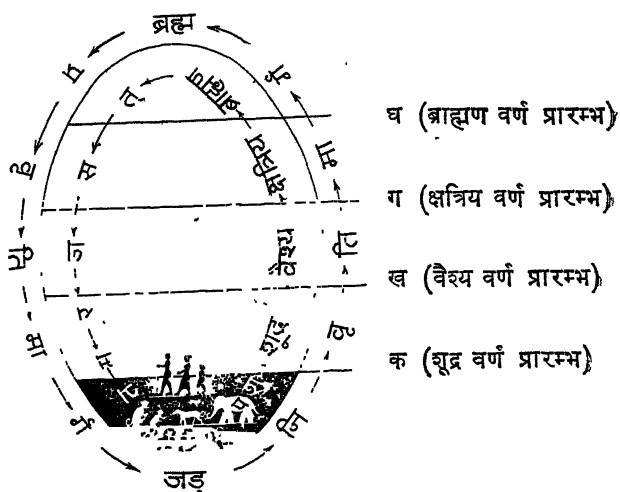
का और दूसरा होगा बुरे लोगों का ; परन्तु हिन्दू उसी को तीन भागों में विभक्त करेगा ; अर्थात्—सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। यही विभाग वर्ण कहलाते हैं। अतः मुसलिम-दृष्टि में दो वर्ग के लोग हुए, और हिन्दू

की दृष्टि से तीन वर्ण के। परन्तु, हिन्दु-तत्त्वज्ञों ने क्रमिक सम्बन्ध और वस्तु-ऐक्य को अलक्षित न कर उपर्युक्त तीन गुणों से उत्पन्न कर्मों को चार प्रकार से देखा, और तदनुरूप उन्होंने जन-समूह को चार प्रकार के लोगों या वर्णों में विभक्त किया। उन्होंने सत् और तम दो छोर की स्थितियों के बीच की रजोगुणवाली स्थिति के दो विभाग किये। इसको ठीक तरह से समझने के लिए हम एक अण्डाकार चित्र देते हैं, जिसमें सृष्टि की निवृत्ति रूप और प्रवृत्तिरूप गतियों का भाव व्यक्त किया गया है और उसी प्रवृत्तिरूप त्रिगुणात्मक सृष्टि के चार विभाग क्रमानुसार दिखाये गये हैं।

(५) **वर्ण-विभाग में आत्म-विकास का रहस्योद्‌घाटन**—आत्म-विकास का रहस्य निम्न चार सिद्धान्तों पर निर्भर है ; यथा—(१) जीव ब्रह्म का अमर अंश है (ईश्वर अंश जीव अविनाशी); (२) प्रकृति का अर्थ है, कर्म-चक्र; (३) जीव बिना कर्म किये क्षण भर नहीं रह सकता ; और (४) मृत्यु के पश्चात् गुण-कर्म के अनुसार पुनर्जन्म होता है।

उपर्युक्त चित्र में ज्योंही जीव ब्रह्म से अलग हुआ और प्रकृति (कर्म-चक्र) में प्रवृत्त हुआ, त्योंही वह नीचे की ओर खिसकता जाता है। इस प्रकार वह दक्षिण की अन्तिम स्थिति (दक्षिणायन) में जड़ स्वरूप हो जाता है। फिर जड़ता से उत्तर की ओर (उत्तरायन) निवृत्ति मार्ग को ग्रहण कर ब्रह्म में पुनः लीन होने के लिए अग्रसर होता है। चित्र में 'क' रेखा तक का गहरा काला भाग उस तम-क्षेत्र का द्योतक है, जहाँ पत्थर-वृक्ष-पशु आदि योनियों को पार कर जीव मानव-रूप पाता है। इस स्थिति मे वह मानव-क्षेत्र की अत्यन्त तमोगुणी शूद्र वर्णीय श्रेणी में रहता है। इसके पश्चात् 'ख' रेखा तक आत्म-विकास होते-होते वह रजोगुणक्षेत्र में प्रवेश करता है, जो 'ख' अक्षर से बताया गया है, और जहाँ से उसके कर्म गुण वैश्यवर्ण के कहे जाने लगते हैं। फिर इसी तरह विकसित होते हुए वह 'ग' स्थान पर क्षत्रिय वर्ण का, और 'घ' स्थान पर ब्राह्मण वर्ण का कहलाने का अधिकारी बन जाता है। इन चारों संज्ञाओं का निर्माण उनके

मूलार्थ पर किया गया है। इसी गुण-कर्म पर आधारित आत्म-विकास के दृष्टिकोण से गीताकार ने भी गीता में उक्त चारों वर्णों की संकेतात्मक व्याख्या निम्न श्लोकों में की है—

(१) 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'[९]

[टिप्पणी—'परिचर्या' का अर्थ कोशों में "दूसरों की सेवा-शुश्रूषा करना" लिखा मिलता है। इसलिए टीकाकार भी उक्त श्लोकार्ध का अर्थ करते हैं—"सब वर्णों की सेवा करना यह शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है" (देखो गीता प्रेस, गोरखपुर की 'साधारण भाषा टीका सहित' गीता) इसलिए 'परिचर्या' अथवा उसके इस प्रकार के अर्थ या भाव को देखकर कुछ लोग हिन्दू-धर्म पर कुपित हो कहने लगते है कि वह मानव-मात्र को समभाव से नहीं रखना चाहता। यह भूल है। 'स्वभावजम्' शब्द इस बात का द्योतक है कि जो मनुष्य आत्म-विकास की निम्नतम श्रेणी में रहकर तमोगुणी होता है, वह स्वयं स्वार्थ-वश रोटी-भाजी द्रव्य-संचय आदि के हेतु, अथवा भय, चाटुकारिता आदि के कारण अन्य लोगों की नौकरी-चाकरी करने अथवा सेवा-शुश्रूषा करने में अपने जीवन का मूल्य समझता रहता है। दूसरे शब्दों मे उसके कर्म स्वार्थ-प्रधान रहते हैं। उसमें न तो आत्म-बल होता है और न परार्थ की भावना ही जागृत होती है। जो यथार्थ सेवा-भाव के प्रधान अंग हैं। सच पूछा जाय, तो हमारी अल्पमति के अनुसार 'परिचर्या' का उपरोक्त अर्थ गौण है। उसका प्रधान अर्थ है—स्वार्थ के आसपास चक्कर लगाना या स्वार्थ की परिक्रमा करते रहना।

(२) 'कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'[१०]

[टिप्पणी—आत्म-विकास की इस द्वितीय श्रेणी में स्वार्थ-प्रवृत्ति

---

९. गीता १८।४४ उत्तरार्द्ध।

१०. वही १८।४४ पूर्वार्द्ध।

घटकर परार्थ-प्रवृत्ति आना प्रारम्भ हो जाती है; परन्तु दोनों में संघर्ष चलता है और स्वार्थ की प्रबलता बड़ी कठिनाई से कम की जा सकती है। आधुनिक काल में अधिकतर व्यवसायी जीवन दिखाई देता है, जो निम्न प्रकार के वैश्य वर्ण का कहा जाने योग्य है।]

(३) 'शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्'॥[११]

[टिप्पणी—इस श्लोक में जितने गुण क्षत्रिय के बताये हैं, वे सब इस प्रकार के हैं, जिनसे प्रकट होता है कि—विकास की इस श्रेणी में पहुँचने पर परार्थ भाव में प्रबलता हो जाती है। 'ईश्वर भाव' के कहने से स्पष्ट है कि उसमें आत्मोत्कृष्टता अधिक आ जाती है।]

(४) 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥[१२]

[टिप्पणी—इस श्लोक में गीताकार ने ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म-कर्म और ब्रह्म-कर्म-फल—इन तीनो का एक साथ समावेश किया है। साधारणतः तप स्थूल देह, दम (दमन) सूक्ष्म अर्थात् ऐन्द्रिय देह, तथा शम (शमन) कारण, अर्थात् (मन+बुद्धि चित्त--अहंकारयुक्त) लिंग देह के निराकरण करने के साधन हैं। जब उपर्युक्त साधनों द्वारा मल-निग्रह कर लिया जाता है, तभी 'शौच' (शुचिता) का फल मिलता है। सारांश यह है कि ब्राह्मण होना अत्यन्त कठिन काम है। वह नानी-दादी का खेल नहीं, जैसा कि 'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः' कहने वाले लोग समझा करते हैं।]

आत्म-विकास की इस श्रेणी पर पहुँचने वाले ब्राह्मण को सब ओर

---

११. वही १८।४३।

१२. गीता १८।४२।

एकात्मीयता की वह अनुभूति होने लगती है, जो ईशावास्योपनिषद् के निम्न मंत्र मे प्रदर्शित की गई है—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"[१३]

यही भाव तुलसीदास जी ने निम्न पंक्तियों में व्यक्त कर दिखाया है—

"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।"[१४]

"कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके।"[१५]

तथा

"जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।"[१६]

(६) उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष—सारांश यह निकला कि मानव-समाज की जन-सख्या को गुण-कर्म पर आधारित आत्म-विकास की दृष्टि से ही वर्ण-विभाग की स्थापना की गई है, जैसा कि गीताकार ने कहा है—

"ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥"[१७]

इस विकास-क्रम के महत्त्व को समझ लेने के पश्चात् यह कहने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि हर वर्ण के मनुष्य को अपने ही विकास-क्षेत्र में रहकर कर्म करते जाना चाहिए। वह एकदम छलांग मारकर या केवल गाल बजाकर उच्चवर्ण का अधिकारी उसी प्रकार नही हो सकता, जिस प्रकार शारीरिक क्षेत्र (Physical plane) में किशोरावस्थावाला

---

१३. ईशा० उ० मं० ७।
१४. मानस, उ० कां० १११ (ख)।
१५. मानस, उ० कां० १११ (ख) १।
१६. वही ७७ (ख) ५।
१७. गीता १८।४१।

वृक्षादि पर चढ़ने या नदी आदि में तैरने आदि की किसी दक्ष प्रौढावस्था वाले के साथ बराबरी नहीं कर सकता, अथवा मानसिक क्षेत्र (mental plane) मे कोई मैट्रिक का विद्यार्थी डॉ० ईन्सटन आदि की प्रयोगशाला में जाकर उनके जैसे प्रयोग करने की क्षमता नहीं रख सकता। यदि इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा की जाय, तो निस्सन्देह उसके भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। परन्तु, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि किशोर सदा किशोर-जैसे ही काम करता रहे। केवल यही अभिप्राय रहता है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार अपने-अपने क्षेत्रों में उत्तरोत्तर विकसित होते हुए क्रम-क्रम से आगे बढ़ते जाओ। यही आशय गीताकार ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥"[१८]

अर्थात्—अपना धर्म (कर्म करने का स्तर) यदि अन्य लोगों के धर्म (कर्म-स्तर) से कम गुणवाला हो, तो भी उसी के अनुरूप बर्तना श्रेयस्कर होता है, न कि अन्यस्तरीय लोगों के धर्मानुरूप (स्तरानुरूप) बर्तना। पर-स्तरीय धर्म कितना ही अच्छे प्रकार से क्यों न किया जाय, वह श्रेयस्कर नहीं हो सकता। (अतः) अपने धर्म का पालन करते-करते ही मर जाना श्रेष्ठ होता है और पराये धर्म की नकल करना भयकारी होता है।

इसलिए गीताकार फिर दुहराता है और कहता है कि स्वभाव से नियत कर्म करने से कोई पतनकारी परिणाम नहीं भोगने पड़ते—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥"[१९]

उक्त श्लोकों में 'धर्म' शब्द 'कर्म' का प्रतीक है, यह "स्वेस्वे कर्मण्य-

---

१८. गीता ३।३५।
१९. वही १८।४७।

भिरतः संसिद्धि लभते नरः"[२०] और "**स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धि विन्दति मानवः**"[२१] से, प्रकट हो जाता है। गीता के प्रारम्भिक श्लोक में जो "धर्म-क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" शब्दों का प्रयोग किया गया है, उससे भी यही बात प्रकट होती है।

(७) **वर्ण-विभाग की सृष्टि में व्यापकता**—गहराई में जाने वाले तत्त्वज्ञो ने तो यहाँ तक सिद्ध किया है कि वह वर्ण-विभाग अपनी स्वाभाविकता के कारण सृष्टि के अन्य पदार्थों मे भी देखा जाता है, जैसे काष्ठ में और मिट्टी में, पशुओं व पक्षियों मे तथा देवी-देवताओं में। इस प्रकार के चार वर्णों के कुछ दृष्टान्त तैत्तिरीय संहिता के आधार पर स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'धर्म-विज्ञान' के प्रथम खण्ड मे दिये हैं और अन्त में सिद्धान्त-रूप से यह कहा है कि "त्रिगुणमयी प्रकृति मे सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं अस्पष्ट रूप से विद्यमान है।"[२२] यही अभिप्राय हमे गीता के "**चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः**"[२३] मे प्रतीत होता है। यदि इसमें सदेह हो, तो आप स्वयं अनुभव कर देख लीजिए कि एक ही वर्ग के पशु या पक्षी मे कोई स्वभाव से सौम्य और कोई क्रोधादियुक्त असौम्य वृत्ति का होता है। दूर क्यों जाते है, अपने शरीरेन्द्रियो की रचना में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए आचार्यों ने मुख-मण्डल या मस्तिष्क भाग को ब्राह्मण, हस्त भाग को क्षत्रिय, उदर भाग को वैश्य एवं चरण भाग को शूद्र कहा है। इसे निरी कल्पना न समझिए। इसमे वैज्ञानिक दृष्टि की सूझ है। आदर्श समाज-व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए मानव की शरीर-व्यवस्था का दृष्टान्त बहुधा इसीलिए दिया जाता है।

---

२०. वही १८।४५ पूर्वार्द्ध।

२१. वही १८।४६ उत्तरार्द्ध।

२२. धर्म-विज्ञान, प्र० ख० (भारत धर्म-महामण्डल, शास्त्र-प्रकाशन-विभाग, बनारस), पृ० ३०५, ३०६।

२३. गीता ४।१३।

(८) **वर्ग और वर्ण में अन्तर**—आधुनिक युग में—समाजवाद (socialism), साम्यवाद (communism) तथा और भी अनेक वाद इस धुन में लगे हुए पाये जाते हैं कि वर्गहीन (classless) समाज-व्यवस्था की स्थापना की जाय। परन्तु, विचारपूर्वक देखने से यह विदित हो जाता है कि उनका श्रम, यदि किसी काल मे सफल हो सका, तो वह केवल लौकिक-असमानता वाले वर्गो को मिटा सकेगा, न कि वर्णो के अस्तित्व को। वर्ण तो स्वाभाविक विकास-क्रम के द्योतक है, इसलिए वे मनुष्य के मिटाये नहीं मिटाये जा सकते। उनके मिटाये जाने का अर्थ यह होगा कि मानो सब मनुष्य एक समान त्याग की उच्चतम कोटि पर पहुँचकर, नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर चुके है, तथा जड़ से चेतन पदार्थ और चेतन पदार्थ से मानव योनि तक के विकास का भी अन्त हो चुका है। दूसरे शब्दों में सृष्टि गति-हीन (static) बन जायेगी, प्रगतिवान (dynamic) न रहेगी, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त न तो कभी माना है और न वे कभी मान सकते है। समाज का जब से इतिहास है, तब से तो यही पता लगता है कि हर स्थान में, हर समय कुछ मनुष्य ऐसे रहे हैं, जो स्वार्थ की आत्यन्तिक कुर्बानी कर सकते थे, और अनेक ऐसे रहे है, जो स्वार्थ की फाँस मे फँसे रहते थे। इन दोनों वर्णो के बीच कुछ दूसरे लोग ऐसे भी रहे है, जिन्हें मध्यम श्रेणी के कह सकते हैं। आज भी सब देशों में आपको यही स्थिति देखने को मिलती है। अतः सिद्धांत, इतिहास एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से यह स्पष्ट है कि हर समाज में आत्म-विकास की दृष्टि से उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणी के लोग रहते हैं। भविष्य में क्या होगा, इसकी बात जाने दीजिए। हमारा विषय है, तुलसी-काल से संबंधित। तुलसी के समय भी उक्त श्रेणी के लोग थे। उन्हीं के बीच सामञ्जस्य की स्थापना करने के हेतु उन्होंने स्वाभाविक वर्णाश्रम व्यवस्था की पुकार लगाई। यदि उनकी इस पुकार को देख, कोई उन पर साम्प्रदायिकता का दोषारोपण करने का साहस कर सकता है, तो महात्मा गांधी पर भी वही दोष सहज ही लगाया जा सकता है क्यों कि वे भी वर्णाश्रम-व्यवस्था के पक्षकार थे ; परन्तु ऐसा करने का दुस्साहस, हमारी समझ में कोई नहीं

कर सकता। जो लोग इस अनिवार्य स्वाभाविक वर्णाश्रम की यथार्थता को न समझ, केवल यह जानते हैं कि उसकी रचना प्राचीन भारतीयों ने समाज की कार्यप्रणाली को व्यवस्थित रूप से चलाने के हेतु कर ली थी, वे ही तुलसी के प्रशसक होते हुए भी उन्हे भोंड़ा आदि कहने का दुस्साहस कर सकते है, जैसा कि डॉ० राजपति दीक्षित के वाक्यों मे व्यक्त है। उन्होने कहा है "जो भी हो, समाज किस प्रकार चलता रहे और उसमें सहसा उपप्लव होकर विनाश की स्थिति न उत्पन्न हो, इसलिए तुलसी ने प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन किया था। उनका ऐसा समर्थन कही-कहीं उस सीमा तक भी पहुँच गया है, जो भोंड़ा, साथ ही खटकने वाला भी प्रतीत होता है, इसमें सन्देह नहीं।"[२४]

(२) **ब्राह्मण-शूद्र-विषयक दोषारोपण और उनका निराकरण**—उक्त विद्वान् लेखक को तुलसीदास द्वारा किया गया केवल वर्णाश्रम-समर्थन ही नही खटका, किन्तु उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि तुलसीदास, जो ब्राह्मणों के अधिक प्रेमी थे और शूद्रों के अधिक निन्दक, उन्होंने लिखा है कि "तुलसीदासजी ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है, उनके महात्म्य का बार-बार उल्लेख किया है। इतना लिखा है और ऐसा लिखा है कि यदि कोई उन्हें पण्डे-पुजारियों का वकील कह बैठे, तो कोई आश्चर्य नहीं; पर ऐसी बात है नहीं।....तो भी इस विषय पर उनके कुछ कथन असमर्थनीय हो जाते हैं तथा कहीं-कहीं शूद्रों की निन्दा भी इसी कोटि में आ जाती है।"[२५] यह एक सौम्य-चित्त आलोचक की शिष्ट भाषा है; परन्तु इससे कहीं अधिक कठोर भाषा का प्रयोग रजनीकान्त शास्त्रीजी ने किया है। उनका कहना है कि "रामचरित-मानस के निष्पक्ष तथा शान्तिपूर्ण अध्ययन से यह बात

---

२४. तुलसी और उनका युग, पृ० ५९-६०।

२५. तुलसी और उनका युग, पृ० ६०-६१।

[**नोट—इस उद्धृत वाक्य में 'समाज' शब्द से लेखक का अभिप्राय सम्भवतः 'हिन्दू समाज' से है।**]

निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि उसके रचयिता के हृदय में जातीय-राग-द्वेष (communalism) कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनकी नस-नस में ब्राह्मण जाति के लिए एक सीमा रहित अनुराग; पर शूद्र जाति के लिए एक वैसा ही द्वेष व्याप्त हो रहा था, जो उनके जैसे एक राष्ट्रीय महाकवि के लिए सर्वथा अनुचित था। उनके ब्राह्मण-पक्षपात की तो व्यवस्था लग सकती है, पर उनकी शूद्र-घृणा की नहीं।''[२६]

तुलसीदासजी के जिन कथनों को लेकर आलोचकगण उन पर उक्त दोषारोप करते हैं, वे प्रायः वही हैं, जिनका उल्लेख मानस-मीमांसा में उसके विद्वान् लेखक ने किया है। वे ये हैं—

पूजिय विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना।
विप्र वंश की अस प्रभुताई, अभय होय जो तुमहिं डराई।
शापत ताड़त परुषकहन्ता, विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।
शूद्र द्विजहिं उपदेशहिं ज्ञाना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना, बैठि बरासन कहहिं पुराना।
ढोल गँवार शूद्र पशुनारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई घर सम्पतिनासी, मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।
ते बिप्रन सन पाँव पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं।

बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥इत्यादि[२७]

'इत्यादि' कहने से लेखक का अभिप्राय है कि उक्त कथनों के अतिरिक्त

---

२६. मानस-मीमांसा, पृ० २९९-३००

२७. मानस-मीमांसा के पृष्ठ ५७ पर उद्धरित। (निम्नांकित रेखाएँ मेरी हैं)

इस प्रकार के अन्य कथन और भी है। परन्तु, उन्होने बाद में केवल एक का उल्लेख और किया है, जो यह है—

"भए वरन संकर सकल, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप दुख पावहिं, भय रुज सोक वियोग ॥"[२८]

उक्त दोषारोप का निराकरण करते समय मुझे दुःख है कि मै विस्तार-भय के कारण अपने सम्पूर्ण विचारों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं कर सकता। फिर भी उन्हें संक्षिप्त रूप में रखता हूँ।

(क) **तुलसी ने 'ब्राह्मण' शब्द नहीं कहा**—उक्त पंक्तियों में तुलसी दासजी ने 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। उन्होंने केवल 'विप्र' और 'द्विज' शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ टीकाकार तथा आलोचक 'ब्राह्मण' लगाकर हमारी अल्पमत्यानुसार तुलसो पर व्यर्थ टीका-टिप्पणी करके उन्हें दोषी बताने की भूल करते है; अतएव अब हमे 'द्विज', 'ब्राह्मण' और 'विप्र' शब्दों की व्याख्या करके यह देखना चाहिए कि क्या उनमे कोई शास्त्रीय भेद है, जिसके कारण मानस में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग केवल एक स्थान को छोड़, जिसके विषय में आगे उल्लेख किया जायगा, कहीं नहीं किया गया, या कि उनमें कोई भेद नहीं है, बल्कि तुलसीदासजी ने जान-बूझकर मानस को सर्वजन-प्रिय बनाने के अभिप्राय से प्रचलित द्रोहात्मक 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं समझा, क्यों कि उस समय भी ब्राह्मण-अब्राह्मण के बीच एक प्रकार से उसी प्रकार का मनो-मालिन्य विद्यमान था, जैसा कि दक्षिण भारत में गांधीकाल में था और अब भी है।

(ख) **द्विज, विप्र और ब्राह्मण में शास्त्रीय भेद**—मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार इन तीनों शब्दों के भावार्थ और इसलिए शब्दार्थ भी, एक समान नहीं हैं। तीनों पृथक्-पृथक् भाव के द्योतक है।

---

२८. मानस-मीमांसा के पृष्ठ ३११ पर उद्धरित। (निम्नांकित रेखाएँ मेरी हैं।)

यह एक अनुभव-सिद्ध बात है कि हर-समाज में शिक्षा की दृष्टि से सर्वप्रथम दो वर्ग होते है--एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित। प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली आजकल-जैसी केवल बौद्धिक और शारीरिक नही रहती थी, अपितु वह अध्यात्म-प्रधान थी। अत: उस दृष्टि से वहाँ के ये दो वर्ग थे--सास्कृत और असास्कृत। सांस्कृत 'द्विज' संज्ञा से जाने जाते थे, असास्कृत 'शूद्र' सज्ञा से। 'द्विज' का अर्थ होता है 'द्विजन्मा' (twice born)। एक जन्मदात्री तो माता होती है, जो शरीर को उत्पन्न करती है और दूसरा जन्मदाता गुरु होता है, जो मानवता का जन्म देनेवाला कहाता है। प्राचीन भारत मे गुरु और शिष्य एक कुटुम्ब जैसे रहते थे। इसीलिए शिक्षालयों को गुरुकुल कहते थे। गुरुकुलों का पाठ्य-क्रम समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से सामाजिक तीन आवश्यकताओ की पृष्ठभूमि के अनुकूल मूलत: तीन विभागों मे विभक्त किया जाता था। अर्थ-व्यवस्था के हेतु दीक्षित शिष्य वैश्य, रक्षण-व्यवस्था के हेतु दीक्षित क्षत्रिय और अध्यात्म-व्यवस्था के हेतु दीक्षित ब्राह्मण कहलाते थे। इन्ही तीनों को द्विज' कहा जाता था।[२९] अत: 'द्विज' का अर्थ सदा-सर्वत्र 'ब्राह्मण कहना मूर्खता है, जैसा कि मानस के टीकाकार तथा आलोचक बहुधा किया करते हैं।

जिस प्रकार कालेज या विश्वविद्यालय की शिक्षा भावी जीवन का एक प्रकार से शिलारोप कर देती है, उसी प्रकार गुरुकुलो की शिक्षा कर देती थी। यदि कोई विद्यार्थी विश्वविद्यालय से किसी विषय की एम० ए० अथवा डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त कर भविष्य में व्यवहार-जगत् में तत्सम्बन्धी योग्यता न बढाये और उसको जन-हित के हेतु कार्यरूप मे परिणित न करे, तो उसने समाज को क्या लाभ ! इसी तरह गुरुकुल मे अथवा अन्यथा ब्रह्म-विद्या में दीक्षित ब्राह्मण से भी क्या लाभ, यदि वह उसका प्रयोग उन्नत विधि से समाज मे न करे। इस तरह से दीक्षित ब्राह्मण, ब्राह्मण तो कहलाता

---

२९. "मातुरंगे विजननं द्वितीयं मौञ्जि बन्धनात्।
ब्राह्मग क्षत्रिय विशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः वा।।--याज्ञवल्क्य स्मृति।

ही रहेगा और उस सीमा तक सम्मानित भी उसी तरह बना रहेगा, जिस तरह विश्वविद्यालय से प्राप्त उपाधि वाला बना रहता है, परन्तु वह उस ब्राह्मण से अत्यन्त निम्नस्तर का माना जायगा, जो दीक्षित होने के पश्चात् अपनी विद्या की वृद्धि करता हुआ उसका प्रयोग समाज-हित-चिन्तन से करता है। ऐसा प्रगतिशील व्यावहारिक ब्राह्मण लोक-प्रियता को प्राप्त कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वह जनता की ओर से लोकमान्य, महात्मा आदि पदों से अपने-आप विभूषित किया जाने लगता है। ऐसा ही आचरण-प्रधान ब्राह्मण विप्र कहलाने का अधिकारी है और वही केवल विद्याप्राप्त ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और पूज्य होता है।

'विप्र' शब्दका अर्थ भी हमे इसी ओर इंगित करता है। 'वि' व्यापकता अथवा विस्तार (Universality) का और 'प्र' आगे बढना अथवा वर्धित होना (Forwardness) का अर्थवाची है; इसलिए 'विप्र' में दो भाव निहित है—एक 'विश्व' का और दूसरा 'प्रगति' का। अत: जो ब्रह्म-ज्ञानी विश्व-हित में रत होकर ऐसे उन्नत पथ पर चले कि जिससे विश्व-सुख की वृद्धि हो, उसे विप्र कहते हैं;[३०] इस प्रकार के ब्रह्माचरणीय ब्राह्मण को ही तुलसी ने महीसुर, महिदेव, ब्रह्मकुल, विप्र या विप्रवंश कहकर पूज्य या प्रथमवन्दनीय कहा है। इसी के पद या चरण-रज के लिए राम जैसे पुरुषोत्तम लालायित बताये गये हैं। अजी, और तो और स्वयं विश्वाधार भगवान् के विप्र-पद-चिन्ह से सुशोभित कहे गये हैं—'सुरवर विलसद्विप्र पादाब्जचिन्हं'[३१]

स्वयं तुलसीदासजी के कथनों से यह विदित होता है कि वे ब्रह्म को

---

३०. 'विप्र' की जो व्यौत्पत्तिक व्याख्या मैंने की है, उसका उत्तर-दायित्व मेरी क्षुद्र बुद्धि ही पर है। इसमें इतना बल अवश्य है कि जिन कतिपय शास्त्रार्थियों से मुझे इस पर चर्चा करने का अवसर मिला, उन्होंने इसका विरोध न कर सहमति ही प्रकट की है।

३१. मानस, उ० कां० आदि श्लोक।

जानने वाले ब्राह्मण और ब्रह्म के आचरणों को करने वाले ब्राह्मण में भेद मानते हैं और आचरणशील ब्राह्मण को ही विप्र कहते हैं। केवल ब्रह्म-विद्या को जान लेने पर कोई विप्र नही बन जाता, जैसा कि उनके इस व्यंग्यपूर्ण दोहे मे व्यक्त है—

'जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि ॥'

फिर, कौन होता है, विप्र? विप्र वह होता है, जो व्यवहार-क्षेत्र में जन-समूह के प्रति उदार और उपकारी हो। यही बात उनकी निम्न चौपाई में दर्शाई गई है—

'सब उदार सब पर उपकारी। विप्रचरन सेवक नरनारी।'[३२]

[यहाँ पाठक हमारे द्वारा पूर्व मे की गई 'पद' और 'चरण' की व्याख्या को ध्यान मे रखें]

अब विद्याधर वामन भिड़े कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'द्वि' शब्द के अन्तर्गत 'द्विज' शब्द देखिए। उसके अर्थों में से दो ये हैं—(१) A man of any of the first castes of the Hindus (a Brahmana Kshatriya or Vaishya) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मे से कोई भी एक ; और (२) Brahmana over whom the Sanskars or purificating rites are performed, अर्थात्—वह ब्राह्मण, जिस पर संस्कार अथवा शुद्धिकारक क्रियाएँ की गई हों।

'संस्कार' शब्द में 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कार' मूल संज्ञा है। इसलिए वह सद्कर्मो का द्योतक है, न कि रूढिवादियों के समान केवल मंत्रादि को फूँकने या जल-कणों को छिड़क लेने का। अतः यह निश्चय हो जाता है कि 'द्विज' शब्द सामान्यार्थी और विशिष्टार्थी दोनों है। अतः उसका अर्थ प्रसंगानुसार उपरोक्त प्रकार से लगाना आवश्यक है। यद्यपि उक्त विद्वान् कोशकार की व्याख्या के अनुसार 'द्विज' शब्द उक्त दोनों प्रकार के ब्राह्मणों के लिए कहा जा सकता है, पर निरे 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उपरोक्त

---

३२. मानस, उ० कां०, २१।७।

सांस्कृत्य ब्राह्मण के अर्थ में करना गलत होगा। अतएव, सास्कृत ब्राह्मण-निदर्शन या तो 'द्विज' शब्द ही से किया जा सकता है, अथवा तदर्थीय किसी दूसरे विशिष्ट शब्द से ; जैसे—'विप्र'। यही कारण प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी ने भी विप्र-भाव को प्रकट करने के लिए कहीं-कहीं 'द्विज' शब्द का भी प्रयोग किया है।

निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसीदास समाज को सुव्यवस्थित दशा मे लाने के लिए प्रयत्नशील थे। सुव्यवस्था के लिए समाज मे अर्थ, रक्षण और अध्यात्म साधनाओं की आवश्यकता रहती है। इसलिए उन तीनों के अध्यवसायियों का एक समान महत्त्व था। परिणाम-स्वरूप तुलसी ने 'द्विज' शब्द के द्वारा तीनों को समभाव से सम्मानित किया है, केवल ब्राह्मण ही की विशिष्टता नहीं दिखाई ; विशिष्टता यदि दिखाई है, तो केवल ब्रह्म-विद्या में निपुण समाज-सेवी आचरणशील 'विप्र' के लिए।

अतएव हमारा विनम्र निवेदन तो यह है कि टीकाकार या आलोचक-गण यदि मानस मे प्रयुक्त 'द्विज' एवं 'विप्र' शब्दों का अर्थ ब्राह्मण' न कर 'द्विज' तथा 'विप्र' ही किया करें, तो तुलसी के विचारों के प्रति अधिक न्याय होगा। प्रसंगानुसार भी 'द्विज' का अर्थ लगाया जा सकता है कि वह त्रिवर्णीय भाव को दर्शा रहा है, या केवल विशिष्ट रूप से 'विप्र' का। उदाहरणार्थ उस प्रसग को देखिए, जहाँ राम का लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक विमान में सवार होकर अयोध्या आना बताया गया है। वहाँ तुलसीदासजी कहते हैं—

"सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्मधुरन्धर रघुकुलनाथा।"

यहाँ 'द्विजन्ह' से केवल ब्राह्मण का अभिप्राय कदापि नही है, क्यों कि राम से मिलने के लिए सब अवधवासी पहुँचे थे, जैसा कि उक्त चौपाई के पूर्व के दोहे में कहा गया है—

"आवत देखे लोग सब, कृपा सिन्धु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि विमान।"[३३]

---

३३. मानस उ० कां०, ४ (क)

इन सब लोगों में चारों वर्ण के लोग थे। उनमें से समस्त द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को वे नमन भी करते हैं, क्योंकि धर्म-धुरन्धर रघुनाथजी उनको समाज-व्यवस्था के स्तम्भ समझते है।

जो भी हो, यह बात निश्चय है कि तुलसीदास ने, जहाँ तक हम पता लगा सके है, अपने ग्रन्थों मे केवल चार स्थानों पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है, जैसा आगे बताया जायगा। उसे प्रयोग में न लाने का एक कारण तो यही हो सकता है कि विप्र, ब्राह्मण और द्विज में शास्त्रीय एव आर्थिक भेद है, जैसा ऊपर कह आये है। और दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि तुलसो-काल के पूर्व से ब्राह्मण-शूद्र-विषयक कुछ ऐसी जनोक्तियाँ और विचारधाराएँ प्रचलित हो रही थीं कि जिनसे जन-विद्रोह बढ़ रहा था, या जिसे पाटने के लिए कबीरादि सन्त अपने-अपने ढंग से लग्नशील थे। उक्त जनोक्तियों में तीन प्रमुख हैं; यथा—(१) ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:, (२) जन्मना जायते ब्राह्मण; और (३) जन्मनाजायते शूद्र:।

इन जनोक्तियों पर सैद्धान्तिक विमर्श न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर अपने-आप पर ब्राह्मण की छाप और निम्नस्तरीय लोगो पर शूद्र की छाप लगाना प्रारम्भ कर घृणादि का बीज बोया, तब उन निम्नस्तरीय लोगों ने 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:' कहकर अपने-आप को उच्चस्तरीय सिद्ध करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। अनुमानत: सच बात यह प्रतीत होती है कि सर्वप्रथम 'जन्मना जायते शूद्र:' (जन्म से शूद्र होता है) का प्रचार रहा होगा। उसके द्वारा यह स्थिर किया होगा कि जन्मकाल के समय सभी बालक शूद्र रूप (of low level) होते है। गुरु-दीक्षा प्राप्त करने पर ही वे उच्च स्तरीय बन सकते है। अत: इस सूत्र के मूल में समाज के समानभाव से शिक्षावृद्धि की महत्त्वाकांक्षा निहित है। कालान्तर में स्वाभाविकत: अथवा विद्वेष भावना के उत्तम-विकास के सैद्धान्तिक आधार पर जन्म से ब्राह्मण वर्ण और शूद्र वर्ण की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया प्रतीत होता है। परन्तु हमारी समझ में, इसकी तह में, सिद्धान्त नहीं; किन्तु लौकिक विद्वेष है। यदि ऐसा न होता, तो 'जन्मना

जायते क्षत्रियः' एवं 'जन्मना जायते वैश्यः' सूत्रों का भी प्रचार उसी प्रकार हुआ होता, जिस प्रकार शूद्र और ब्राह्मण विषयक उक्त सूत्रों का हुआ।

अब यह देखिए कि तुलसी ने अपनी समस्त रचनाओं मे केवल चार स्थानों पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है। इनके आने से भी हमारे इस निष्कर्ष मे कोई त्रुटि नहीं आती कि ब्राह्मण और विप्र में भेद है। वे चार स्थान ये है—

(१) मानस, अयो० कां० १४६।३।
(२) कवितावली, उ० का०, छन्द १०२।
(३) गीतावली, बा० कां०, पृ० २७१ पर } [३४]
(४) वहीं ,, पृ० २८२ पर }

उनके विवरण और उन पर हमारी टिप्पणियाँ ये हैं—

(१) सुमन्त रामादि को बन भेज कर अवध लौटते हैं। विषाद से इतने विकल है, जैसे मानो किसी ने गुरु, ब्राह्मण और गाय की हत्या कर डाली हो।

"पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुर बाँमन गाई।"

यहाँ 'वाँमन' शब्द सर्वमान्य जनोक्ति या विचार-धारा को ही प्रकट करने के लिए कहा गया है, न कि शास्त्रीय अर्थ में।

(२) कवितावली उ० कां० छ० १०२ मे तुलसी कलिकाल से सताये जाने पर उससे एक दन्त-कथा के आधार पर कहते है—

"जाति कै जोर करौ, परिनाम तुम्हैं पछितैहौ पै मैं न भितैहौं।
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि, हौं त्योंही तिहारे हिये न हितैहौं॥"

दन्त कथा यह है कि एक बार एक गरुड़ एक ब्राह्मण को लील गया, परन्तु जब उसे पीड़ा हुई, तो ब्राह्मण को उगल देना पड़ा। यहाँ भी ब्राह्मण का प्रयोग कथात्मक मात्र होने के कारण शास्त्रीय रूप में नहीं है।

(३) तीसरे स्थान पर, अर्थात् गीतावली पृ० २७१ पर, जो ब्राह्मण

---

३४. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित, तुलसी-ग्रन्थावली।

शब्द आया है, वहाँ तुलसी ने स्वयं खुलासा कर दिया है कि उनका अभिप्राय उन्हीं ब्राह्मणो से है, जो वेदादि का पाठ कर सकते थे। प्रसग है राम-जन्म का--

"ब्राह्मण वेद, बंदि बिरदावलि, जब सुनि मंगल गान।
निकसत पैठत लोग परस्पर बोलत लगि लगि कान॥"

(४) चौथे स्थान, कवितावली पृ० २८२ पर, जो ब्राह्मन शब्द आया है, वह निस्सन्देह विप्र तथा महिदेव के अर्थ मे कहा गया है ; पर वहीं उस ब्राह्मन की व्याख्या भी कर डाली है,

रामादि भाइयों का बाल्यकाल। यहाँ उस ब्राह्मण-विशेष का वर्णन है, जो आगामी (भविष्य की बाते बताने वाला) बूढो, बड़ा प्रमाणिक आदि है। ये ही तो विप्र के गुण होते है। सच बात तो यह है कि वह संकर (सं+कर) ही थे।

"अवध आजु आगमी एक आयो।
× × ×
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
× × ×
नख सिख बिलोकि बिप्र तनु पुलक नयन जल छायो।
× × ×
सनमान्यो महिदेव असीसत सानंद सदन सिधायो॥"

(ग) वर्णाधम और वर्णसंकर--उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात हो गया होगा कि जब कोई आत्म-विकास के क्षेत्र पर विचरने वाला उच्च-वर्गीय मनुष्य अपनी स्वाभाविक उच्चशक्ति का दुरुपयोग कर निम्नस्तरीय कर्म करने लग जाय, तो वह अधमवर्ण का और जब कोई अपने स्वाभाविक स्तर को छोड़ अन्यस्तर के कर्म करने लग जाय, तो वह वर्णसंकर कहायेगा। वर्णाधम और वर्णसंकर की कसौटी वाह्य रोजगारी कर्म नहीं है। जब लोग वर्णाधम या वर्णसंकर होने लगते हैं, तब समाज का पतन होने लगता है और अन्ततोगत्वा अराजकता (chaos) फैलने की सम्भावना आ जाती है।

(घ) **दोषाभासी कथनों में निर्दोष का स्पष्टीकरण**—अब वर्ण, आश्रम, ब्राह्मण, द्विज, विप्र शूद्र, वरणाधम, वर्णसंकर शब्दों की व्याख्या कर चुकने के बाद उन पंक्तियों का अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है, जिनको देखकर विचारहीन पाठक तुलसी पर ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात और शूद्रों के प्रति द्वेष-भाव का आरोप करते हैं। मानस-मीमासा से जो उद्धरण हमने पहले दिये है, वे काण्डों के क्रम से बालकाण्ड, अरण्यकांड, सुन्दरकांड तथा उत्तरकाड के हैं। वे इस तरह है वा० २८३।५, अर० ३३।१—२ सु० ५८।६ और उ० दोहा ९८ तथा ९९ के अन्तर्गत की पंक्तियाँ। इनमें से अर० ३३।१-२ प्रक्षिप्त प्रतीत होती है, क्योंकि मानस का एक प्रक्षिप्त रहित अप्रख्यात 'मञ्जु-संस्करण' हमने देखा है, उसमें उन्हें स्थान नहीं दिया। मान लिया जाय कि वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, तब भी तुलसी के भावो पर कोई आँच नहीं आ सकती।

पहले 'विप्र' सम्बन्धी अरण्य और बालकाण्डीय पंक्तियों को लीजिए। अभी कुछ पूर्व हम सामान्य दृष्टि से 'विप्र' संज्ञा की व्याख्या करके बता आये। अब देखिए, स्वय तुलसी के द्वारा की गई उसकी विशिष्ट व्याख्या, जिसमे उक्त सामान्य व्याख्या भी भली भाँति रक्षित है। तुलसी का 'विप्र' वह है, जिससे सन्त एवं अनन्त भगवान् जैसे लक्षण हों—

''अब जनि करहिं विप्र अपमाना। जाने सुसन्त अनन्त समाना'

(मानस, उ० कां० १०८ (घ) । १२); और सन्त वह है—जिसमे सरलता और समता समा गई थी—"बंदहुँ संत **समान चित्त**, हित अनहित नहिं कोइ" (वही० बा० कां० ३ (क) तथा संत **सरल चित** जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु" (वही बा० कां० ३) (ख) ब्रह्मचर्याश्रमोय गुरुकुल में दीक्षित एवं सुसास्कृत्य ब्राह्मण जब ऐसा संत-गुणी—आचरणशील बनकर जगत-हित में संलग्न रहे, तब वह तुलसी की दृष्टि मे 'विप्र' कहाता है।

तुलसी के इस विप्र का सम्बन्ध जनता के साथ ठीक वैसा होता है, जैसा किसी सद्गुरु का अपने शिष्यमण्डल के साथ अथवा किसी सहृदयी पिता का अपनी सन्तान के प्रति पाया जाता है। जिस प्रकार वे लोग सद्भावना

से प्रेरित हो शिष्य या सन्तान से, कभी-कभी कठोर वाणी या शापमय वाक्यों का प्रयोग करते है और इससे भी काम नहीं चलता, तो ताड़ना का आश्रय लेते है, उसी प्रकार विप्र को भी कभी-कभी किसी-किसी जन के साथ करना आवश्यक होता है। इस कठोर व्यवहार के बावजूद भी वे पूज्य माने जाते है। इसीलिए कहा है "पूजिय विप्र शील गुण हीना।" परन्तु यदि कोई केवल बौद्धिक बल में प्रवीण हो, अर्थात् वाद-विवाद में निपुण हो और अध्यात्मोत्कृष्टता को न बर्तता हो, तो वह पूजने योग्य नहीं होता ऐसे प्रवीण मनुष्य को ही शूद्र कह कर संकेत किया गया है। इसलिए तुलसी ने जो कुछ अरण्यकांड ३३/२ मे विप्र या शूद्र कह कर व्यक्त किया है, वह शास्त्र-संगत और न्याय-संगत सत्य ही है, यह तो माना जा सकता है। आप कहेंगे, कि यदि कोई प्रिय समझाने-बुझाने पर सन्मार्ग ग्रहण न करे, तो उसके प्रति कल्याण-भावना से प्रेरित मनुष्य उसे न केवल कठोर वचन कह सकता है, वरन् आवश्यकतानुसार दण्ड भी दे सकता है, किन्तु 'शाप' देने पर भी वह कैसे पूज्य कहा जा सकता है, जैसा तुलसी ने शापत ताड़त परुष कहन्ता। विप्र पूज्य असगावहिं सन्ता।" (अर० ३३।१) में 'विप्र' के विषय मे व्यक्त किया है। 'शाप' में आप कहेगे, एक ओर तो तथाकथित विप्र में क्रोध और क्रूरता की पराकाष्ठा लक्षित होती है, और दूसरी ओर तथाकथित प्रिय के प्रति विनाश की भावना भी काम करती है। ऐसा समझना भूल है। 'शाप' मे न क्रूरता रहती है और न विनाश की भावना, और न उसमें निरा क्रोध ही रहता है। उसमें प्रेम-मिश्रित क्रोध और कल्याण-भावना ठीक उसी तरह रहती है, जैसी कठोर वचन और दण्ड की क्रियाओं मे पाई जाती है। 'शाप' अथवा 'श्राप' में विद्यमान महत्त्व को सरलता पूर्वक समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए। मान लो 'अ' नामक व्यक्ति का एक 'ब' नाम का बालक बड़ा हठी है। अबोध होने के कारण 'ब' अग्नि के अंगार को प्रियवस्तु समझ कर पकड़ने दौड़ता है। 'अ' पहले उसे समझाता है। जब वह नही मानता, तब कठोर वचन कहता या डाँटता है, और फिर दण्ड भी देता है। अन्त में जब वह देखता है कि वह नहीं

मानता, तो निराश होकर झल्लाता हुआ कहता है--'जा मूर्ख, मर, जो तुझे पसन्द है वही कर' ऐसा कहता हुआ 'अ' चुप बैठ जाता है। 'ब' दौड़कर अंगार पकड़ता है। पकड़ते ही वह चीख मारकर रोना प्रारम्भ करता है—उसे अनुभूति होती है कि अंगार पकड़ना दु:खदायी होता है। उसके पश्चात् वह कभी अंगार को नहीं पकड़ता और न पकड़ने की इच्छा करता है। इसी का नाम है, अनुभूति के द्वारा शिक्षा देना (Teaching by experience) जिस पर कुछ काल पूर्व पाश्चात्य कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने अधिक बल देना प्रारम्भ किया था। इसी में निहित है शाप का रहस्य। अब यदि आपको दृष्टान्त से समाधान हुआ हो, तो आइए, हम 'शाप' तथा 'श्राप' शब्दों के मूलार्थों के आधार पर समाधान का मार्ग बतायें। किसी ऐसे संस्कृत या हिन्दी का शब्द-कोश उठाइए, जिसमें वर्णों का भी अर्थ दिया हो। उसमें आपको 'श' का अर्थ मिलेगा, 'शिव' और 'कल्याण'। इसी तरह 'र' का अर्थ मिलेगा, 'अग्नि'। अब 'आप्' धातु को देखिए, तो उसका अर्थ मिलेगा 'प्राप्त करना'। अत: 'शाप' (श+आप) का अर्थ हुआ, 'कल्याण प्राप्त करना', और 'श्राप' (श+र+आप) का अर्थ हुआ, 'कल्याणात्मक अग्नि (अथवा शक्ति) प्राप्त करना।' जिस प्रकार 'पाप' (प+आप) 'पतनोन्मुखी गति' का सूचक होता है, उसी प्रकार 'शाप' और 'श्राप', दोनों 'कल्याणोन्मुखी गति' के द्योतक हैं। श्री, श्रेष्ठ, श्रेय, श्रद्धा आदि शब्द इसी कल्याण-सूचक 'श्र' संयुक्ताक्षर से बने हैं। इसी तरह मूल भावार्थ की दृष्टि से भी 'शाप' मे प्रिय के प्रति अन्तर्निहित भावना 'कल्याण' ही की रहती है। इसीलिए कहा है कि विप्र यदि 'शाप' भी दे, तो भी पूज्य होता है। देव-देवियों तथा ऋषि-मुनि-तपस्वियों द्वारा 'शाप' या 'वरदान' देने वाली सैकड़ों पौराणिक कथाएँ में आपने देखी होंगी। श्रेष्ठ आत्माओं द्वारा कल्याण-भावना का प्रसार करना ही दोनों प्रकार की गाथाओं का उद्देश्य होता है, भेद केवल इतना है कि अनुकूल बर्तने वाले भक्त को तो उसके कल्याणार्थ 'वरदान' (वर=श्रेष्ठ) दिया जाता है और प्रतिकूल बर्तने वाले को उसी हेतु से 'शाप' दिया जाता है। विप्र-विषयक

इस रहस्य को जान लेने के पश्चात् अब हम समझते है, बालकांडी की पंक्ति 'विप्रवंश की अस प्रभुताई, अभय होय जो तुमहि डराई ।।' (२८३।५) की सत्यता प्रकट दिखाई देने में पाठकों को कोई सन्देह नहीं रहेगा। एकात्मीयता से प्रेरित विप्र मोह-शोक-भयादि जगतीय द्वन्द्वो से परे रहता है। यही उसकी 'प्रभुताई' है। इसलिए, जा ऐसे निर्द्वन्द-निर्भीक विप्र-सांज्ञिक आत्माओं से विरोध करने मे भय खाता हुआ, उनके पद-चिन्हों पर चलकर समाज में कल्याण की भावना से कर्तव्य-परायण रहता है, वह भी स्वयं 'अभय' हो जाता है। अब रहीं सुन्दर और उत्तरकांड की पंक्तियां, सो सुन्दरकांड वाली पक्ति नारी-विषयक है, इसलिए उन पर नारी प्रसंग के समय ही विचारना उपयुक्त होगा। रही उत्तरकाण्ड से उद्धरित की हुई पंक्तियाँ। उनमें तुलसी ने कलि-वर्णन के बहाने तत्कालीन समाज की दुर्दशा का चित्र खींचा है। समाज में सब ओर भ्रष्टाचार चल रहा था। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम तो सर्वसमाज पर एकबारगी दृष्टि डाल 'पाप परायन सब नर नारी' तथा 'श्रुति विरोध सब नर नारी' कह कर सभी को लथेड़ा। फिर एक ही शब्द 'भूप-प्रजासन' द्वारा तत्कालीन अत्याचारी राज्यपद्धति तथा प्रजा की दुर्गति का दिग्दर्शन कराया। बाद में नर-वर्ग और नारी-वर्ग के अलग-अलग दोषों का उल्लेख किया; जैसे—'सब नर काम लोभ रत क्रोधी' तथा 'गुन-मन्दिर सुन्दर पति त्यागी' इत्यादि। तदनन्तर आश्रय और वर्ण-व्यवस्था की शोचनीय दशा का वर्णन मिलता है, जिसमें वर्णाधमों, या वर्णसंकरों के विषय मे कहा गया है; जैसे—'जे वरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच कोल किरात कलवारा, (अर्थात् उच्चवर्णीय ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि निम्न स्तरीय काम-काज करने लग गये), तथा—

'भए वरन संकर सकल, भिन्न सेतु सब लोग' इत्यादि। इसी तरह उन्होंने कौटुम्बिक स्थिति आदि को लेकर द्विजों, विप्रों शूद्रों आदि सभी पर लांछन की बौछार करना नहीं छोड़ा।

(ङ) ब्राह्मण-शूद्र-विषयक दोषारोप की विवेचना का सारांश— सारांश यह है कि चहुँ ओर से परखने वाले समाज के समीक्षक इस तुलसी

को, जिसने विप्र को, विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृषली स्वामी' कहकर बहुत ही नीच कह डाला है, यदि कोई कहे कि वह ब्राह्मण या विप्र का पक्षपाती और शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों का द्रोही है, तो हम तो यही कहेंगे कि वह तुलसी को समझा ही नहीं।

(३) नारी-निन्दा का दोषारोपण और उसका निराकरण—भाव या प्रसंग की ओर सजग न रहने के कारण जिस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में कतिपय आलोचकों में भ्रम फैला हुआ है, उसी प्रकार उनमें यह भ्रम भी प्रवेश कर गया है कि तुलसी का नारी-जाति से द्वेष था।

(क) दोष और निर्दोष निरूपकों के विभाग—कुछ आलोचकऐसे हैं, जो खुलेआम तुलसी को इस विषय मे दोषी कहते हैं; जैसे—मिश्र बन्धु[३५] और रजनीकान्तजी शास्त्री।[३६] कुछ ऐसे हैं, जो मध्य का मार्ग पकड़े है, अर्थात् प्रशंसा के साथ-साथ निन्दा-विषयक हलकी-सी छींटाकशी भी करते हैं, जैसे विज्ञ पं० रामचन्द्र शुक्ल[३७] और डा० राजपति दीक्षित।[३८] परन्तु तीसरे वे हैं, जो तुलसी को निर्दोष सिद्ध करते हैं; जैसे—पं० रामचन्द्र दुबे।[३९] हम स्वयं दुबेजी से भी अधिक दृढ और उच्च स्वर से यह कह सकते हैं कि तुलसी पर इस सम्बन्ध में कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

(ख) स्वाभाविक नियम के आधार पर हमारा मत-निर्धारण—हम अपने मत की पुष्टि उसी स्वाभाविक नियम (the law of nature) पर आधारित करेंगे, जिस पर वर्णाश्रम व्यवस्था अवलम्बित है। इस दृष्टि से, जहाँ तक हमें ज्ञात है अभी तक किसी आलोचक ने स्पष्टत: विचार नहीं

---

३५. देखिये मिश्रबन्धु कृत 'नवरत्न'।

३६. ,, मानस-मीमांसा, पृष्ठ २८४।

३७. ,, तुलसी-ग्रन्थावली (खं० ३), पृष्ठ १२८ वा १३१।

३८. ,, तुलसी और उनका युग, पृष्ठ ७४-७५, ७६।

३९. ,, तुलसी-ग्रन्थावली (खं० ३), पृष्ठ २२६।

किया। तुलसी ने जो कुछ जिस स्थल पर नारि-विशेष या नारि-जाति के विषय में कहा है, वह सत्य-निष्पादन के रूप में कहा है। सत्य ही प्रकृति का अटल नियम है, यह हम सब जानते हैं। यह सत्य क्या है? यह है, द्वन्द्वात्मक गुण-दोषमय संसार। यह बात तुलसी ने मानस के प्रारम्भ मे ही पाठकों को जतला दी है।

"कहहिं वेद इतिहास पुराना। विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना।।"[४०]

और

"जड़ चेतन गुण-दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।।"[४१]

इन गुण-दोषों का स्वरूप, जब जैसा परिस्थितियों का संयोग मिल जाता है, तब वैसा बदलता रहता है, जैसा तुलसी ने कहा है—

ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग।।"[४२]

मनुष्य के विषय में 'कुजोग-सुजोग' का प्रभाव जताने के लिए उनकी निम्न पंक्तियाँ देखिए—

"विधिवश सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि सम निजगुण अनुसरहिं।"[४३]

तथा

"शठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।।"[४४]

अतएव, यह समझकर कि सारी सृष्टि एक भगवान् राम की रची हुई है और स्वभाव से वह गुण-दोषमय है, उन्होंने अभेद रूप से सभी की वन्दना

---

४०. मानस बा० कां०, ५।४।
४१. वही ६ (पूर्वार्द्ध)।
४२. वही २० (क)।
४३. वही २।१०।
४४. वही २।९।

की है--

"जड़ चेतन जगजीव युत, सकल राम मय जानि।
बंदहुँ सब के पद कमल, सदा जोरि युगपानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बंदहुँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥"[४५]

परन्तु राम के बन्दे के नाते सब को, चाहे वे पुरुष हों या नारियाँ, नमन करना एक बात है और उनके गुण-दोषों का निरीक्षण कर उन्हें भला या बुरा कहना दूसरी बात है, क्योंकि यदि समाज-सेवी सन्त यह न करे, तो वह कर्तव्यच्युत होगा ! इसलिए उसे हंस के समान बर्तना चाहिए।

"संत हंस गुन गहहिं पय, परि हरि वारि विकार।"[४६]

यही तुलसी ने किया है। उनकी दृष्टि में नारि-जाति उतनी ही सम्मान और प्रेम की पात्र थी, जितनी कि पुरुष जाति। अवगुण प्रगट करने में न उन्होंने पुरुष को छोड़ा और न नारि को। फिर प्रश्न उठता है कि तुलसी के मत्थे यह नारी-निन्दा विषयक दोष क्यों और कब से मढा जाने लगा।

(ग) नारी-विषयक दोषारोपण क्यों और कब से प्रारम्भ हुआ—तुलसी ऐतिहासिक मध्यकाल(midieval age) में हुए थे। उस युग में सब देशों में साम्राज्यवाद का बोलबाला था। स्त्री जाति को कोई भाग राज-व्यवस्था में नहीं मिलता था। कुछ काल बाद यूरोप मे पूँजीवाद का प्रसार होता गया। इसके बाद वहाँ पर प्रजातंत्र-पद्धति ने सिर उठाया और स्त्री वर्ग को धीरे-धीरे राज्याधिकार और सामाजिक जीवनचर्या में पुरुष-वर्ग की बराबरी पर लाने के हेतु विविध प्रकार की नीतियों का उद्‌भव होना प्रारम्भ हुआ। जैसे मताधिकार, तथा पुरुषों के संगविचरण आदि। इस प्रकार की लहर यूरोप से भारत की ओर भी उन पाश्चात्य कौमों के साथ-साथ बढती आई, जिन्होंने मुगल बादशाहों के समय देश पर पदार्पण करना प्रारम्भ

---

४५. वही बा० कां० ७ (ग) (घ)।
४६. वही ६ (उत्तरार्द्ध)।

किया। इन कौमों से सम्पर्क बढ़ा; और फिर अंग्रेजी राज्य जम गया। उनसे सुहबत बढ़ी और अंग्रेजी शिक्षा तथा साहित्य का प्रसार हुआ। प्रजातन्त्र के नाम पर प्रत्येक क्षेत्र में समानाधिकारिणी के नारों की उठी हुई गूँजों ने पुरुष और नारियों के मन को प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान के नर-नारी प्राकृतिक अन्तःकरणीय गति-विधि से विमुख होते गये और उन वाह्यडम्बरों में भ्रमण करने लगे, जिनमें उन्हें स्वातंत्र्य की प्रतीति होने लगी। हमारे अर्द्धाङ्ग अर्द्धाङ्गिनी पति-पत्नी सेवा तथा गृह-लक्ष्मीत्व आदिवाले उच्चादर्शों से मुड़कर काम-वासनाओं से भरे हुए बराबरी के दायरे वाले चरित्रों में आनन्द दिखाई देने लगा। जब पश्चिमी संगति, साहित्य और विचारधारा ने हमारे आध्यात्मिक-आन्तरिक दृष्टिकोण को धुँधला बनाना प्रारम्भ किया तभी से हम पाश्चात्य आलोचना-विधि का आश्रय लेकर तुलसी की नारि-विषयक समालोचना को नारी-निन्दा के रूप में देखने लगे, और फिर मची एक के बाद दूसरे की लड़ैया-पुकार। उदाहरण-स्वरूप 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने यह लिख डाला है कि "गोस्वामीजी की माताजी इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और ये अपनी स्त्री से अप्रसन्न हो गये थे। इनके वैरागी होने के कारण उच्चश्रेणी की स्त्रियाँ इन्हें नहीं मिलती थीं। और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को इधर-उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव न था। यही कारण है कि उनकी निन्दा की है। परन्तु, फिर भी ऐसे महात्मा और महाकवि की इतनी प्रचण्ड निन्दा करना अनुचित था।" मिश्रबन्धुओं के उक्त विचार कतिपय यूरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित किये गये उन अनुसन्धानों पर आधारित प्रतीत होते हैं, जिन्हें हमने पूर्व में सदोष बताने का प्रयास किया है। जो भी हो, मिश्रबन्धुओं की इस विचार-धारा ने तुलसी के अन्य भावी आलोचकों पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

(घ) **तुलसी की नारी-विषयक अनुभूति**—जब ये आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि तुलसी का विवाह हुआ, सन्तान हुई और गृहस्थ काल में कुछ दिनों तक रहने के बाद ही वे वैरागी हुए, तो मिश्रबन्धुओं की अनुभूति-

हीनता वाले तर्क को टिकने का अवकाश नहीं मिलता। फिर बैरागी के दर्शन करना तो सभी श्रेणी की स्त्रियाँ अहोभाग्य मानती है, और उन्हें इस हेतु अवकाश भी मिलता होगा, क्योकि तुलसी समाज मे विचरने वाले सच्चे वैरागी कहे गये है, न कि जंगल मे जाकर रहने वाले। वे देशाटन करते थे और तीर्थाटन भी तथा राम-कथा करना तो उनका मुख्य उद्देश्य था ही। उच्च राज्यकर्मचारी उनसे मिलते थे और मीराबाई-जैसी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उनमे पत्र-व्यवहार भी किया करती थीं। एक अंग्रेज विद्वान् ने भी यही लिखा है कि "इन्हीं (तुलसी) ने संसार का स्वयं निरीक्षण और मनन किया था। इन्हें केवल साधु समझना भूल है। यह वह मनुष्य थे, जिन्होंने जीवन यात्रा की थी।...इन्होंने विद्वानों के लिए नहीं; पर अपने सभी स्वदेश-वासियों के लिए लिखा है, जिन्हें वे जानते थे, (क्योंकि) ये उनमे रह चुके थे उनसे भिक्षा ली थी, उनके साथ प्रार्थना की थी, उनके सुख और दु:ख के साथी हुए थे।"[४७]

(ङ) तुलसी की नारी-विषयक धारणा—"नारी के सम्बन्ध में उनकी अनुभूति और धारणा अच्छी नहीं थी" इस प्रकार की आलोचना करनेवालों से जब यह पूछा जाता है कि फिर कौशल्या आदि का उत्कृष्ट चित्रण कैसे हो गया, तो वे उन्हें 'अपवाद मात्र और वैयक्तिक'[४८] कहकर भाग निकलने की चेष्टा करते है और चट से 'राम' पर आकर यह तर्क करने लगते हैं कि कौशल्यादि की प्रशंसा तुलसी ने केवल 'राम के नाते' अथवा 'उपास्य राम के परिवार से सम्बद्ध'[४९] होने की बात को निबाहने के लिए की है। यदि केवल यही बात है, तो इनसे पूछा जाय कि आखिर उस

---

४७. डॉ० सर जार्ज ए० ग्रियर्सन कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक निबन्ध, जिसका हिन्दी अनुवाद 'तुलसी ग्रन्थावली खंड ३' में प्रकाशित किया गया है।

४८. मानस-मीमांसा, पृ० ४३।

४९. 'तुलसी और उनका युग', पृ० ७४।

प्रकार के चित्रण करने की अनुभूति कहाँ से आई और फिर यह भी पूछा जाय कि बालि की पत्नी तारा, रावण की पत्नी मंदोदरी तथा दासी त्रिजटा का राम-परिवार से क्या सम्बन्ध था, जो उनका चरित्र-चित्रण इतना ऊँचा किया जा सका ? सच तो यही है कि तुलसी राम के अनन्य भक्त थे। वे चाहते थे कि सारा समाज उनका अनुशीलन कर अथवा उनका भक्त बन कर समाज में बर्ते। इसी धारणा को लेकर उन्होंने मानस की रचना की है, और इसी कसौटी पर उन्होने मानस के समस्त पात्रों को, चाहे वे पुरुष हों या स्त्रियाँ, कसा है। और तो और, पक्षी और बानर जाति के कहे जाने वाले व्यक्ति भी उसी कस के द्वारा परखे गये है। चाहे राम का क्षत्रिय स्तर वाला मानव-परिवार को, चाहे उससे निम्नस्तर वाला बालि-सुग्रीव का बानर-परिवार हो या निम्नस्तर रावण का राक्षस परिवार, सभी में आपको दो प्रकार के चरित्र दिखाये गये हैं—एक वे, जिनमें पदार्थ-तत्त्व की अधिकता तथा राम-तत्त्व की कमी है और दूसरे वे, जिनमें राम-तत्त्व की प्रधानता एवं पदार्थ-तत्त्व की स्वल्पता है। तुलसी का यह राम-तत्त्व—यह राम-परिवार क्या है? वह है **ईश्वरीय गुणों का वह समूह जो मानवता के रूप में मानवों में** अवतरित या प्रकट होता है। इसी सद्गुण-समुच्चयरूप राम को मानव-जीवन का आधार बताने के अभिप्राय से तुलसी ने 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन वैसी' सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थलों पर पत्नी-पति, माता-पुत्र, सेवक-स्वामी आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न वाक्य रचनाएँ की हैं, जिनमें से व्यापक अर्थ-वाली केवल दो पंक्तियाँ दृष्टान्त स्वरूप देखिए—

"राम प्रान प्रिय जीवन जी के, स्वारथ रहित सखा सब ही के।
पूजनीय प्रिय परम जहाँते, सब मानि अहिं राम के नाते।"[५०]

यह है तुलसी के 'राम के नाते का दरवाजा, जो सब के लिए सदा एक समान खुला रहता है, जिसका स्पष्टीकरण कितने खुले शब्दों मे तुलसी ने

---

५०. मानस, अयोध्या कां०, ७३।६-७।

कर दिया है—

"पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोई।
सर्व भाव कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥"[५१]

जो यह कहते हैं कि बेहतर होता यदि तुलसी वीरांगनाओं तथा अन्य विदुषियों का चित्रांकन करते उन्हें यह सोचना चाहिए कि तुलसी का उद्देश्य कुछ और ही था। उनका उद्देश्य था हर नर और नारी ईश्वरीय भाव से युक्त होकर आचरणशील बन समाज में मानवता को बर्तें और जागृत करें। इसी को उन्होंने आदि से अन्त तक समस्त पात्रों का यथायोग्य चित्रण कर निबाहा है।

(च) तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव—स्त्रियों के विषय में तुलसी ने जो कुछ लिखा है, उसकी जाँच अभी तक हमने उनकी भावना की दृष्टि से की। अब तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की दृष्टि से जाँचा जाय। समाज-सुधारक लेखक की रचना को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आरसी कहा जाता है, सो ठीक ही है। मध्ययुगीन सर्वदेशीय नारी-जगत् के प्रति जो भावनाएँ उस समय रहती थी, वे प्रायः वैसी ही थीं, जैसो कि तुलसी के चरित्र-चित्रणों में पाई जाती हैं। जगत्-प्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर तुलसी का समकालीन था। उसके नाटकों को देखिए, तो विदित होगा कि उसने भी नारियों के चरित्र-चित्रण करने में उनके दूषणों का भंडाफोड़ किया है। 'किंग लियर' की गोनरिल (Goneril) और रीगन (Regan) नाम की दो पुत्रियाँ 'एक से एक बढकर हर प्रकार की हृदय-शून्यता और नीचता।' (Rivals in every kind of heartlessness and depravity)[५२] अपने दयालु पिता के प्रति दर्शाती है। 'हेमलेट' की माता अपने पति की हत्या कराने में योग देकर अपने देवर को राज्यासीन कराती है। 'मेकवेथ' और 'कारनेलिया' तो पं० रामचन्द्र दुबे के शब्दों में, "साक्षात् राक्षसी या दानवियाँ है, जिनकी तुलना

---

५१. वही, उ० कां० ८७ (क)

५२. K. Deighton 5 Introduction to 'King lear', P. ix

में मथरा और सूर्पणखा भी देवी कही जा सकती है।"[५३] शेक्सपियर का यह कथन 'Fraility ! The name is woman' (चंचलता ! तेरा ही नाम तो स्त्री है) जनोक्ति के रूप मे प्रसिद्ध ही है। इससे भी अधिक देखना हो, तो 'मिस्ट्रीज आफ दी कोर्ट आफ लदन' नामक बृहद् ग्रन्थ अथवा तत्कालीन मुस्लिम जीवन या साहित्य पर दृष्टि डालिए ; पर इस विदेशी साहित्य से तुलसी का मन प्रभावित नहीं था ; वह प्रभावित हुआ भारतीय नारियों की दुर्व्यवस्था देखकर। नारियाँ मुसलमानों की काम-लिप्सा की खिलवाड़ बन रही थीं। हरम मे मानो विलासियों के बाजार गरम थे। हिंदुओं की बहू-बेटियों, सधवाओं या विधवाओं की मान-मर्यादा पापमय कुदृष्टियों, पाशविक बल तथा छल-छिद्र युक्त पाखंडों से सदैव खतरे में रहती थी। और भी इसी तरह के कई दुष्कर्मो को तुलसी ने देखा, जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन पाठकों को आठवे अध्याय में मिलेगा। इसलिए, संयम और अभय का पाठ पढाते हुए काम-लिप्सा से बचाने के लिए तुलसी ने पुरुष और स्त्री दोनों को प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार के वाक्य प्रसंगानुसार सुनाना, एक समाज-भक्त के नाते अपना अनिवार्य कर्तव्य समझा। इसीलिए उन्होंने सीता और रावण का एक ऐसा प्रसग प्रस्तुत किया कि जिससे जगल तक की एक अकेली झोंपड़ी में रहने वाली असहाय अबला भी बली से बली आततायी की काम-लिप्सा से अपने सतीत्व या धर्म के रक्षण करने का पाठ सीख सकती थी। अभय-साधना की आवश्यकता तो आपत्ति-काल ही में पड़ती है ; इसलिए ऐसा क्यों न किया जाय कि ऐसा आपत्ति काल ही क्वचित आ पाये। इसी दृष्टि से तुलसी ने यह कहकर सचेत किया कि अति स्वतंत्रता नारि के लिए हितकर नहीं—

"महावृष्टि चलि फूट कियारी, जिमि स्वतन्त्र होंहि बिगरहिं नारी ॥"[५४]

स्वतंत्रता-प्रिय पुरुष-नारी सभी तुलसी के इस कथन को देख, जिसमें 'महा-

---

५३. तुलसी-ग्रन्थावली (खं० ३), पृ० १८४

५४. मानस, किष्किन्धा कांड, १४।७

वृष्टि' शब्द का बड़ा महत्त्व है, व्यर्थ ही उन पर दोषारोप करने बैठ जाते है। तुलसी स्वतंत्रता के विरोधी नहीं थे। यदि होते तो, 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' क्यों कहते? वे मर्यादावादी थे। इसलिए क्यारी-रूप मर्यादा को उल्लंघन करनेवाली महावृष्टि-रूप महास्वतत्रता के विरोध मे कहा।

(छ) दृष्टान्तवत् प्रसंगानुसार भ्रम का निराकरण—अतएव अब हम दृष्टान्तवत् तुलसी के कथनों का निरीक्षण प्रसंगों के दृष्टिकोण से प्रकृति (माया) को जड़, अज्ञ आदि शास्त्रीय परंपरागत उपाधियाँ दी जाती हैं। यदि सती स्वयं अपने मुख से प्रायश्चित्त के रूप में अपने से उच्चस्तरीय स्वामी के सम्मुख अपनी हेयता प्रकट करती है, तो इसमे तुलसी को दोष देने का कोई कारण ही नहीं दिखाई देता। छोटा और तिस पर दोषी, तो बड़े के सामने सदा अपने-आप को छोटा या दोषी बताता हो है।

अयोध्या कांड

(ङ) साँच कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ।।
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई।।
(४६।७-८)

(च) काह न पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय।। (४७)

(छ) विधिहु न नारि हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।।
(१६१।४)

राम के तिलक की तैयारी हो रही थी। अयोध्या के सब नर-नारी प्रफुल्लित थे। एकाएक सुना कि कैकेयी, जो राम को प्राणों के समान चाहती थी, राम को बनवास भेजने के लिए तुल बैठी है। जनता में आश्चर्ययुक्त तहलका मच गया और व्याकुलता छा गई। (ङ) और (च) वाले पद्य इन्हीं लोगों की आहों से भरे वे आपस में कहे गये विचार हैं, जो पूर्वकाल से जनोक्तियों के रूप में प्रचलित थे, और (छ) वाला कथन अत्यन्त व्याकुल भाई भरत के मुख से निकला हुआ है। व्याकुलता के समय मानसिक संतुलन खो जाता है—क्रोध आ जाता है। उक्त कथन ऐसे ही

समय पर कहे गए है। उनके कारण तुलसी पर नारी-निन्दा का दोषारोप करना मूर्खता है।

अरण्य कांड

(ज) सहज अपावनि नारि, पति सेवत शुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चार, अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय॥ (५।क)

करके बतायेंगे कि उनके आधार पर तुलसी को दोषी ठहराना महान् भूल है। ये कथन हम मानस-मीमांसा में से ले रहे है ; क्योकि उसी के लेखक महोदय ने अधिक-से-अधिक कथनों का उल्लेख किया है। इन पर कांड-क्रम से विचार करना सुविधाजनक होगा। प्रसंग के अन्तर्गत छः बातों का समावेश होता है--(१) कौन, (२) किससे, (३) क्या, (४) क्यों, (५) कब, और (६) किस स्थान पर कह रहा है---इन छहों बातों पर ध्यान रखकर आलोचकों को आलोचना करना चाहिए। इन पर ध्यान न रखने के कारण कई एक आलोचक मानस मे आये हुए प्राय: सभी नारी-विषयक कथनों को तुलसी द्वारा निर्धारित सिद्धान्त मानकर उन पर दोष मढ़ने लगते है।

बालकांड

(क) सती कीन्ह चह तहहु दुराऊ। देखहु नारि-सुभाउ प्रभाऊ॥ (५२।५)
(ख) कीन्ह कपट मैं संभुसन, नारि सहज जड़ अज्ञ। (५७ क)
(ग) जदपि जोषिता अनअधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥१०९॥
(घ) अब मोहिं आपन किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥११९

इन पंक्तियों को देख निन्दा के प्रतिपादक आलोचक कहते हैं कि तुलसीदास ने नारियों को सहज ही अर्थात् स्वभाव से जड़, अज्ञ, छल-कपट करने वाली कहा है। तथा उन्हें सभी अधिकारों से वंचित कर मन-वचन-कर्म से पुरुषों की दासियाँ बना दिया है।

प्रसंग है सती और शिव का। न तो शिव हम-तुम जैसे पुरुष है और न सती हम-तुम जैसी नारी। शिव है 'कल्याण' की प्रतिमा, और सती है 'प्रकृति' की प्रतिमा। कल्याण बिना निर्दूषित प्रकृति के प्राप्त नहीं होता।

प्रकृति का दूसरा नाम माया है, और माया की गणना शास्त्रों में नारी-वर्ग में की गई है । तुलसीदासजी यही कहते हैं—

"माया भगति सुनहु तुम दोऊ, नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ॥"[५५]

यह जंगल मे अकेला जीवन व्यतीत करने वाली एक वृद्धा, अनुभव-शीला, पति-भक्तिन अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसुइया (न+असूय=निर्द्वेष-निर्दाग) का उपदेश है, उस अनुभवहीन सौन्दर्य की प्रतिमा नवयौवना सीता को, जो जंगल में विचरने जा रही थी, जहाँ न जाने कब उसके पाति-व्रत्य धर्म (सतीत्व) पर संकट आ पड़े । उसने संसार की स्त्रियों को पाँच विभागों में बताई, जिनमें से प्रथम चार को पतिव्रता कोटि की और पाँचवीं को पतिवंचक—खोटी कहा ।

उक्त सोरठे में 'सहज अपावनि नारि' के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) सभी नारियाँ स्वभाव से अपवित्र होती है और, (२) नारियाँ जो स्वभाव से अपवित्र हैं । प्रसंग के साथ पढने से दूसरा अर्थ ही उयुक्त है, क्यों कि जो स्त्रियाँ स्वप्न में भी पर-पुरुष को नहीं जानतीं और जो पर-पुरुष को भ्राता-पुत्र-पितृवत् देखती है । उनका मन तो पवित्र रहता है केवल शेष तीन प्रकार की स्त्रियों के मन में पर-पुरुष के साथ आसक्ति रहती है ; इसलिए उक्त सोरठे का भावार्थ यही है कि जिन स्त्रियों का मन दूसरों की ओर लगा रहने के कारण पूर्णतः पवित्र न हो, उन्हें चाहिए कि वे अपना मन अपने पति में केन्द्रित कर दें । ऐसा करने में प्रयत्नशील हलकी या क्षुद्र स्त्रियाँ भी सुगति को प्राप्त कर लेती हैं और वे ईश्वर को भी प्रिय होती है, उनका यश वेदों में गाया गया है । इस सोरठे मे हमारे मन्तव्य के अनुसार 'तुलसिका' तुल् धातु का रूपान्तर है, जो हलके-से-हलके अर्थात् पतिततम भाव का प्रदर्शन करता है । मन की पवित्रता तभी आ सकती है, जब मन आसक्ति के स्थान से उचटा कर दूसरे स्थान पर लगा दिया जाय । यही इस सोरठे का मूलाधार है ।

---

५५. मानस, उ० कां० ११५ (ख) ३ ।

(झ) भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होंहि विकल मन सकहिं न रोकी, जिमि रवि-मणि द्रव रविहिं विलोकी।
(१६।५–६)

स्थानाभाव के कारण इस पर पूर्णरूपेण तो यहाँ नहीं कहा जा सकता, पर इतना प्रत्यक्ष है कि वह राम-लक्ष्मण-सूर्पणखा के बीच का संवाद है। 'मन-वचन-कर्म' से पवित्र जीवन रखने वालों को विचलित करने का प्रयत्न करने वाली दुष्ट-हृदया तथा अहिनी-जैसी दारुण कुल्टा सूर्पणखा पहुँचती है। वह उन्हें प्रथम नाज नखरे करके रिझाती है और फिर भय दिखाती है। इसलिए, उक्त भाव इसी प्रकार की कुल्टाओं के लिए कहा गया है न कि सभी के लिए। पहली पंक्ति मे एक वचनीय 'नारी' शब्द को देखते हुए 'हो हिं' स्थान में 'हो हि' उपयुक्त होगा।

(ङ) काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह की धारि।
तिन्ह महँ अति दारुण दुखद, माया रूपी नारि॥

से लेकर

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मै यह जिय जानि॥
(४३वें दोहे से ४४वें तक)

विश्वमोहनी के द्वारा वरे न जाने पर कुछ दिनों बाद मन ठिकाने आने पर भक्त नारद रामजी के पास पहुँच कर उनसे पूछते हैं कि उन्होंने उस विवाह होने में क्यों अड़ंगा लगाया था। तब राम उन्हें ज्ञानी और भक्त का भेद बताते है और कहते है कि भगवान् और भक्त का सम्बन्ध माता और शिशु जैसा होता है, इसलिए मैंने तुम्हें अनर्थ से बचाया। उक्त प्रश्न के कारण 'नारद-भक्त' को राम ने नारी के प्रति मोह से बचाने के अभिप्राय से नारी में प्रतीतात्मक दोष बताये। सच बात यह है कि यहाँ पुरुष को ही निन्दनीय या दोषी ठहराया गया है; क्योंकि 'माया रूपी नारि' तो ज्यों-की-त्यों रहती है; परन्तु पुरुष ही पीलिया से ग्रसित रोगी के समान उसे कुछ-का-कुछ दीखने लगता है। राम-लक्ष्मण सूर्पणखा-संवाद

के समय नारी दोषी थी इसलिए वह दण्डनीय थी; यहाँ नारद दोषी थे; इसलिए बन्दर की मुखाकृति आदि द्वारा वे दण्डनीय थे; अतः इसमें न समस्त नारी जाति की निन्दा है, न यौवनाओं ही की, वरन् पुरुषों का दृष्टिदोष है, जिसके कारण मूर्खतावश उस ओर दौड़ते हैं।

सुन्दर कांड

(ट) सभय स्वभाव नारि कर साँचा, मंगल माँहि अमंगल राँचा। (३६।२)

ये शब्द शठ और अभिमानी पति रावण के, अपनी धर्म-मार्ग की चेतावनी देने वाली पत्नी मन्दोदरी के प्रति व्यंग्यात्मक हैं न कि किसी सिद्धान्ती के सिद्धान्तमय।

(ठ) ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी। (५८।६)

तुलसी को दोषी बताने के लिए यह चौपाई बहुधा कही जाती है। समुद्र बहुत समझाने-बुझाने पर राम को मार्ग नहीं देता। तब राम उसे ताड़ना देने के लिए तत्पर होते है। यह देख शठ समुद्र घबड़ा कर कहने लगता है कि हम जैसे हठी मूर्ख जब ज्ञान की बातों से सन्मार्ग पर नहीं लाये जा सके, तो ताड़ना ही उचित होती है। यही भाव उक्त चौपाई मे है। शठ कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ अपने से अधिक उच्चस्तरीय महानुभाव को गुरु के रूप मे कहता है कि हमें अपने सुधार की दृष्टि से गुरुजनों से दण्ड या ताड़ना पाने का अधिकार है। प्रसग देखते, नारी शब्द सभी नारियों का बोधक नहीं है, बल्कि शठ-नारियों का द्योतक है। 'पशु-नारी' कहा जाय, तो और खुलासा हो जाय, क्योंकि सम्भव है तुलसी ने पशु को नारी का विशेषण रूप लिखा हो।

लंका कांड

(ड) नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक अशौच अदाया।
१५ (ब)। २-३

रामचन्द्र के गुप्तबाण से जब रावण के मुकुट और मंदोदरी के कानों के ताटंक गिर पड़ते हैं, तब मंदोदरी एक बार फिर उसे समझाती है। परन्तु,

हठी वा अभिमानी रावण प्रलापी (शैतान) के समान (A devil can also cite scriptures) अचूक द्रष्टाओं अथवा कवियों के शब्द सुनाने इसलिए बैठ जाता है जिससे मंदोदरी पर उसकी बुद्धिमत्ता की धाक जम जाय और वह चुप हो जाय। उपर्युक्त कथन तुलसी-मत का द्योतक नहीं है वरन् रावणीय वृत्ति के पतियों का आश्रयरूप शस्त्र है और तुलसी-कालीन समाज में नारी-विषयक प्रचलित मूर्खतापूर्ण धारणा का भी प्रतीक है।

उत्तर कांड

(ढ) पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जड़ जाती।

११४ (ख)। १६

यह वह संवाद है जहाँ काग भुशुंड जी गरुड़ के प्रश्न करने पर उन्हें ज्ञान और भक्ति के भेद को समझा रहे हैं। पूर्वा पर ध्यान देने से यह तत्काल प्रकट हो जाता है कि उक्त पंक्ति में 'पुरुष' ईश्वरवाची, और 'अबला' प्रकृतिवाची है, न कि मानव-पुरुष-वाची और मानव-नारी-वाची।

(ज) मानस में नारी की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक आक्षेप—

सच पूछा जाय तो तुलसी ने नारियों की अपेक्षा पुरुषों की निन्दा अधिक की है, इसलिये उन्हें आपत्ति उठाने का अधिकतर अवकाश है? उदाहरणार्थ केवल निम्न पंक्तियों ही को देखिए—

सब नर काम लोभ रत क्रोधी, देव विप्र श्रुति संत विरोधी।

× × ×

परत्रिय लंपट कपट सयाने, मोह द्रोह ममता लपटाने।

× × ×

सब नर कल्पित करहिं अचारा, जाइ न वरनि अनीति अपारा।

× × ×

कलिकाल बिहाल किये मनुजा, नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।

यदि विषयासक्त नारी के विषय में तुलसी ने यह कहा कि वह भ्राता, पिता, पुत्र आदि मनोहर पुरुषों को देखकर विकल हो उठती है, तो 'सब

नर' के विषय में यहाँ तक कह डाला है कि वह बहिन वा पुत्रियों तक को नहीं मानता। 'मानत' शब्द के अन्तर्गत न केवल मानसिक विकलता आती है, वरन् शारीरिक दुर्व्यवहार भी आ समाता है।

(झ) तुलसी की नारी-प्रशंसा—

(१) **लक्ष्य-साधना की दृष्टि से**—तुलसी का विषय है, ईश्वर-भक्ति। और ईश्वर-भक्ति है, प्रधानतः अध्यात्म का विषय, न कि शरीर और मन की वृद्धि का। इसलिए उन्हें केवल उन्हीं पुरुष-स्त्रियों के चरित्रों की आवश्यकता थी जिनके देखने से एक ओर तो अध्यात्म-ह्रास का भयंकर चित्र आ खिंचे और दूसरी ओर आत्मोत्सर्ग की आनन्दमय झाँकी आ उतरे। ऐसे ही चरित्र आपको मानस में मिलते हैं।

(२) **चरित्र-चित्रणों की दृष्टि से**—तुलसी ने जो चित्र नारी-चरित्रों के खीचे हैं उन्हें देखिए। एक ओर हैं कैकेयी, मंथरा तथा सूर्पणखा, जिनमें सामान्य नारी-निन्दा की प्रतीति होती है; और दूसरी ओर हैं सती, पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, शबरी, अनुसुइया, तारा, त्रिजटा और मंदोदरी, जिनमें आत्मोत्थान के लक्षण दर्शाये गये है। यदि चरित्र-चित्रणो की संख्या के आधार पर निर्णय करना है तो प्रशंसात्मक चरित्रों की संख्या अधिक होने के कारण तुलसी को नारी-प्रशंसक कहना ही अधिक उपयुक्त है।

(३) **सिद्धान्त की दृष्टि से**—परन्तु बहु-संख्यक चरित्रों के आधार पर उक्त निर्णय निकालना तर्कसंगत नहीं माना जाने योग्य है। इसलिए सिद्धान्त-दृष्टि से देखिए तो यह निर्विवाद सत्य है कि एक ही मानव की सच्चरित्रता, यदि उच्चकोटि की है तो वह लाखों की दुष्चरित्रता की अपेक्षा अच्छी होती है। अतः नारी-निन्दात्मक कुछ चरित्रों के आ जाने से न तो तुलसी और न मानस ही दोष के भागी हो सकते हैं जब कि उन्होंने जनता के सामने उच्चकोटि के प्रशंसात्मक नारी-चरित्रों का भी उल्लेख किया है।

(४) **व्यवहार की दृष्टि से**—तुलसी-कालीन समाज का दृश्य अपने सामने ले आइए और देखिए कि समाज किस अधोगति को प्राप्त हो रहा था। समाज आखिरकार नर-नारियों का ही समूह रहता है। इसलिए

यदि आदर्श नर और आदर्श नारियाँ हो जायँ तो सारा समाज सर्व ओर से आदर्श बन जाये। इसलिये तुलसी ने समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के प्रतीक भिन्न-भिन्न आदर्शों के साथ मूलतः आदर्श पति राम और आदर्श पत्नी सीता का चित्रण किया। आदर्श चरित्रों का विशिष्ट रूप से प्रकाशन हो इसी विचार से उन्हें कुछ निम्नस्तरीय चरित्रों का भी वर्णन करना पड़ा, न कि किसी के प्रति द्वेष भावना से।

अतः यदि आत्मश्रेयात्मक कल्याण रूप धर्म और आत्महेयात्मक कलहरूप पदार्थवाद के बीच के सूक्ष्म भेद (subtle difference) को समझ यदि कोई मानस का अध्ययन करे तो उसे यह कहने का साहस न हो सकेगा कि "गोस्वामी जी कृत नारी-निन्दा का रूप सैद्धान्तिक है... (और) केवल कौशल्या आदि कुछ एक स्त्रियों की प्रशंसा......गोसाईं जी के नारी-जाति के प्रति सद्भाव के परिचायक नहीं हैं।"[५६]

---

५६. मानस मीमांसा, पृ० २९८

: ६ :

तुलसी के मूल आदर्श पर आरोपित दोष और उनका निराकरण

तुलसी का मूल आदर्श—[illegible] सन्त का प्रथम लक्षण है, सबको समभाव से देखना। तुलसी की दृष्टि सब पर अभेद रूप से थी यह हम गत अध्याय में बता चुके। दूसरा लक्षण उसका होता है, जनता के सम्मुख निष्कलंक आदर्श को प्रस्तुत करना। तुलसी का मूल आदर्श था 'सीता-राम'। इस आदर्श के पात्र सीता और राम पर कुछ आलोचक दोषारोपण करते हैं। अतः इस अध्याय में उनका निराकरण करना आवश्यक है ताकि उनकी विशुद्धता पर कोई सन्देह न रहे और तुलसी की क्रान्ति सदोष न समझी जाये।

समीक्षक के ध्यानार्थ प्रधानतः पाँच प्रश्न—मानस के किसी भी पात्र की समीक्षा करने के पूर्व, चाहे वह मूलादर्श का हो या साहचर्यादर्श का, समीक्षक का ध्यान निम्न पाँच प्रश्नों पर जाना अत्यन्त आवश्यक है—

(१) तुलसी ने किस उद्देश्य से ग्रन्थ रचा? समाज को सुख-लाभ हो।

(२) यह सुख कौन सा ? आत्म-सुख।

(३) क्या आत्म-सुख-प्राप्ति के लिये त्याग अथवा संन्यास की आवश्यकता नहीं है ? है।

(४) तब फिर क्या समाज से विरक्त होकर ही तुलसी क्रान्तिकारी बनना चाहते थे ? नहीं, समाज में रहकर व्यवहार करते हुए सन्यासी के रूप में वे क्रान्तिकारी होना चाहते थे।

(५) क्या यह मानव के लिये सम्भव है, या निरा सिद्धान्त है ?

सिद्धान्त है, पर निरा नहीं। यह सिद्धान्त-पथ है, जो हर पथिक को उसकी शक्ति के अनुरूप क्रमशः लक्ष्य के छोर तक पहुँचा सकता है।

इन बातों पर ध्यान रख जब आप मानस में वर्णित समस्त पात्रों पर दृष्टि डालते है तो विदित होता है कि उसमें निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक के कई लोकाचारी पात्र मिलते हैं। आत्म-पथ के इन सब पथिकों में से राम और सीता लक्ष्य के निकटतम पहुँचे हुए हैं। सच पूछा जाय तो आत्मा और प्रकृति का जो सम्बन्ध है, अथवा होना चाहिए, वही तुलसी ने समाज के नर-नारियों के समक्ष नर और नारी के भेष में आदर्श रूप से प्रस्तुत किया है।

सीता पर दोषारोपण और उसका निराकरण—सीता पर अविवेक-वश अदूरदर्शिता और दुराग्रह का केवल यह एक दोषारोपण किया गया हमें देखने को मिला है। उनका यह दुराग्रह दो बार हुआ। एक बार जब वे अयोध्या से राम के साथ वन गईं जिसके कारण राजा दशरथ के प्राण गये तथा कौशल्या आदि को वैधव्य भोगना पड़ा। दूसरी बार जब वे लक्ष्मण को कटुवचन कहकर पंचवटी आश्रम से उनकी इच्छा के प्रतिकूल राम की खबर लेने के लिये भेजती हैं जिससे सब ओर आपत्तियों के ढेर लग गये वा असंख्यों का रक्त प्रवाह हुआ।[1]

यह तर्क है एक ऐसे महानुभाव का जिन्होंने हमारी, समझ में, धर्म-तत्व की यथार्थता को नहीं पहचाना। उन्होंने केवल परिणाम की कसौटी को अपनाकर यह दोषारोपण किया है, जबकि धर्म-द्रष्टा प्रधानतः साधना को देखता है। जिसे वे दुराग्रह कहते हैं वह यथार्थतः सत्याग्रह (सत्य का आग्रह) का रूप है, जिसके महत्त्व के विषय में कम से कम इस गांधी-युग के समय किसी को सन्देह की गुँज़ाइश नहीं है।

धर्म के दो रूप होते हैं, (१) सत्य धर्म अथवा अनवच्छिन्न धर्म और (२) आपद्धर्म अथवा दशा आदि के कारण अवच्छिन्न हो जाने वाला धर्म।

---

१. देखो मानस मीमांसा, पृ० १५३-१६४

सीता प्रथम प्रकार की धर्म-परायणा थीं। तुलसी ने उनका चित्रण उसी दृष्टि से किया है। कभी-कभी मनुष्य के सामने ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि उस सम ा अच्छे-अच्छे विद्वान् पंडितों को यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन-सा कर्म करना श्रेयस्कर होगा—"कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"।[२] सीता के सामने उपर्युक्त दोनों बार ऐसी ही कठिन समस्याएँ आ खड़ी थीं। पर सत्य धर्म-निष्ठा होने के कारण उन्होंने दोनों बार परिणामों की चिन्ता न कर अपना निर्णय ले लिया। पहली बार उन्होंने पति-पत्नी के सम्बन्ध को 'जिय-देह', 'नदी-बारि' अथवा 'तनु-छाँह' जैसा समझ अन्य और नेह-नातों को 'तरनिहु ते ताते' जान बनवास ही जाना कर्त्तव्य समझा। उनका आग्रह पति के साथ जाने का किसी काम-वासनावश नहीं था, अपितु चौदह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी बन कर जंगल की यातनाओं को अपने पति के साथ भोगने के लिये था। दूसरी बार के आग्रह के द्वारा भी उन्होंने लक्ष्मण को तत्काल ही राम की खबर लेने भेजा। उस समय लक्ष्मण के साथ इतनी लम्बी तकरीर करने का कहाँ अवकाश था जितनी कि बाल्मीकि रामायण में बताई गई है और जिसका प्रमाण आलोचक महोदय ने अपनी पुस्तक में देकर तुलसी के सक्षिप्त वर्णन को उनकी एक यह चाल कही है कि उन्होंने सीता की कटूक्तियों पर पर्दा डालना चाहा है। यदि विषयान्तर न होता तो हम विस्तारपूर्वक यह बताते कि मानस के पात्रों वा उसके लेखक की आलोचना करते समय वाल्मीकि रामायण अथवा किसी अन्य ग्रन्थ में दिये हुए तन्नामकीय पात्रों एवं लेखन शैलियों को आधारभूत मानना साहित्यालोचना की दृष्टि से निरर्थक और अन्यायसंगत होता है।

यदि आलोचक महोदय ने किसी एक मँजे हुए साहित्यज्ञ के मस्तिष्क से विचार किया होता, तो वे तुलसी के इस सक्षिप्त वर्णन को उनकी एक चाल न कहकर उसे एक अनुकरणीय साहित्यिक चातुर्य की संज्ञा देते।

---

२. गीता ४।१६.

जिस विषय को वाल्मीकि ने चालीस श्लोकों की ८०-८१ पंक्तियों में बद्ध किया है (देखो अर० का०, अ० ४५), उसी को तुलसी ने चौपाइयों की केवल ४ पंक्तियों मे भर दिया है। यही क्या कम साहित्यिक चातुर्य है ? फिर जिस महासकटापन्न स्थिति से घिरा हुआ वह विषय था, उस समय क्या, वाल्मीकि रामायण जैसा उत्तर-प्रत्युत्तरो से भरा हुआ एक लम्बा वार्तालाप किसी साहित्य-प्रवीण की दृष्टि मे शोभनीय कहा जा सकता था ? पुनः जिन निम्नतम एवं ओछे स्तर के कटुतम आरोपों का सीता और लक्ष्मण के बीच आदान-प्रदान वाल्मीकि रामायण मे व्यक्त किया गया है; उन्ही जैसी कीचड़ यदि तुलसी उछालते बैठते, तो कहाँ जाती, उनके दो मूल आदर्श चरित्रनायकों, सीता और लक्ष्मण की वे निर्मलतम पवित्र झाँकियाँ जिनसे रामचरित मानस रूपी महामन्दिर का कोना-कोना सजाया गया है ? कहाँ जा गिरता भावज-देवर की इस हुज्जतबाजी के बीच, 'मानस' का वह उत्कृष्ट भाव, जिसमें भ्राता की रक्षा के प्रति भ्राता का और माता की आज्ञा के प्रति पुत्र का कर्तव्य रूप उत्तरदायित्व कूट कर भरा गया है। वहाँ मारीच 'हा सीते, हा लक्ष्मण' कह कर पुकारता है तो यहाँ केवल 'लक्ष्मण' कहकर। इसलिये यहाँ की सीता पत्नी के रूप मे पति के लिए छटपटाहट नहीं मचाती (वा० रा० ३।४५।१)। वह माता के रूप में पुत्र के सम्मुख व्याकुल हो कहती है "जाहु वेगि—सकट अति भ्राता" और लक्ष्मण पुत्र के रूप में माता की व्याकुलता से उत्पन्न मोहात्मक भोलेपन को देख मुस्कुराता हुआ "लक्षिमण विहँसि कहा सुनु माता" कह उठता है "भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परइ कि सोई"

यदि पत्नी-पति-संबंध ही की दृष्टि से देखिए, तो उक्त आरोप निराधार ठहरता है। सीता का इष्ट था स्वामी राम। वह इष्ट असाधारण काल में भी नहीं भुलाया जा सकता था। उनका तन कुछ समय के लिये भले ही राम से विलग रहा, पर मन उनका सदा राम में लीन रहा। असाधारण काल पड़ने पर अपने उसी इष्ट के प्रति प्रेमवश उन्होंने अनेकों यातनाएँ सहीं, लक्ष्मण जैसे सुहृद को कटुवचन भी कह डाले, सास-ससुर

की सेवा करना भी छोड़ा इत्यादि पर साधारण काल में तो उन्होंने इन लौकिक कार्यों को भी निबाहने में कोई कर्त्तव्यहीनता नहीं दिखाई, जो हर सत्य-निष्ठ पत्नी का परम कर्त्तव्य होता है। लंका-विजय के पश्चात् जब राम अयोध्या के राजसिंहासन पर विराजमान होते है तब सीता राजपत्नी होते हुए भी इन सब कार्यों को किस तरह करती हैं सो देखिए—

पति अनकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील विनीता।।

× ×

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी।।

× ×

निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।

× ×

कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।।

राम पर दोषारोपण और उनका निराकरण—राम पर निम्न पाँच दोषों का आरोप किया गया हमने देखा है—

(१) निरपराध मृगों का हनन और उनका मांस-भक्षण ;

(२) लक्ष्मण के द्वारा सूर्पणखा के नाक-कान कटवाना;

(३) अपने स्वार्थ के लिये बालि का छिपकर वध करना;

(४) घर-फोरू विभीषण को अपने स्वार्थ के लिये अपनाना;

और (५) ना कुछ एक धोबी के बकने से गर्भवती सीता को निर्दयता पूर्वक त्याग देना।

पाँचवें दोषारोपण का मानस से सम्बन्ध नहीं—तुलसी ने स्वयं मानस में इस प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की। बाद में किन्हीं लोगों ने मानस के अन्त में एक लवकुश काण्ड और जोड़ दिया है, जिसमें बहुत-सी अनर्गल बातें पाई जाती हैं। चूंकि यह मानस के बाहर का प्रसंग है इसलिए उस

पर विचार कर समय को व्यर्थ नष्ट करना होगा। अत: वह छोड़ दिया जाता है।

रामचरित-निरीक्षण-सम्बन्धी प्रचलित पद्धति से हमारा मतभेद—शेष चार प्रश्नों का सम्बन्ध मानस के राम से है। इनके उत्तर आपको कई स्थानों पर शंका-समाधानों के रूप में पढ़ने को मिले होंगे। हमने देखा है कि निर्दोष-पक्ष वाले जब किसी आरोपित दोष का खण्डन अन्य किसी दूसरे प्रकार से नहीं कर पाते तो 'समरथ को नहिं दोष गुसाई' कहकर अपने पक्ष की पुष्टि करने लगते हैं। सदोष-पक्ष वाले इसे निर्बलता का प्रतीक कहकर उपहास-प्रदर्शन करते और कहते है कि ऐसा आदर्श कौन काम का जिसके कार्यो का अनुकरण साधारणतया न किया जा सके। यदि समर्थ को दोष नहीं, तो उनका कहना रहता है कि रावण बेचारा ही क्यों दोषी बनाया गया अथवा सबलों द्वारा निर्बलों का पीसा जाना क्यों दोष कहाता है? इस प्रकार के कटाक्ष चलते हैं इन लोगों के।

समर्थ (सम्+अर्थ) मे पशुबल अथवा बाहुबल का भाव नही है। उसमें भाव है, आत्मबल का। जिसके आचारों में स्वाभाविकत: समता रहती है, अथवा जिसके कर्म भेद-भाव वाली बुद्धि से प्रेरित नहीं होते वही समर्थ वा निर्दोष होता है। यही कारण है कि ईश्वर को समर्थ वा निर्दोष कहते हैं (निर्दोषं हि समं ब्रह्म)।[3] इसी स्वाभाविक समता के आधार पर तुलसी ने नारद के मुख से कुछ दृष्टान्त देते हुए यह कहलवाया है—

'समरथ को नहिं दोष गुसाईं, रवि पावक सुरसरि की नाई।'[4]

यह सामर्थ्य स्वभाव से ही हो जैसा कि रवि आदि के उदाहरणों द्वारा प्रकट होता है। इसीलिए यह कहा 'शंकर सहज समरथ भगवाना'।[5] चूँकि यह समतायुक्त स्वाभाविकी सामर्थ्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन

---

३. गीता ५।१९

४. मानस, बा० कां० ६८।८

५. वही ६९।३

है और कहीं अविवेकी वा अभिमानी उसकी आड़ में अनाचार न करने लगें इसलिए तुलसी ने उसी 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली पंक्ति के नीचे चेतावनी के रूप में यह दोहा लिखा है—

"जौ अस हिसिषा करहिं नर, जड़-विवेक अभिमान।
परहिं कल्प भरि नरक महुँ, जीवकि ईस समान॥"[६]

जब शंकर सहज समर्थ हैं तो उनके इष्ट देव राम (सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा)[७] तो सहज समर्थ होना ही चाहिए, इसमे सन्देह नहीं।

तब फिर प्रश्न यह है कि क्या दशरथ-पुत्र राम के कृत्यों की समीक्षा भी उक्त आधार पर की जाने योग्य है? क्या वे 'ईस' थे या 'जीव'? वे 'ईश' नहीं थे, केवल ईश-अंश थे जैसा हर जीव होता है। साधारण जीवों की अपेक्षा उनमें अंशों की मात्रा अवश्य अधिक थी, जैसा तुलसी की निम्न पंक्तियों मे स्पष्ट है—

"अंसन्ह सहित देह धरि ताता, करिहउँ चरित भगत सुख दाता॥"[८]

और

'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा, लेहुउँ दिनकर बंस उदारा।"[९]

जब मनुष्य में ईश-अंशों की प्रचुर मात्रा होती है तब उसे इस विशिष्टता के कारण 'अवतार' कहते है। कभी अवतार न कहकर नरश्रेष्ठ, नरसिंह या पुरुषोत्तम आदि भी कहते हैं। तुलसी ने इसीलिए दशरथ-पुत्र राम को कहीं-कहीं पुरुषोत्तम भगवान् भी कहा है। ऐसे ही पुरुष को साधारण भाषा में असाधारण मनुष्य कहा जाता है। तुलसी के उक्त कथनों पर ध्यान न रखने के कारण तथा उनके द्वारा राम की वन्दनाओं आदि को देखकर पाठक

---

६. वही ६९
७. वही ५०।८
८. वही १५१।२
९. वही १८६।२

सामान्यतः यह समझते हैं कि वे दशरथ-पुत्र राम को ही ईश्वर मानते थे। यथार्थ बात यह है कि जिस प्रकार विलियम वर्ड्सवर्थ आदि प्रकृतिवादी (Naturalist) कवि किसी फूल या पक्षी को देख ईश्वरीय महिमा की गूँज से अपनी कविता को भर सकते है उसी प्रकार तुलसी ने दशरथ-पुत्र राम के अंग-प्रत्यंग अथवा भिन्न-भिन्न कालीन कृत्यों को देख ईश्वर के विभिन्न गुणों के वर्णन से वन्दनाओं आदि के द्वारा मानस को भली-भाँति सजाया है। वे दशरथ-पुत्र राम को पुरुषों में उत्तम अथवा असाधारण पुरुष ही जानते थे, और इस असाधारणता के कारण ही वे अवतार कहे जाते थे।

असाधारण पुरुषों के दो प्रकार के कार्य देखने को मिलते है—एक साधारण, और दूसरे असाधारण। इसलिए राम के चरित्र में भी हमे उनके बाल्यकाल मे लेकर अन्त तक सामान्य और असामान्य कृत्य देखने को मिलते हैं। बन्धुओं-सखाओं के साथ खेल-कूद जन-परिजन को बाल्य-क्रीड़ाओं से प्रसन्न रखना इत्यादि सामान्य कर्म हैं। इसके विपरीत अल्पकाल में अनेक विद्याओं का सीख लेना, सात ताल-वृक्षों को पार करते हुए पृथ्वी को छेद कर उनके शर का पुनः अपने स्थान पर लौट आना, अहिल्या-उद्धार, तैरते हुए पत्थरों आदि द्वारा समुद्र का बाँधना इत्यादि असामान्य कार्यों के दृष्टांत हैं। साधारण मनुष्य असाधारण मनुष्य के असामान्य कृत्यों को देख उन्हें चमत्कार, जादूगिरी, नज़रबन्दी आदि शब्दों से सम्बोधित करने लगता हैं, और यदि ऐसे कृत्य उसे स्वयं देखने को नहीं मिलते केवल उनके विषय में सुनता या पढ़ता है तो वह उन्हें अपनी अल्पज्ञता के कारण असम्भव या गप्प समझ बैठता है। उसकी इस प्रकार की धारणा उस समय और बढ़ जाती हैं जब कथक-वार्तिक लोग कई अनर्गल बातें उनके साथ और अधिक जोड़ देते हैं। यदि उपर्युक्त बातों पर ध्यान रख राम के चरित्रों की समीक्षा की जाय तो न तो अपनी ना-समझी के कारण राम को दोषी ठहराने का अवकाश आवे, और न 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' कहकर मन समझाने की बात आवे। अतः अब हम उक्त आरोपित दोषों का निरीक्षण स्वाभाविक

व्यवहार की दृष्टि से कर यह बतावेंगे कि तत्संबंधी शंकायें निर्मूल हैं। हमने इस पुस्तक के वर्तमान अध्याय तथा उसके पूर्व और आगामी अध्यायों के विषयों पर विस्तारपूर्वक लिख छोड़ा था, परन्तु उनका केवल संक्षिप्त रूप ही देना यहाँ उपयुक्त हो सका है।

(१) निरपराध मृगों का हनन और उनका मांस-भक्षण का दोषारोप—

जिन पंक्तियों के कारण यह दोषारोप लगाया जाता है वे ये हैं—

बंधु सखा सँगलेहिं बुलाई, बन मृगया नित खेलहिं जाई।
पावन मृग मारहिं जियजानी, प्रतिदिन नृपहिं दिखावहिं आनी।
जे मृग राम बान के मारे, ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।
अनुज सखा संग भोजन करहिं, मातु पिता अग्या अनुसरहिं।[१०]

मानस-मीमांसा के लेखक इन्हें देखकर कहते है कि "रामचन्द्र गोसाईं जी की धारणानुसार परमात्मा के अवतार हैं······और जिन्हें स्वयं आपने ही 'दीनबन्धु अति मृदुल स्वाभाऊ' होने की सार्टीफिकेट भी दे रखी हैं, वे ही रामचन्द्र···शिकार खेलने को जाते है, पर मारते है किनको? शेर बब्बर, बाघ, चीते आदि को नहीं; बल्कि निरोह, निरपराध तथा प्रकृति-भीरु 'पावन मृगों' को। इतना ही नहीं;··बल्कि अपने माता-पिता की आज्ञानुसार उन्हें अपने भाइयों तथा बन्धु-बान्धवों के साथ मिलकर भक्षण भी कर जाते हैं।[११]····इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि···
···'भोजन करहीं' मे केवल भोजन ही अभिप्रेत है, न कि मृगमांस-भक्षण भी। पर यदि अन्तिम चौपाई की व्याख्या इस प्रकार की जाए तो दूसरी चौपाई के 'पावन मृग' का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। 'पावन' शब्द इस बात को सूचित करता है कि जो मृग पवित्र थे अर्थात् जिनका मांस भक्षण करने योग्य था उन्हीं का शिकार रामचन्द्र करते थे अन्यों का नहीं।"[१२]

---

१०. मानस, बा० कां० २०४।१-४

११-१२. मानस मीमांसा, पृ० १३३ वा १३५

प्रसंग है राम के बाल्यकाल का वर्णन ! उसे समझने के लिये न तो हमें अवतार-तत्त्व की गहराई में जाना है, और न 'मानव-प्राणी-सुलभ-दुर्बलताओं' के भीतर घुसना है। बाल्यकाल के कार्यों में स्वाभाविकता और पवित्रता रहती है, क्योंकि उस समय बालकों मे स्वार्थ आदि से उत्पन्न दुर्भावनायें नहीं आ पातीं। उस समय उनमे सख्य, प्रेम वा क्रीड़ा अथवा लीला का भाव रहता है। तुलसी ने राम के जन्मकाल से लेकर उनकी हर अवस्था का चित्रण किया है। 'कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम-अनूपा' से प्रारम्भ कर 'कबहूँ उछंग' 'कबहुँ वर पलना' का काल जब निकल जाता है, तब 'धूसर भरे तनु' पर आते हैं, और क्रमशः अन्य बालकीय वर्णनों के पश्चात् जब राम कुछ और बड़े हो जाते हैं तब वे गुरु गृह पढने जाते हैं तथा फुरसत के समय समायुवाले बालकों के साथ वन में मृगया खेलने जाते है तुलसी का यह बाल-सख्य और 'पावन मृग', हमारी सम्मति मे, मानस को वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण से कहीं अधिक ऊँचा ले गया है, क्योंकि एक तो उन ग्रन्थों ने राम के बाल-क्षेत्र को केवल चारों राजकुमारों के घेरे में कोंढ़ कर रखा है, जब कि तुलसी उसे पार कर बाल-समाज में पहुँचा देते है, और दूसरे वे बालकों पर पौरुषेय शौर्य का आरोप कर उनके द्वारा शेर आदि 'दुष्ट मृगों' को मारने तथा उन्हें राजा को अर्पण करने की बात कहते है जब कि तुलसी उनकी 'स्वाभाविकी ज्ञान-बालक्रिया' के अनुरूप उनके द्वारा सरल-सीधे छोटे-मोटे पावन-मृगों का मारना तथा प्रशसा-प्राप्ति की इच्छा से उन्हें लाकर राजा को बताना दिखाते है। इस प्रकार की सहमृगया के वर्णन के बाद तुलसी सहभोज का वर्णन करते है और फिर कुछ और बाल-लीलाओ का वर्णन करके उस प्रसंग को यह कहकर समाप्त कर देते है—"यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई !"

यदि उक्त आलोचक महोदय ने इस बाल-सख्य के प्रसग पर दृष्टि रखी होती तो उक्त चौपाइयों में जिन शब्दो का प्रयोग तुलसी ने किया हैं, उनका स्वाभाविकी अर्थ न भुलाया जा सकता। बालकों का वन ग्राम

का निकटवर्ती कोई बाहर का स्थान ही हो सकता है जहाँ छोटे-मोटे तीतुर-बटेर, श्रृगाल जैसे पक्षी-पशु मृगया के लिये सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। यह वन वह बीहड़ बन का अर्थवाची नहीं है जहाँ शेर बब्बर आदि रहते हैं। 'मृग' का अर्थ लोग बहुधा 'हरिण' करते हैं। परन्तु यथार्थतः उसके अन्तर्गत समस्त प्राणीमात्र का अर्थ निहित रहता है। 'मृगया खेलहिं' कहकर तुलसी बाल-केलि का भाव लाये हैं, अन्यथा 'मृगया करहि कहते जैसा उन्होंने अरण्यकांड में खर-दूषण के सम्बन्ध मे कहा है। इसी तरह 'पावन' का प्रयोग बालकीय पवित्र भावना को दर्शाने-निमित्त किया गया है, न कि 'मृग की पवित्रता' या 'भक्ष्यमांस की पवित्रता' बताने के निमित्त।

मांस-भणण का आरोप लगाने के समर्थन में आलोचक महोदय चौथी चौपाई के 'भोजन करहीं' का दूसरी चौपाई के 'पावन मृग' से सम्बन्ध जोड़ते है, तीसरी चौपाई को मानो निगल जाते है। दूसरी यदि स्वतंत्र नहीं है, तो स्वाभाविकतः तीसरी से सम्बन्धित होना चाहिये और है भी। 'पावन मृग' तीसरी चौपाई के 'सुरलोक सिधारे' से सम्बन्धित है, अर्थात् वे 'पावन मृग' जो राम-वान से मारे जाते थे 'सुरलोक सिधारे'। चौथी पंक्ति में बाल्यकालीन चरित्र का भोजन-सम्बन्धी एक स्वतंत्र विषय उसी प्रकार है, जैसे धूल में खेलना, मृगया खेलने जाना इत्यादि।

उक्त चौपाइयों में 'पावन मृग और सुरलोक सिधारे' पद ही विवाद और शंका की जड़ हैं। इनके रहस्य को समझने के लिये सर्वप्रथम तुलसी की रचना शैली को देखिए। तुलसी रामचरित्र सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करते चलते हैं, पर बीच-बीच में कहीं कही अपनी सम्मति, भावना या ईश्वरीय महत्व भी बताते जाते हैं। उदाहरणस्वरूप घटना है 'गुरुगृह गए पढ़न रघुराई, अल्प काल विद्या सब पाई।' परन्तु उसी पंक्ति के नीचे 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी' कह कर तुलसी ने अपनी सम्मति वा भावना प्रदर्शित की है। इसी तरह 'पावन मृग मारहिं. . .आनी' यह दूसरी पंक्ति का कथन घटना सूचक है तथा तीसरी पंक्ति में कथित 'जे मृग रामवान. . . .सिधारे' तुलसी की उक्त

घटना सम्बन्धी सम्मति या भावना है। कवि अपनी भावना का आरोप राम के बान पर करता है। इसलिये 'पावन मृग' का अर्थ लगाने के लिये न तो यह आवश्यक है कि वह तीसरी पंक्ति के 'परलोक सिधारे' से सम्बन्धित किया जाय और न चौथी पंक्ति के 'भोजन करहीं' से।

तब फिर यह देखा जाय कि 'पावन' क्या मृग' का विशेषण है। हमारी सम्मति में, नहीं है। बालकों में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे किसी पशु-पक्षी की आन्तरिक बातों को जान तत्सम्बन्धी पवित्रता-अपवित्रता का निर्णय कर सकें। राम ही अकेले मृगया खेलने वाले नहीं थे। अन्य सखा भी खेलते होंगे (मृगया खेलहिं)। ऐसी हालत में क्या सभी में पावनता परखने की क्षमता मानी जा सकती है? तब पावन के निम्न अर्थ हो सकते है—

(१) देखने मे जो सुन्दर हों। बालकों की दृष्टि में जो सुन्दर दिखता है वही उनके लिये उत्तम या पवित्र होता है; अथवा

(२) 'पावन' मृग का विशेषण न होकर 'मृगया' का विशेषण हो सकता है क्योंकि अपने बूढ़े-स्यानों को मृगया करते देख बालक भी उस कृत्य को करने योग्य मानने लग जाते हैं। इस दृष्टि से उस पंक्ति का अन्वय यह होगा 'जिय (मृगया) पावन जानी'; अथवा

(३) 'पावन' जिसका विशेषण हो सकता है। उस दशा में अन्वय यह होगा—'पावन जिय मृग जानी मारहिं' अर्थात् अपने पवित्र मन में यह जानकर कि अमुक जन्तु शिकार खेलने योग्य है उसे मारते है।

इनके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार (transferred epithet) के दृष्टिकोण से बालहृदय की सहज पावनता का प्रतिबिम्बन अथवा आरोप मृग पर करके 'पावन जिय' न कहकर 'पावन मृग' कहा हो।

निष्कर्ष यह है कि एक ओर वे हैं जो राम को भोले-भाले प्राणियों को मार कर खाने का दोष लगाते हैं, और दूसरी ओर वे हैं जो राम के अवतारी-पन अथवा सामर्थ्य की बात कहकर यह बताते हैं कि राम उन्हीं मृगों को

मारते थे जो पूर्वजन्म में कुछ भूल कर बैठने के कारण पशु योनि में अपने पाप-फल को भोगने के लिये जन्मे थे। उन्हीं को राम मारते थे और परलोक भेज देते थे। यह दलील सुनकर यदि कोई विपक्षी यह कह बैठे कि फिर अपने बन्धु-बान्धवों या अन्य मानवों का भी हनन इसी आधार पर किया जा सकता है तो कोई आश्चर्य नहीं। दोनों पक्षों की तर्कें वा दृष्टिकोण अस्वाभाविक, अव्यवहारिक तथा अत्यन्त शिथिल वा निर्मूल होने के करण, हमारी सम्मति में नितान्त अग्राह्य हैं।

(२) लक्ष्मण के द्वारा सूर्पणखा के नाक कान कटवाना—

प्रसंग की मुख्य बात यह है कि सामवृत्ती, अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ ब्रह्मचारी राम-लक्ष्मण के पास सूर्पणखा असीम निर्लज्ज होकर इसलिये पहुँचत्ती है कि किसी भी प्रकार से वह उनके व्रत को भंग कर सके। प्रसंग की गम्भीरता में न जाने वाले लोग राम पर इस सम्बन्ध में बड़ा भारी दोष यह लगाते है कि उन्होंने क्षत्रिय-कुल-भूषण होकर भी एक अबला के नाक-कान कटवा लिये। मानस-मीमांसाकार ने इस विषय पर जो कटु आलोचना की है वह उनकी पुस्तक पृ० १४२-१४५ पर है। उसका सार यह है कि सूर्पणखा निरपराध थी, और रामचन्द्र असत्य बोले तथा उनका कृत्य निष्ठुर और बर्बर था। सूर्पणखा का निरपराधीपन निम्न कारणों से बताया है—

(१) स्त्रियों का सुन्दर पुरुषों पर आसक्त होना स्वाभाविक है—अपने मन को रोकना उसके काबू की बात न थी;

(२) विधवाओं का पत्यन्तर वरण करना शास्त्र सम्मत है;

(३) उस युग की सभी स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी तथा पतिवरण में पूर्णत: स्वतंत्र थीं; तथा

(४) सीता को भयभीत करने के लिये राम ने लक्ष्मण को कुँवारा बता स्वयं झूठ बोलकर तथा दोलापाती खेलकर उसे उकसाया; इसलिये उसका वह कार्य 'संगीन तथा अचानक उत्तेजना' (Grave and suddaen provocation) नामक नियम के अन्तर्गत आने के कारण अपराध की परिभाषा में नहीं आता।

उक्त क्रम १, २, ३ मे कथित बातें यदि सत्य भी मान ली जायँ, तो भी न तो कोई स्त्री किसी पुरुष को उसकी कामेच्छापूर्ति के लिए बाध्य कर सकती और न कोई पुरुष ही किसी स्त्री को बाध्य कर सकता है। यदि करे, तो उसकी गणना सदा न्याय या नीति की दृष्टि से आततायी मे की जाती रही है। आवश्यकता हो, तो ऐसे आततायी को मृत्यु-दण्ड तक दिया जा सकता है; जैसा हम बालि-वध के प्रसंग के समय बतायेगे। सूर्पणखा ऐसी निर्लज्ज थी कि उसने सती-साध्वी सीता के उपस्थित रहते हुए भी राम और लक्ष्मण के लौकिक धन से भी अधिक मूल्यवान आत्म-धन को, पहले तो अपने को कुमारी आदि बताकर तथा रुचिर-सुन्दर रूप बना मीठी-ठगौरी बातों द्वारा हरण करना चाहा, और अन्त में अपने भयकर रूप और सम्भवत: अपने भाइयों के वैभव तथा बल को बताकर भयभीत करके अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहा। राम ने उसे पहले समझा-बुझाकर कुछ ऐसी बातें कही कि यदि उसमें स्त्री-जाति का स्वाभाविक भूषण, लज्जा का तनिक भी आभास होता, तो लौट जाती। पर वह न टली, मानो जबरन धर्म-सर्वस्व लूटना चाहती हो। ऐसी परिस्थिति में मृत्यु-दण्ड न देकर केवल अंग-भंग कर देना एक प्रकार से कम ही सजा थी। सच पूछा जाय, तो सूर्पणखा ने स्वयं संगीन वारदात करने के लिए राम-लक्ष्मण को उकसाया, न कि राम ने या लक्ष्मण ने। इसलिए क्रम न० ४ में दिया हुआ तर्क निराधार है। यह कहा जाता है कि राम ने लक्ष्मण को 'कुमार' (कुँवारा) कहकर झूठ बोला, और यह झूठ बोलते हुए सूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजा, इससे आरंभ में उकसाने का अपराध राम ने किया। नही, अपराध सूर्पणखा ने ही प्रारम्भ किया और उसे सिद्ध करने के लिए अन्त तक हठ करती रही। वह कुमारी नहीं थी, दानवेन्द्र विद्युज्जिह्वा से विवाही जा चुकी थी (वा० रा०, उ० कां० १२।२)। फिर भी वह झूठ-मूठ 'कुमारी' बनकर पहुँची और राम से कहा कि मैं तुम्हीं को वरना चाहती हूँ। राम की अनिच्छा जानते ही वह उसी वरण के हेतु चट से लक्ष्मण के पास जा पहुँचती है। कितना झूठा था उसका यह व्यवहार! राम ने उसे प्रथम बार लक्ष्मण के पास

जाने के लिए नहीं कहा। केवल इतना ही कहा था, 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता'। सम्भव है, राम ने कुमारी बनने वाली विवाहिता सूर्पणखा से व्यंग्य करने के अभिप्राय से, उसी जैसा विवाहित कुमार दिखा दिया हो, क्यो कि लक्षमण के साथ उनकी पत्नी नही थी। उसी प्रसंग में 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता' के पूर्व तुलसीदासजी ने एक बार 'कुमारा' शब्द का प्रयोग और किया है, जो कुमारावस्था अथवा यौवनास्था का द्योतक है! अतः यह 'कुमार' भी उसी भाव के प्रदर्शनार्थ समझना चाहिए। पहली बार का कथन यह है—

'पंचवटी सो गइ एक बारा, देखि विकल भइ जुगलकुमारा।'

(३) अपने स्वार्थ के लिए बालि का छिपकर बध करना—सुग्रीव अपने बड़े भाई बालि का बड़ा भक्त था। वह मायावी दानव से बालि की रक्षा करने के अभिप्राय से पीछे-पीछे दौड़ता गया। भाई की आज्ञा के अनुसार गुहा-मुख पर एक मास तक बालि की बाट देखता रहा। बालि के न आने पर उसे मृत समझ घर लौट आया। उसकी अनिच्छा रहते हुए भी मंत्रियों ने राज्य की सूनी गद्दी पर राज्य-प्रथा के अनुसार उसको राज्य-तिलक कर दिया।[१३] बालि लौटा। सुग्रीव को बैरी समझने लगा। उसकी सारी सम्पत्ति और स्त्री का अपहरण कर लिया, तथा उसे राज्य से निकाल भगाया। तब से वह बालि के डर के मारे ऋष्यमूक पर्वत पर रहने लगा। उसके मंत्री हनुमान ने उसकी मैत्री राम से कराई। इसके बाद बालि और सुग्रीव का द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमे सुग्रीव को हताश और थकित देख राम ने बालि को वाण मारा, जिससे वह मर गया। प्रश्न यह है कि क्या राम ने छिपकर मारा और क्या उनका यह कृत्य सदोष है या न्यायपूर्ण?

तुलसी ने केवल यह कहा है—'विटप ओट देखहि रघुराई'। इससे छिपकर मारने का अर्थ नहीं निकलता है। दोनों भाइयों का द्वन्द्व युद्ध हो रहा

---

१३. वानर-राज्य की प्रथा के अनुसार राजगद्दी का उत्तराधिकारी राजा का छोटा भाई होता था, न कि पुत्र। (वा० रा० कि० कां० १७।५०)

था। उन पर नजर पड़ने से उनमें से किसी का मन विचलित न होने पाये, इस कारण, सम्भव है वे ओट से देख रहे हों ; परन्तु अधिक सम्भव यह है कि सघन जंगल होने के कारण सहज ही सघनता के कारण राम आदि विटपों की ओट मे हो गये हों। ऐसी दशा में प्रधानता है 'विटप की ओट मे पड़ जाना' न कि 'देखहिं' की। यह अर्थ वाल्मीकि रामायण के कथन से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ यही कहा गया है कि सघन वन-स्थल होने के कारण रामादि सब वृक्षों से ढक गये और वहाँ से देखते रहे। छिपकर मारने की बात तो पाठकों के मन मे बालि के क्रोध भरे 'मारेहु मोहि व्याध की नाई' शब्दों के आने से उठी होगी। परन्तु 'व्याध' शब्द दण्ड से दुखी बालि के मुख से निकला होने के कारण सत्यता का द्योतक नही कहा जा सकता, और सत्य भी हो, तो क्या उसका कृत्य केवल सदा छिपकर ही मारना होता है ? अतएव छिपकर मारने की बात मे हमें कोई तथ्य नहीं दिखता।

मान लीजिए, छिप कर ही मारा, तब भी राम का कृत्य नीतिमय होने के कारण निर्दोष है। बालि की गणना आततायी में थी। प्रमाण में यह देखिए—

> **अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः !**
> **क्षेत्र दारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥**[१४]

अर्थात्—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ मे शस्त्र लिए हुए मारने को उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन (खेत) छीननेवाला और स्त्री का हरण करनेवाला—ये छहों आतयायी होते है।

ऐसे आततायियों को प्राण-दण्ड तक देना न्याय होता है, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, जैसा मनु ने कहा है—

> **गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।**
> **आततायिनमायान्तं हन्यादेव अविचारयन्।**[१५]

---

१४. वशिष्ठ-स्मृति ३।१९।

१५. मनुस्मृति ८।३५०।

नाततायिवधो दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।।[१६]

तात्पर्य यह है कि आततायी को, बिना सोचे-विचारे प्रकट होकर या छिपकर मारनेवाले को दोष नही होता। आज भी यही नीति बर्ती चली जा रही है। प्रमाण-स्वरूप भारतीय दण्ड-विधान की धारा ९६ तथा ९७ पर विशेष लक्ष्य रखते हुए ९६ से १०७ धारा तक पढिए। इस अधिकार को सूत्र-रूप में 'आत्म-रक्षण का अधिकार (Right of private defance) कहते है।[१७] जब यह अधिकार किसी एक राज्य की प्रजा के बीच होनेवाले अपराधों से बचने के लिए सर्वत्र मान्य है, तब तो राजा राजा के बीच और भी अधिक मान्य समझना चाहिए; क्योंकि राजकीय न्यायालयों मे राजा को दण्ड उस काल मे मिलना असम्भव था। ऐसी परिस्थिति मे यदि राम ने बालि को मारा, तो कोई पाप नही किया, क्योंकि बालि ने अपने बाहुबल या राजबल के द्वारा एक निरपराध भाई की सम्पत्ति तथा स्त्री को छीन उसका देश-निकाला कर दिया था। इतना ही नहीं, वह उनका संभोग कर रहा था और अपनी पत्नी तारा आदि तक के द्वारा उन्हें लौटा देने के लिए सचेत करने पर भी अभिमानवश वह लौटाने को तैयार नही हुआ।

उपर्युक्त आत्म-रक्षण के अधिकार के अन्तर्गत कोई भी अन्य किसी दूसरे का सम्पत्ति शरीर आदि की रक्षा करने का अधिकारी माना जाता है? राम का उक्त मारने का कृत्य इस अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत तो था ही, पर मैत्री तथा इक्ष्वाकुवंशीय राजा भरत के राज्य-सेवक होने के नाते भी वह उचित था, क्यों कि एक ओर तो सुग्रीव मित्र थे और दूसरी ओर

---

१६. वही, ८।३५१।

१७. "Nothing is an offence which is done in the exercise of right of private defence" (**धारा ९६ भारतीय दण्ड-विधान**)।

बालि-राज्य यथार्थतः इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के अधिकार-क्षेत्र के भीतर का भाग था, जैसा कि वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काड के १८ वे सर्ग से विदित होता है ।

(४) घर-घालक अथवा देश-द्रोही विभीषण को अपने स्वार्थ के लिए अपनाना—

विभीषण के सम्बन्ध में यह कहा जाता कि वह कुटुम्ब तथा देश का द्रोही था । राम ने रावण-युद्ध मे सहायता पाने के स्वार्थ के हेतु उसे अपनाया तथा लका-विजय क पूर्व ही उसे बुद्धू बनाने के लिए लंकेश की उपाधि दे डाली ।

प्रसग की हत्या करनेवाले ही ऐसे तर्क उठाया करते है । रावण को उसकी स्त्री मंदोदरी तथा माल्यवंत आदि सचिव समझाते हैं कि पराई स्त्री को लौटा दो । रावण नहीं मानता । विभीषण भी बार-बार चरण छू-छूकर गालियाँ सुनता हुआ मनाता है ; पर मानना तो दूर रहा, रावण उसे लात मारता है ओर निकल जाने के लिए कहता है । तब भी वह उसके प्रति शुभ मनोकामना प्रकट करता हुआ चार मंत्रियो समेत राम की शरण मे जाता है । निकल जाने की बात मानस में स्पष्टरूप से नहीं आई, परन्तु अध्यात्म रामायण में कही गई है ।[१८] राम के पास जब वह पहुँचता है, तब राम उसका यथोचित सत्कार-स्वागत करते है । इसके पश्चात् दुष्ट संग के कारण वह अपने दुःखद जीवन का वृत्तान्त सुनाकर राम से शरण की याचना करता है ।

इन परिस्थितियों के समय क्या कोई ऐसा आलोचक, जिसे लेशमात्र भी मानवीय जगत् की नीति, विशेषकर राजनीति का ज्ञान हो, यह कहने का दम भर सकता है कि दुष्ट-संग से दुखित होकर भाग आनेवाले किसी शरणार्थी को शरण देना नीति-विरुद्ध है ? क्या कोई भी, जो राजा को नीति-पथ पर चलने के लिए उसके चरणों मे पड़-पड़ कर ठोकरों तथा

---

१८. अध्यात्म रा० युद्ध कां० २।३०; ३।३ ।

गालियों को सहन करता हुआ बार-बार आग्रह करे और उसके न मानने तथा सभादि से भगाये जाने पर किसी सन्मार्गी या धर्म-मूर्ति की शरण मे चला गया हो, कुटुम्ब या देश का द्रोही कहा जा सकता है? यथार्थत कुल में बट्टा लगानेवाला तथा उसे नष्ट करने के लिए बीजारोपण करनेवाला कुटुम्ब-द्रोही था रावण, और देश को अनैतिकतापूर्ण युद्ध के द्वारा बरबाद करनेवाला देश-द्रोही भी वही था। विभीषण तो इसके विपरीत कुटुम्ब और देश दोनों का सुहृद हितैषी था। नीति यह कहती है कि ऐसे दुष्ट राजा को त्याग देना ही परमोत्तम होता है--

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥"[१९]

अर्थात्--कुल के अर्थ एक व्यक्ति को, ग्राम के अर्थ कुल को, देश के अर्थ ग्राम को, और आत्मा के अर्थ पृथ्वी अर्थात् समस्त लोक को त्याग दे।

तथा

"स्वजनापमानो. . .कुनृपस्य सेवा. . .विनाग्निमेते प्रदहंति कायम्"[२०]

अर्थात्--अपने जनों मे अपमान और कुत्सित राजा की सेवा--ये बिना आग ही शरीर को जलाते है।

राम का उद्देश्य यह नहीं था कि लंका-विजय कर वहाँ का राज्य या अन्य सम्पत्ति हथिया ली जाय। मानस में वर्णित समस्त संघर्ष वा युद्ध आचारों से सम्बन्धित मानवता और पाशविकता (अमानवता) अथवा धर्म और अधर्म के बीच के है। राम किसी की सम्पत्ति हड़पने या अयोध्या राज्य का विस्तार करने के लिए तपस्वी तथा त्यागी बन कर वन नहीं निकले थे। उनका ध्येय था--फैले हुए अनाचारों के स्थान में सदाचारों की स्थापना करना। इसीलिए आप देखते हैं कि बानर-राज्य की गद्दी धर्म-प्रिय सुग्रीव और लंका-राज्य की गद्दी धर्म-प्रिय विभीषण ही को सौंपी, अपने लिए कुछ भी नहीं लिया।

---

१९. चाणक्य-नीति ३।१०।
२०. वही २।१४।

जब विभीषण की साधुता राम ने परख ली, तब उन्होंने देश विजय के पूर्व ही सच्चा जन-सेवक समझ कर उसे तिलक लगा दिया और उसे 'लंकेश' की उपाधि से विभूषित कर दिया। यह तिलक राज-तिलक नहीं था—वह था, जन हितैषिता, ईश्वरीय गुण-सम्पन्नता का तिलक, जो धर्म-मूर्ति राम ने स्वयं अपने हाथ से लगाया, जैसा साधुओं आदि की जमात का प्रधान, योग्य शिष्य के मस्तक पर लगा कर उसे सम्मानित करता है। यह भाव तुलसी की निम्न पक्तियों से बहता हुआ दिखाई देता है; राम कहते है—

"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे, धरऊँ देह नहिं आन निहोरे।
सगुन उपासक पर हित न, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥
सुन लंकेस सकल गुन तोरे, ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे।

× × ×

जदपि सखा तन इच्छा नाहीं, मोर दरसु अमोघ जग माहीं।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा, सुमन वृष्टि नभ भई अपारा।"

राज तिलक तो उन्हें लंका-विजय के बाद ही आवश्यक सज-धज के साथ, राज्य-प्रथा के अनुसार चढाया गया। यह लक्षमण, सुग्रीव, अंगद आदि प्रमुख व्यक्तियों के द्वारा लंका ही में जाकर सम्पन्न किया गया।

यदि आपको हमारा बताया हुआ उपर्युक्त भेद न रुचे, तो भी राम द्वारा प्रथम तिलक लगना तथा लंकेश की उपाधि देना, उनका राजनीतिक चातुर्य का ही प्रतीक है, न कि स्वार्थ का। विभीषण साधारण व्यक्ति नही था। वह था एक राजकुल का, राजा का भाई। उसके पहुँचने से राम-सेना के सैनिक उसके प्रति सशंक थे; इसलिए यह आवश्यक था कि उसे सब के सामने राम अपने हाथ से तिलक लगाकर वैसा ही सम्मानित करें, जैसा सुग्रीव था। युद्ध-काल मे राम का वह सुग्रीव के समान ही सलाहकार तथा मित्र बनकर रहे, यह राम के मन मे आने पर उसे भी लंकेश की उपाधि

दी गई, ताकि 'अवधेश' 'कपीश' और 'लंकेश' तीनों एक समान स्तर पर बैठ युद्धादि सम्बन्धी बातचीत करने में भाग ले सकें, और सैनिक गण, विभीषण को भी समादरणीय समझने लगें। राम के युग मे तत्सम्बन्धी क्या राजनीति थी, यह तो कुछ नही कहा जा सकता ; परन्तु यह निश्चय है कि ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की नीति बर्ती जाती थी। आजकल भी यह देखने में आता है, कि कुछ-कुछ भिन्नताएँ लिये हुए विशिष्ट परिस्थितियों के समय, विशेषकर विप्लवों तथा देश-देश के बीच चलते हुए युद्धों के समय, शत्रु-देश के किसी ऐसे महान् व्यक्ति को, जो वहाँ की नीति से असंतुष्ट होकर दूसरे शत्रु देश में आ जाता है, उसके निजी देश का राजा या प्रधान शासक कहकर संबोधित करने लगते हैं ; जैसे—द्वितीय महायुद्धके समय सुभाष बोस, जापान आदि के द्वारा भारतीय प्रतिनिधि की उपाधि से विभूषित किये जाने लगे थे, और उसी दृष्टि से वे लोग भारत के तत्कालीन अनेक संबंधों के विषय मे उनसे सैनिक आदि व्यवहार करते थे।

: ७ :

राम-कथा पर काल्पनिकता का दोषारोपण और उसका निराकरण

राम-कथा पर दो मत—तुलसी के आदर्श थे, सीता और राम। कुछ लोग कहते है कि सीता और राम नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं हुए; इसलिए सारी राम-कथा काल्पनिक होने के कारण निरर्थक और निरुपयोगी है। दूसरे कुछ लोगों का मत है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति थे, इसलिए राम-कथा यत्र-तत्र कुछ अद्भुत बातों मे युक्त होने पर भी जीवनोपयोगी और सार्थक है।

सीता-राम की वास्तविकता पर सन्देह होने के कारण—सीता राम की वास्तविकता पर सन्देह होने के कारणों का विभक्तिकरण निम्न प्रकार से कर लिया जा सकता है—

(१) **कालान्तर**—घटना को घटित हुए बहुत-बहुत काल हो चुका, इसलिए क्रम-बद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों की अनुपलब्धि मे विस्मृतियाँ होना तथा इधर-उधर की गप-शप का जुड़ जाना स्वाभाविक है।

(२) **लेख-वैचित्र्य**—मानस की लेखन-पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से भिन्न है, तथा उसमे हिमकन्या अथवा बन्दर-रीछादि का मनुष्यवत कर्म करना आदि अनेक वर्णनों का भी समावेश है, जिन पर विश्वास नहीं होता।

(३) **वचन-वैचित्र्य**—मानस में वर्णित घटना-चक्र एक लम्बे १४ वर्ष का है। उसका पाठ करने की आदत हमें यह पड़ी है कि पूरी रामायण कम-से-कम समय में पढी जा सके। परिणाम यह होता है कि हम चौपाइयों

की चौपाइयाँ मिनटों मे कह तो डालते है, पर उनकी वास्तविकता जानने के हेतु बुद्धि-बल का प्रयोग नहीं कर पाते।

(४) **चरित्र-वैचित्र्य**—राम और सीता की उत्पत्तियों तथा चरित्रों के विषय में अनेक स्थानों पर इतनी अधिक अद्‌भुतता तथा अस्वाभाविकता प्रदर्शित की गई मिलती है कि अधिकाधिक मनन करने पर भी उनमे सत्यता की प्रतीति नहीं होती।

(५) **राम और सीता की वंशावलियों में कई पीढ़ियों का अन्तर**—इस अंतर के कारण, उनकी समकालीनता सिद्ध होती नहीं दिखाई पड़ती। इस विषय पर मानस-मीमांसा के लेखक महोदय ने एक खासा लम्बा लेख लिखा है, जिस पर हमारा आलोचनात्मक मन्तव्य आपको आगे मिलेगा।

मानस के तीन प्रकार के पाठक—मानस के पाठकों मे आपको तीन प्रकार के मनुष्य मिलेंगे। एक वे, जिनमें धर्म-वृत्ति का प्राधान्य रहता है, जिसके फलस्वरूप वे हर बात को, चाहे उसे वे समझें या न समझें, ईश्वर की अलौकिक महिमा कह कर मान लेने मे कुछ भी संकोच नहीं करते। दूसरे वे, जिनमें लोक-वृत्ति की प्रधानता रहती है, इसलिए वे हर एक बात को, जो उनकी बुद्धि के बाहर की रहती है, असत्य अथवा असम्भव आदि कहकर टाल देते हैं। तीसरे वे हैं, जो प्रयत्नशील होकर शंकास्पद अथवा विवादास्पद बातों का वैज्ञानिक या व्यावहारिक विधि से समाधान ढूँढते हैं। इस तीसरे वर्ग के लोगों की विशेषता होती है—मननशीलता।

मानसान्तर्गत भ्रमोत्पादक कथनों का विभक्तीकरण—मानस के अन्तर्गत अनेक कथन भ्रमोत्पादक मिलते हैं, जिनसे राम-कथा की वास्तविकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। उन सब कथनो का उल्लेख करना तथा उनका समाधान लिखना, किसी एक ग्रन्थकर्ता के लिए सम्भव नहीं, कम-से-कम महाकठिन अवश्य है। तिस पर इस पुस्तक में तो करना असम्भव ही है, अतः हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार नीचे कुछ ऐसे विभाग देते हैं, जिनके अन्तर्गत प्रायः सभी प्रकार के भ्रमोत्पादक कथनों का समावेश

किया जा सकेगा, और तदनुकूल उनसे उत्पन्न भ्रमों का निराकरण करने के सामान्य पथ भी प्रकाश में आ सकेंगे।

(१) **वन्दनात्मक**—मानस की प्रार्थनाओं या वन्दनाओं को पढते समय यह ध्यान रखा जाय कि तुलसी एक प्राकृतिक (naturalist) कवि के नाते मानव-विशेषों को देख, उनके तथा ईश्वरीय निर्गुण एवं सगुण सत्ता के—कभी अलग और कभी साथ ही साथ—गुणगान करने मे प्रवृत्त रहते है। जहाँ जैसा उचित अर्थ जमता हो, वैसा-ही-जमाकर आत्म-सन्तोष तो मिलता ही है, पर साथ-ही-साथ कवि का यथार्थ भाव भी ग्राह्य हो जाता है।

(२) **संक्षिप्तात्मक**—वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा मानस अति सूक्ष्म ग्रन्थ है; इसलिए सूक्ष्मता के कारण कुछ बातें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पातीं, जिससे मन में संदेह उठता है; जैसे राम-जन्म-विषयक हवि के द्वारा पुत्रों का जन्म हो जाना। ऐसे समय पर यथासम्भव वाल्मीकि रामायण से हल ढूँढना चाहिए। उसको ध्यानपूर्वक पढने से ज्ञात होता है कि उक्त हवि एक प्रकार की ऐसी औषधि तैयार की गई थी, जिसके खाने से रानियों मे गर्भाधान की शक्ति उत्पन्न हुई और हवि तैयार करते समय राजा दशरथ की जो विधिपूर्वक गन्ध सुँघाई गई, उससे उनमें पुंसत्व शक्ति की पूर्ति की गई। फिर उचित समय व्यतीत हो जाने पर ही पुत्र उत्पन्न हुए।

(३) **अलंकारात्मक**—अनेक स्थानों पर विशिष्ट भावों का प्रदर्शन रूपक आदि अलंकारों के योग से किया गया है। उदाहरणार्थ—जब राम सीता से विवाह कर घर आते हैं, तब कहा है—'भुवन चारि दस भूधर भारी, सुकृत मेघ बरषहि सुखवारी।' यहाँ 'चौदह भुवनों' का अर्थ ईश्वर की विराट् रचना के विराट् चौदह भुवनों का नहीं माना जा सकता। तब उसे इस प्रकार घटाना होगा। ईश्वरीय रचना की विशिष्टता यह है कि जो गुण उसकी विराट् रचना में विद्यमान रहते हैं, वही लघु पदार्थो मे भी होते हैं। इस दृष्टि से मानव-शरीर के अन्दर भी चौदहों भुवनों के लक्षण रहते हैं;

अत: निकटवर्ती अन्य पंक्तियों के संग में उक्त पंक्ति का यह अर्थ उपयुक्त होगा कि 'अवध राज्य की सारी प्रजा, हर प्रकार से भीतर-बाहर सुकृत थी, जिसके फलस्वरूप अवध सर्व प्रकार से समुद्र जैसा परिपूर्ण हो रहा था।'

अथवा यह घटाना होगा कि भौतिक शरीरधारी राम-सीता के विवाह-परिणामों के बहाने कवि ने, अपनी लेखन-पद्धति के अनुसार, व्यापक सगुण राम और सीतारूप प्रकृति की कृतशील संगति के परिणामों के क्षेत्र में उड़ान भरकर, सृष्टि के चौदहों भुवनों मे व्याप्त आनन्द-मगल का वर्णन करते हुए, उस प्रसंग को 'जनु एतनिअ बिरंचि करतूती' कहकर समाप्त कर दिया है, और फिर भौतिकी राम-सीता-विषयक कथा के सूत्र को पकड़कर उसे आगे बढाया है। इस प्रकार घटित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि उस प्रसंग में 'अवध' शब्द का प्रयोग उसके मूल भावार्थ में किया गया है। अबध (अ+बध) का मूलार्थ है, वह वस्तु जिसका 'बध' न होता हो, अथवा वह स्थिति या कृति, जिसका 'अन्त' न हो। इस दृष्टि से 'अवध' सृष्टि का द्योतक होता है।

एक मात्र 'सत्कर्म' की कसौटी को मान्यता देनेवाले हमारे कवि तुलसी ने, मानवों को उस दृष्टि से, इस रूपक में तीन कोटियों मे विभक्त किया है—विजय, जय और विप्र। 'विजय' उस संघर्षमय प्राथमिक स्थिति का प्रतीक है, जब हरि-पद प्राप्त करने का इच्छुक मानव असत्कर्मों पर विजय प्राप्त करने में रत रहता है। उपरोक्त प्रकार से विजय प्राप्त मनुष्य जब अनेक बार विजयी होता हुआ सत्कर्म करता जाता है, तब उसकी सर्वत्र जय-जयकार होने लगती है, अत: इस द्वितीय कोटि में पहुँच जाने वाले व्यक्ति को कवि ने 'जय' संज्ञा दी है। इन दोनों कोटियों में रहनेवाले व्यक्तियों के विषय में यह भय रहता है कि वे कहीं पुन: सत्कर्म-मार्ग से च्युत न हो जायें। यदि यह हुआ, तो वे अपने-अपने ढंग से अधिकाधिक पतित होते जाते हैं। सत्कर्म-मार्ग से च्युत होना ही जगतीतल पर सत्कर्म के प्रतीक 'विप्र' का वह श्राप है, जिसके विषय में कवि ने उक्त रूपक में अभिव्यक्त किया है। इस कथित 'विप्र' की वह

तीसरी कोटि है, जो हरि-निवासवाली सर्वोच्च चतुर्थ कोटि के समीप अथवा सन्निधि में रहती है, जिसके फलस्वरूप वह सत्कर्म-मार्ग से कभी विचलित नहीं होता। किन्तु 'जय' और 'विजय' के विषय मे, जो हरि-सान्निध्य में नहीं आ पाये है, यह निश्चित नहीं रहता। कभी भी वे प्राकृतिक विकारों के शिकार हो सकते हैं। ये विचार दोनों को विभिन्न प्रकारों से प्रभावित करने में समर्थ होते है। एक ओर 'विजय' है, जो अहंकार, लोकैषणा आदि से विकृत हो, तृष्णा-वश लौकिक वैभवों के हेतु असत्कर्मो की ओर झुकने लगता है, और क्रमशः अधिकाधिक तामसी एवं आसुरी वृत्ति का होता हुआ घोर अत्याचारी बन बैठता है। इसीलिए कवि ने उसी प्रसंग में यह कहा है कि 'विप्र द्वारा श्रापित 'विजय' पहले जन्म मे तो 'हाटकलोचन' (हिरण्याक्ष) नाम से कहा गया, और फिर वही दूसरे जन्म में घोरतम अत्याचारी 'रावण' कहलाया। इसके विपरीत 'जय' आलस्य प्रमाद आदि विकारों का शिकार बन पहले तो 'कनककसिपु' (हिरण्यकश्यप) नाम से जाना गया, और फिर वही इतना आलसी तथा प्रमादी हुआ कि दूसरे जन्म में 'कुभकरण' कहलाया।[1] (अ)

(४) **भाव-निरूपात्मक**—मानव-जगत् मे दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार के अन्तर्स्थित सर्व-व्याप्त भावों का वास रहता है। उनमें से कई एक का प्रदर्शन मानस में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के द्वारा किया गया है; जैसे—जय और विजय को ईश्वर के द्वारपाल कहा है तथा उन्हें विप्र द्वारा श्राप भी देना बताया है। यथार्थ में जय आलस आदि और विजय अहंकार आदि वश कर्म-च्युत (सद्कर्म ही विप्र का द्योतक है, जैसा हम पूर्व मे कह आये है) हो जाते है। परिणाम यह होता है कि वे पतित होकर कुंभकरणी और रावणी वृत्ति के बन जाते है।

(५) **सिद्धात्मक**—सिद्ध दो प्रकार के होते है—एक आसुरी-सिद्ध;

---

१ (अ) ध्यान रखिए, ये सब नाम कृत्यों के प्रतीक भावार्थी हैं। (हाटक=हिरण्य=स्वर्ण अर्थात् द्रव्य तथा (कसिपु)=कश्यप=(सेज)।

जैसे—रावण, मेघनाद आदि। दूसरे दैवी-सिद्ध; जैसे—हनुमान सीता आदि। परन्तु धर्म-विज्ञ आसुरी सिद्धों को, मानवता का घातक होने के कारण सिद्धों मे गणना नहीं करते। दैवी सिद्धों की अलौकिक बातों को देख, उनके विशिष्ट आचारों की सत्यता के विषय में सन्देह उठता है; जैसे—हनुमान का आकाश-मार्ग से उड़ना तथा शरीर को छोटा-बड़ा अथवा हलका-भारी कर लेना। मानस से ज्ञात होता है कि राम-युग मे विमान द्वारा तथा आत्माभ्यास द्वारा, दोनों विधियो से आकाश-गमन की विद्या का प्रचार था। विमानों द्वारा उड़ने की बात तो अब आँखों देखी होने के कारण विश्वसनीय हो गई, किन्तु स्वयं उड़ने की बात पर अभी विश्वास नही होता। परन्तु, मुझे स्वयं उसमे विश्वास है, और वह विश्वास है वैज्ञानिक तर्क के आधार पर। मनुष्य की आकृति पक्षी के समान होती है। यह समानता आपको उस समय झलक उठती है, जब आप समभूमि पर मुख नीचे की ओर कर लेट जायें, और दोनों पैरों को मिले हुए तानकर रखे तथा दोनों हाथों को दोनों ओर प्रायः एक सीध मे तानकर रख लें। यह आकृति उड़ते हुए पक्षी की आकृति से मिलती है, और प्रायः ऐसी ही आकृति हम आजकल विमानों की भी देखते है। इसी तरह तैरती हुई मछली की आकृति भी होती है। हम पानी मे तैर सकते हैं; क्यों कि हम अपने शरीर को पानी से हलका बना लेना जानते हैं। यदि हम अपने शरोर को आकाश-स्थिति वायु से हलका बनाने की क्षमता प्राप्त कर लें, तो पक्षियो के समान कभी हाथ हिलाकर और कभी उन्हे स्थिर कर उड़ सकते हैं, इसमे सन्देह नहीं। शरीर को वायु से हलका बनाना, प्राणवायु की समुचित साधनाओ से योगी प्राप्त कर लेते है। हनुमान उसमें सिद्धहस्त थे। इसीलिए वे, हमारी समझ मे, पवन-सुत, अजनि-पुत्र, मारुति आदि नाम से विख्यात् हुए। वायु-विद्या में सिद्ध-हस्त होनेवाला व्यक्ति लघुकाय या दीर्घकाय बन सकता है, जैसे हनुमान बन जाते थे। वह हलका या भारी भी बन सकता है, अथवा शरीर के किसी अंग को हलका या भारो बना सकता है, जैसे—अगद ने रावण के दरबार में अपने पैर को भारी बना लिया था। इस प्रकार की सिद्धियों

के रूप अंशत: आज भी हमें विविध रूपो में देखने मिलते है, जिनका उल्लेख यहाँ विस्तार भय से नहीं किया जा सकता।

जिस तरह वायु में सिद्ध-हस्त योगी अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते है, उसी तरह अन्य शेष चार तत्त्वों मे सिद्ध-हस्त योगी तद् तद् क्षेत्रीय सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते है। उदाहरण-स्वरूप हम सीताजी का वह दृश्य देखते है, जब उन्होने लका-विजय के पश्चात् अग्नि-परीक्षा दी थी। मानस में दो प्रसंग है, जहाँ सीताजी के अग्नि-प्रवेश का उल्लेख हुआ है। प्रथम बार खर-दूषण-वध के पश्चात् अरण्यकांड मे केवल राम के सामने, और दूसरी बार लंका-विजय के बाद सब के सामने। प्रथम बार जिस अग्नि की बात आई है, वह हमारी सम्मति मे ईश्वरवाची भाव का द्योतक है, जैसा निम्न मंत्र मे प्रयोग किया है—

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।'[1]
अर्थात्—हे अग्ने ! हमे उत्तम फल प्राप्ति के लिए सन्मार्ग से ले चल। हे देव ! तू समस्त ज्ञान का ज्ञाता है।

दूसरी बार जिस अग्नि की चर्चा की गई है, वह पदार्थवाची ही रही होगी, क्यों कि भारत में अति प्राचीनकाल से उसी का प्रयोग सत्य की साक्षी के रूप मे अभी तक देखा जाता है। पदार्थवाची अग्नि मे प्रवेश करनेवाला केवल तीन प्रकार से बच सकता है। एक तो अकस्मात् (mere accident) से, जिसे ईश्वरवादी 'होनहार' अथवा 'ईश्वर-कृपा' कहते हैं। दूसरे जल-योग में सिद्ध-हस्त होने से, अर्थात् शरीर मे शीतकारी जल-योग की प्रचुरता कर लेने से। और तीसरे आत्म-शुद्धता की पराकाष्ठा से। सीताजी का बच जाना, हमारी समझ में तीसरे कारण से हुआ होगा। चूँकि वे स्वयं अपनी शुद्धता का परिचय अग्नि में प्रवेश कर अपने स्वामी को देना चाहती थीं, इसलिए यदि वे अकस्मात् बच जातीं, तो पुनः प्रवेश करती। इसी तरह जल-योग के द्वारा अपने शरीर को बचाने की चेष्टा करना ऐसा होता,

---

१. ईशोपनिषद्, मं० १९ का पूर्वार्द्ध।

मानो वे राम को अपने फरेब से धोखा देना चाहती है। आप कहेंगे—ये कुछ अजीब-सी अविश्वसनीय बाते है। अविश्वसनीय होनी ही चाहिए, क्योंकि हमने योग-बल का अ-आ इ-ई भी तो नहीं सीखा। स्मरण कीजिए कि आज भी ऐसे आत्म-योगी हैं, जिनके सम्मुख आते ही क्रोध से भरे हिंस्र पशु, कुत्ता जैसे डोलने लगते है तथा हिंस्र मनुष्य स्तब्ध या अवाक् होकर चुप हो जाते है। तब फिर सीता-जैसी तपस्विनी शान्ति-मूर्ति के सम्पर्क से धधकती आग भी शीतल हो गई हो, तो आश्चर्य नहीं।[२] इस प्रसंग के समय तुलसीदासजी ने जो 'श्रीखंड' शब्द कहा है, वह उपरोक्त भाव का ही समर्थन करता है।

(६) **विकासात्मक**—मानस मे दीर्घकाय तथा वानर-ऋक्ष-गृद्ध के रूपों वाले व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। हमे उनके विषय मे भ्रम होता है, क्यों कि हम मानवीय विकास की गति की ओर ध्यान नही देते। आर्य मध्यएशिया से अथवा कही से आये,[३] पर यह निश्चय है कि उन्होंने भारत के तत्कालीन वासियों को अनार्य, दस्यु, राक्षस, म्लेच्छ आदि नाम दिये। क्यों? केवल इसलिए नहीं कि वे उनसे घृणा करते थे, किन्तु वे उनके समान बौद्धिक एवं आत्म-क्षेत्र में सांस्कृत्य नही हो पाये थे। जिस तरह बौद्धिक और आत्म-विकास की गति चलती है, उसी तरह शरीर-विकास भी होता रहा है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो आर्यो तथा अन्य लोगों की आकृति, रूप-रंग, डील-डौल तथा खान-पान सम्बन्धी असमानताओं को देख, मानस के वर्णित चरित्रों पर अविश्वास न होगा। आज भी हमको किसी-किसी की मुखाकृति बानर-जैसी, नाक तोते या गृद्ध-जैसी, रग कोयले-जैसा, रूप भयंकर राक्षस-जैसा देखने में आ जाता है।

---

२. सीताजी कितनी पति-भक्ता और शान्त-चित्ता थीं, इसे जानने के लिए उक्त घटना का विवरण वाल्मीकि रामायण में पढ़िए।

३. अन्वेषकों में इस सम्बन्ध में मतभेद है।

(७) **विचित्रात्मक**—कुछ चरित्र मानस मे ऐसे भी आये है जिनके विषय में जो भ्रम उठते है, उनका समाधान व्यावहारिक दृष्टि से करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। उदाहरण-स्वरूप कागभुशुंड का बालक राम के मुख में प्रवेश करना और सब ब्रह्माडों के दर्शन करके मुख से पुनः बाहर निकल आना, अथवा कल्पान्त तक सुमेरु-शिखर पर वास करना एवं गरुड़ादि पक्षियो को मनुष्यवत् राम-कथा सुनाना और उनके द्वारा सुनना, शिव का सदा कैलास पर रहना, हिमालय के पार्वती पुत्री का होना, इत्यादि। ऐसे प्रसंग आने पर यदि कोई व्यावहारिक निर्णय न हो सके, तो यह समझकर भ्रम-निवारण करना चाहिए कि कुछ ऐसे भाव है, जिनका प्रत्यक्षीकरण विशिष्ट आलंकारिक भाषा मे परम्परा से चला आ रहा है और उन्हीं अलंकारो को कवि ने अपनाया है।

राम और सीता की समकालीनता पर सन्देह और उसका निराकरण—

अभी तक हमने जो कुछ भ्रम-निराकरण के बारे में व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे कहा, वह सब निरर्थक ही माना जायगा, यदि हम इस भ्रम को न निकाल सकें कि राम और सीता समकालीन नही थे, जैसा कि मानस-मीमांसा के लेखक महोदय ने बड़ी दृढता के साथ कहा है। अपनी इस सम्मति के हेतु उन्होंने अवध और मिथिलापुरी (जनकपुरी) के राजों की वंशावलियाँ दी है। उन्होने कहा है कि "सीता-राम की समकालीनता की...जाँच के लिए हमें पुराण-वर्णित सूर्यवंशीय नरपतियों की वंशावली की शरण लेनी पड़ेगी..... ..सूर्यवंशीय राज-घरानो का वर्णन विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवत आदि महापुराणो तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों मे है। ....यहाँ यह जान लेना चाहिए कि उक्त दोनो व्यक्ति एक ही (सूर्य) वंश की दो भिन्न-भिन्न शाखाओ के आभूषण माने गये है। ....इन दोनो शाखा-राजवंशों के समान मूल-पुरुष (Common progenitor) इक्ष्वाकु मनु थे। इक्ष्वाकु के पुत्र थे—विकुक्षि और निमि। विकुक्षि की शाखा अयोध्या में तथा निमि की जनकपुर (मिथिला) मे राज करती थी। मैंने सूर्य-

वंशीय राजाओं की वंशावली को पूर्वोक्त विविध ग्रन्थों से मिलाकर जो इसका रूप ढूँढ निकाला है... (वह) निम्न लिखित है :—

विकुक्षि-शाखा—(१) इक्ष्वाकु—विकुक्षि (शशाद)—पुरंजय (इन्द्रवाह, कुकुत्स्थ)—अनेना—पृथु—विश्वगन्धि—चन्द्र (आर्द्र)—भुवन्ताश्व (प्रथम)—श्रावस्त—वृहदश्व—कुवलयाश्व—दृढाश्व—हर्यश्व (प्रथम)—निकुम्भ—वर्णाश्व (संहताश्व, बहुलाश्व)—कुशाश्व—सेनजित (प्रसेनजित)—भुवनाश्व (द्वितीय) [illegible]—[illegible]—[illegible]—[illegible]—अनरण्य—पृषदश्व—हर्यश्व (द्वितीय)—अरुण—त्रिबन्धन—सत्यवृत (त्रिशंकु)—हरिश्चन्द्र—रोहित—हरित—चम्प (चञ्चु) सुदेव—विजय—भरुक (रुरुक)—वृक—बाहु—सगर—असमंजस—अंशुमान—दिलीप (प्रथम)—भगीरथ—श्रुत—नाभ—सिन्धुद्वीप—अयुतायु—ऋतुपर्ण—सर्वकाम—सुदास—सौदास—(कल्माषपाद, मित्रंसह)—अश्मक—मूलक (नारी कवच)—दशरथ (प्रथम) ऐडविड् (इल्विल)—विश्वसह—खटवाँग—दिलीप (द्वितीय वा दीर्घबाहु)—रघु—अज—दशरथ (द्वितीय)—राम = ६० पीढ़ियाँ।

निमिशाखा—(२) इक्ष्वाकु—निमि—मिथिल (जनक, विदेह उदसु—नन्दिवर्द्धन— सुकेतु—देवरात—वृहद्रथ—महावीर्य— सुधृति—धृष्टकेतु—हर्यश्व—मरु (मरुत)—प्रतीप (प्रदीपक)—कृतरथ—देवमीढ—विश्रुत (विस्तृत)—महाधृति—कृविरात—महारोमा—स्वर्णरोमा—ह्रस्वरोमा—सीरध्वज—सीता = २४ पीढ़ियाँ। उक्त वशावलियों की पीढी से लेखक का मतलब राज्य काल की अवधि से नहीं है, वरन् जन्म या जीवन काल से है। वे इस तरह की पीढी का औसत काल २५ वर्ष का मानकर सीता का जन्म राम के जन्म से ९०० वर्ष पूर्व का मानते हैं, क्योंकि वे राम से ३६ (६०-२४) पीढ़ियाँ पूर्व उत्पन्न हुई।

यह ठीक है कि अन्वेषकों द्वारा विष्णु-पुराण सब पुराणो से पुराना माना जाता है। राज-वंशावलियों की दृष्टि से श्रीमद्भागवत आदि अन्य पुराण प्रायः उसकी नकल ही हैं। परन्तु विष्णु-पुराण की रचना हुए, अभी

तिलकजी के मतानुसार केवल १७५० वर्ष होते है। उन्होने कहा है कि "पुराण-काल का आरम्भ समय सन् ईस्वी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।"[४] श्री चि० वि० वैद्य का अनुमान लगभग १८०० वर्ष का है। अब देखिए, इस पुराण की रचना राम-काल के कितने बाद हुई होगी।

तिलक ने अन्य पूर्ववर्ती लेखकों के अनुसार विष्णु-पुराण की वशावलियों के आधार मानकर (महाभारत युद्ध का काल ईसा के लगभग १४०० वर्ष पूर्व) कहा है।[५] परन्तु वैद्य ने विष्णु-पुराण मे दी हुई वंशावलियों को अमान्य सिद्ध कर उस युद्ध का काल ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व बताया है।[६] अर्थात्—तिलक के मतानुसार कृष्ण आज से लगभग ३४०० (१४००+१९५८) वर्ष पूर्व और वैद्य के मतानुसार लगभग ५००० (३०००+१९५८) वर्ष पूर्व हुए थे। राम कृष्ण के बहुत पहले हुए थे। उसी विष्णु-पुराण में राम के बाद ३२वीं पीढ़ी में बृहद्बल का नाम आया है; और यह बृहद्बल वह था, जिसे "भारतीय युद्ध में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने मारा था।"[७] यदि इन पीढियों का औसत काल भी २५ वर्ष मान लिया जाय, तो कृष्ण का काल रामके ३२×२५=८०० वर्ष पीछे का होता है। अब यदि विष्णु-पुराण को यह बात भी मान ली जाती है कि राम ने "सिंहासनारूढ़ होकर ग्यारह हजार वर्ष राज्या-शासन किया"[८] तो राम के लगभग बारह हजार वर्ष बाद कृष्णावतार अथवा महाभारत युद्ध हुआ। परन्तु, यह न मानिए, तब भी राम और कृष्ण के बीच का समय ८०० वर्ष उक्त आलोचक ही के गणनानुसार होता है।

---

४. गीता-रहस्य, पृ० ५६५-५६६।

५. वही, पृ० ५४८-५४९।

६. The mahabharat ; A criticism पृ० ७७–७९।

७. विष्णु-पुराण चतुर्थ अंश (गीता प्रेस का नारद-विष्णु पुराण अंक) पृ० ७२३।

८. वही, पृ० ७२२।

सारांश यह है कि यदि महाभारत युद्ध की घटना का न्यूनतम समय ही मान लिया जाय, जैसा कि तिलकजी ने निर्धारित किया है, तब भी विष्णु-पुराण का निर्माण-काल राम-काल के १४००+२००+८००=२४०० वर्ष के बाद ठहरा। इतने वर्ष के बाद लिखे जाने वाले ग्रन्थ मे दी हुई वशावलियाँ कहाँ तक ठीक मानी जा सकती है, पाठक स्वयं विचारें। तभी तो वैद्यजी ने कहा है कि "हमारी सम्मति मे विष्णु-पुराण के कथनों का कुछ अधिक मूल्य नहीं है. . . .और हम नही समझते कि इसमे अधिक पौराणिक काल-क्रमेण पुरावृत्त-विवरण (chronology) का मूल्य किया जा सके।"[१] पुराण की रचना हमारी समझ में किसी एक व्यक्ति द्वारा नही हुई। वह अनेक लेखकों की सामूहिक सामग्री को प्रस्तुत करता है। तभी तो उसमे कुछ अजीब-अजीब बातों का उल्लख मिलता है। उदाहरणार्थ इन्ही वशावलियो की बात लीजिए। हर वंश की उत्त्पत्ति ब्रह्मादि देव से होना, राम का ग्यारह हजार वर्ष राज करना, इक्ष्वाकु के सौ पुत्र होना, राजा सगर के सुमति से साठ हजार पुत्रों का होना, तथा निमि का एक हजार वर्ष मे समाप्त होने वाले यज्ञ का करना, इत्यादि। इसी तरह राम के नौ पीढियों पहले आने वाले अवध नरेश मूलक (नारी कवच) की रक्षा परशुराम के आक्रमण से नारियों ने घेर कर की थी, तथा ३८ पीढियों पहले के राजा अनरण्य को रावण ने मारा था, यह उसी विष्णु-पुराण का कथन है। ये रावण और परशुराम क्या वे ही थे, जिनसे राम की मुठभेड़ हुई थी? क्या इतनी अधिक पीढियों के बाद राम के जीवन-काल तक उनका जीवन सम्भव माना जा सकता है? फिर आलोचक महोदय को इतने जोड़-तोड़, गुणा-भाग की आवश्यकता ही क्या थी, जब कि उसी विष्णु-पुराण में यह स्पष्ट लिखा है कि राम ने "महादेवजी का धनुष तोड़ा और. . . .जनक राज नन्दिनी श्री सीताजी को पत्नी रूप से प्राप्त किया। (तथा) दुष्ट-दलन भगवान् राम के कुश

---

१. चि० वि० वैद्य कृत The Mahabharat ; A criticism, पृ० ७७-७९।

और लव नामक दो पुत्र हुए।"[10] इन बातों को देखते हुए या तो यही कहना पड़ता था कि विष्णु-पुराण की वंशावलियाँ तथा कथन विश्वसनीय नहीं है; या राम और सीता का विवाह हुआ, इस स्पष्ट कथन ही को स्वीकार करना था। फिर, एक तमाशा यह भी तो देखिए। उक्त लेखक कभी तो वाल्मीकि की साक्ष्य देने लगते है और कभी उन्हीं को धोखेबाज कहने लगते है। यह देखिए, वे कहते है कि "महर्षि वाल्मीकि, जो रामायण के रचयिता है, राजा दशरथ के परम मित्र थे। वे अवश्य दशरथ की वंशावलि भली भाँति जानते थे, अतः वे कभी भी (इधर राम सीता के विवाह के समय) उनकी एक अशुद्ध वंशावली वशिष्ठ के मुँह से कहलवा सकते थे।[11] वाल्मीकि दशरथ के मित्र थे, इसलिए वे समकालीन भी थे। वे समकालीन थे और उन्होंने रामायण भी रची। रामायण मे उन्होंने स्पष्ट सीता और राम का विवाह होना बताया और सारी राम-कथा लिखी, फिर यह कैसा तर्क कि उनका विवाह नहीं हुआ, वे समकालीन नही थे। जब वशिष्ठ से वंशावली पढवाई गई, भले ही वह राजा जनक को धोखे मे डालने के लिए झूठी ही रही हो, पर उससे राम-सीता की समकालीनता और विवाह की असत्यता कहाँ से प्रकट की जाती है!

फिर, आपने किसी आधार पर उपरोक्त वंशावलियों से यह अर्थ निकाल लिया कि वे राज्य-उत्तराधिकारियों के जीवन-काल की द्योतक है, न कि राज्यकाल की, जब कि विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के आरम्भ में ही मैत्रेयजी पराशरजी से कहते है कि "मुझे राज-वंशों का विवरण सुनने की इच्छा है, अतः उनका वर्णन कीजिए।" यदि उनके और पराशरजी के वार्तालाप का अभिप्राय राजघरानों के जीवन-काल से होता, तो समस्त पुत्र पौत्र-प्रपौत्र तथा उनकी सन्ततियों का विवरण आया होता, अर्थात् मूल शाखाओं और प्रशाखाओं (collaterals) का उल्लेख मिलता। वहाँ तो एक के

---

१०. नारद-विष्णु-पुराण अंक (गीताप्रेस) पृ० ७२२।

११. मानस-मीमांसा, पृ० १०३।

बाद एक केवल राज्य-उत्तराधिकारी का नाम आया है, जिससे स्पष्ट है कि वे वंशावलियाँ राज्य-काल की द्योतक हैं। फिर राज्य का उत्तराधिकारी हर समय ज्येष्ठ पुत्र ही हुआ हो, सो निश्चय नहीं। ज्येष्ठ पुत्र मर गया हो, नालायकी आदि के कारण राजगद्दी न पा सका हो, इत्यादि ऐसी कितनी बातें विचारणीय हैं। विष्णु-पुराण मे केवल इतना ही लिखा है कि अमुक का पुत्र अमुक हुआ। पुत्र वृद्धावस्था के समय गोद लिया हो सकता था; नियोग-प्रथा से उत्पन्न हो सकता था, पुत्रेष्टियज्ञ की हवि आदि के द्वारा भी पैदा हो सकता था। फिर पत्नी के गर्भ मे उत्पन्न पुत्र पिता की किस अवस्था में हुआ, लम्बे काल तक राज किया या केवल चार-छै मास के राज-काल के बाद मर गया, या पदच्युत कर दिया। किसी वंश में स्वाभाविकत: दीर्घायु किसी मे अल्पायु का होना, किसी समय या देश मे शान्ति की प्रचुरता के कारण लम्बा राज-काल किसी में अशान्ति अथवा जल-वायु आदि के कारण अल्प राज-काल का होना, ऐसी सैकड़ों वास्तविकताएँ होती है, जिन पर विचार करने के बाद औसत काल निकाला जा सकता है। श्री रजनी-कान्तजी ने औसत-काल निकालने का एक यह दृष्टान्त देकर बताया है कि इंग्लैंड के बादशाह विजयी विलियम और सम्राट् पंचम जार्ज की जन्मतिथियों के वर्षात्मक अन्तर मे व्यतीत पीढी-सख्या का भाग देने से प्रत्येक पीढी की औसत आयु निकल आएगी; परन्तु इधर न तो जन्म-तिथियाँ ही मालूम और न राज-कालीन तिथियाँ। तब फिर औसत कैसे निकले?

और भी देखिए, आपने कहीं-कहीं एक नाम के दो नाम कर दिये है; जैसे—चान्द्रयुवनाश्व को चन्द्र और युवनाश्व दो भिन्न व्यक्ति लिखे हैं। इसी तरह चम्प (चञ्चु) के बाद सुदेव का नाम ठूँस दिया है। सुदेव (वसुदेव) चञ्चु का दूसरा पुत्र था, जो राजा नहीं हुआ।[१२] इससे अवध-वंशावली की

---

१२. यह हम विष्णु-पुराण में दी हुई वंशावली के आधार पर ही कह रहे हैं।

पीढियाँ बढ जाती हैं। गरज यह है कि जब विष्णु-पुराण तथा वाल्मीकि रामायण स्वयं राम और सीता की समकालीनता, उनका विवाह और सन्तान होना खुले शब्दो में कह रहे है, तब यह पीढी की बात निकाल कर व्यर्थ पन्ने रँगे गये। राम की ६० वीं पीढी और सीता की २४ वी पीढी का यदि मेल और बैठालना ही है, तो आइए हम बताएँ।

यदि विष्णु-पुराण मे कथित घटनाएँ सत्य है और यदि परशुराम और रावण नाम के दो-दो व्यक्ति नहीं हुए, तो यह निश्चय है कि अवध का राज्य बहुत दिनों से अशक्त हो रहा था। तभी तो परशुराम और रावण ने राम के बहुत पहले से उस पर आक्रमण कर दिये थे। बीच-बीच में किसी राजा ने स्थिति सुधारने का अवश्य प्रयत्न किया, परन्तु फिर भी राज्य-शैथिल्य नही मिटा। इसलिए, राजा दशरथ, जिन्हें स्वयं लड़ाई मे कैकेयी की सहायता लेनी पड़ी थी, निर्बलता के कारण रावण या राक्षमों का नाम सुनकर विश्वामित्र के सामने उस समय अतिशय घबड़ा रहे थे, जब उन्होने राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले जाना चाहा था। परशुराम से तो राम द्वारा धनुष-भंग किये जाने के बाद विश्वामित्रजी ने संधि करा दी थी। पर रावण का रिपुपन नहीं मिटा था। इसीलिए सम्भव है, लक्षमण ने अरण्य मे सूर्पणखा को देख 'रिपु-वहिनी' कहा हो। राजा अनरण्य इक्ष्वाकु के बाद २२ वीं पीढी मे आता है। वह रावण से मारा जाता है। उसके बाद की ३८ पीढियों के काल में राज्य-व्यवस्था इतनी शोचनीय रही होगी कि वह शीघ्र ही समाप्त होती गई होगी। विकुक्षि-शाखा और निमि-शाखा की प्रथम २२ पीढियाँ, सम्भव है, प्राय: समान काल तक अ.सनारूढ रही हों, और उसके बाद की ३८ पीढियाँ, सम्भव है, निमि-शाखा की अन्तिम दो पीढियो के काल में ही समाप्त हो गई हों। यह बात यदि सच मान ली जाय, तो अवश्य राज्य की ६० (२२ + ३८) पीढियाँ मिथिला-राज्य की २४ पीढ़ियों के बराबर हो जाती है; परन्तु इस तर्क में हमें स्वयं अत्या-तिशयोक्ति प्रतीत होती है। सच बात यह है कि तत्कालीन वंशावलियों को जानने के लिए न तो मानस-मीमांसा के विद्वान् लेखक के पास, और न

हमारे पास कोई स्वतंत्र प्रामाणिक साधन है। और न मिलना ही सम्भव है। हमें केवल उक्त महोदय के उन्हीं तर्कों को निराधार बताने की आवश्यकता थी, जिनका आश्रय लेकर उन्होंने राम-कथा को काल्पनिक सिद्ध करना चाहा है। राम-सीता की वास्तविकता तथा समकालीनता के विषय में उन्हीं ग्रन्थों के स्पष्ट वचनों के आधार पर कोई सन्देह रह ही नहीं सकता, जिनके आधार को लेकर उक्त महोदय चल पड़े।

काल्पनिक आदर्श का महत्त्व—परन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि राम और सीता काल्पनिक है, तब भी वाल्मीकि रामायण का और मानस का, लोकहितैषिता की दृष्टि से किसी भी प्रकार न्यून महत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके जीवन-चरित्र में मानवता की वह जीती-जागती तसवीर उतारी गई है कि कोई भी विचारवान पाठक उन पर काल्पनिकता का दोष लगाने में हिचकेगा। मानव-मात्र उनके आदर्श-चिह्नों पर चलकर, लोक और परलोक दोनों को एक साथ साध सकता है।

: ८ :

तुलसी की पूर्ववर्ती और समसामयिक परिस्थितियाँ

ऐतिहासिक घटनाओं का विहंगावलोकन——

अभी तक हमने अपना समय तुलसी सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रारम्भिक सिद्धान्तों को समझने मे लगाया, जिनके जाने बिना तुलसी की क्रान्ति का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अव हमें प्रत्यक्ष क्षेत्र मे आकर उनके समय की परिस्थितियों का अवलोकन करना चाहिए, ताकि उनकी क्रान्तिकारी योजना यथाविधि समझ में आ जाये, अतः अब हमें इस अध्याय मे इतिहास के भीतर पहुँचकर संक्षिप्ततः यह देखना होगा कि तुलसी के समय वा उनके पूर्व, देश या समाज की क्या गति-विधि थी, जिससे वे प्रभावित हुए।

तुलसी का जन्म सन् १५३२ में हुआ और रामचरित-मानस की रचना सन् १५७५ (सं० १६३१) मे प्रारम्भ हुई——यह पहले कहा जा चुका है। यह समय था मुगल [illegible]- [illegible] और अकबर का।

(अ) वैदिक काल से मुसलमानी आक्रमण के प्रारम्भ तक——

आधुनिक इतिहासकारों के मतानुसार भारतवर्ष के इतिहास का पता लगभग सातवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के पहले का नहीं चलता, हालाँ कि वे यह भी मानते हैं कि कट्टर हिन्दू (orthodox Hindu) की दृष्टि में वह ईसा के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व से, उस समय से चला आ रहा है, जब कि कौरवों-पांडवों तथा राम-रावण का युद्ध हुआ, जिनका उल्लेख महाभारत और रामायण मे किया गया है।[1] इसका यह अर्थ नहीं कि वे इसके पूर्व के

---

१. Imperial Gazetteer, vol II p. 270-271.

बैदिक कालीन जीवन का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। महाभारत और रामायण के अतिरिक्त पुराण, एक हिन्दू के लिए, प्राचीन भारत के इतिहास के भण्डारों का ही काम करते हैं। तुलसी ने उक्त ग्रन्थों का अध्ययन किया और उसमे लिखित कथावार्त्ताओं पर उनकी श्रद्धा भी थी, इसमें किसी को सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है। परिणाम यह हुआ कि उन्हें न केवल सैकड़ों राजा-महाराजाओं के, बल्कि सैकडों अन्य आदर्श पुरुष-स्त्रियों के दृष्टान्त पढने को मिले। इसलिए, उन्होंने मानव-जीवन का आदर्श उसी प्रकार परमोच्च नीति और धर्ममय बना रखा था, जैसा कि उक्त ग्रन्थों में तथा अन्य (क्वचित् अन्यतोपि) ग्रन्थों में देखने को मिला।

पौराणिक वृत्तान्तों की बात जाने दीजिए और प्राचीन इतिहास-काल पर आ जाइए, तो मालूम होगा कि ईसा के कुछ शताब्दियों पूर्व भारत में अहिंसा के अद्वितीय प्रवर्त्तक पहले जैन और फिर बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई। जब किसी नवीन धर्म-मत का आविर्भाव होता है, तब उसके नाम पर उसके अनुयायियों में पर्याप्त स्फूर्ति दिखाई देती है। इसी तरह भारतीय जीवन पर जैन और बौद्ध-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा, यहाँ तक कि कई राजा-महाराजाओं ने उनके सिद्धान्तों के प्रभाव में आकर अपने-अपने राज्यों का कार्यभार प्रजा-वात्सल्य, सुनीति और धर्म-परायणता से चलाया; उदाहरणार्थ—चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और हर्षवर्धन के नाम उल्लेखनीय है। सन् ३०६ ई० से पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में यूनानी मेगस्थनीज के, सन् ४०६-४११ ई० में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के विषय में चीनी यात्री फाह्यान (Fa-Hien) के, तथा ६४३ ई० में हर्ष के बारे में चीनी यात्री ह्वेनत्साँग (Hiuen Tsiang) के लेखों में तत्कालीन व्यवस्थाओं तथा जनजीवन की स्थितियों पर काफी प्रकाश पड़ता है। फाह्यान लिखते हैं कि उन्हें प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र में तथा उसके निकटवर्त्ती स्थानों में ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वहाँ की जनता में उदारता और सद्गुण बर्तने में पारस्परिक होड़ मची रहती हो, (Vie with one another in the practice of henevobuce

and virtue)....राज्य-व्यवस्था सौम्य और न्यायपरायण (mild and equitable) थी। प्रजा न तो पुलिस के कानून-कायदों से दुखित थी और न प्रत्यक्ष करों से, और न उसे यात्रा-सम्बन्धी स्वातंत्र्य में कोई बाधा थी। अपराध के लिए कठोर दण्ड नहीं रहता था; पर हिंसात्मक उपद्रव या डकैती के लिए दाहिना हाथ काट डाला जाने का दण्ड अवश्य था। मांसादि का खाना तथा मदिरादि मादक पदार्थों का पीना निषिद्ध था, इसलिए मांस-मदिरादि के विक्रेता कहीं नहीं दिखाई देते थे।'[२] ह्वेनत्सांग ने सम्राट् हर्ष के विषय मे यह लिखा है कि वह हर पाँचवें वर्ष कन्नौज, प्रयाग आदि जैसे प्रमुख स्थानों मे 'मोक्ष' नाम का समागम (सभा) किया करता था, जिसमें लाखों आदमी एकत्र होते थे। सन् ६४४ में प्रयाग मे जो समागम हुआ था, उस समय वहाँ पर ह्वेनसांग भी उपस्थित था। समागम के समय वहाँ पर राज्य की ओर से सत्तर दिन तक सभी धर्म के पवित्र लोगों को खुले हाथ दान दिया गया, यहाँ तक कि राजा ने अपने हीरा-जवाहरात आदि सभी मूल्यवान् पदार्थ दे डाले। राज्य-व्यवस्था बनाये रखने के लिए जो घोड़े-हाथी और सैनिक-शस्त्रादि की आवश्यकता रहती है, केवल उन्ही को छोड़कर राजा ने प्रायः उस सारे द्रव्य का वितरण कर दिया, जो गत पाँच वर्षों में एकत्र किया गया था।[३]

परन्तु समय ने पल्टा खाया। सम्राट् हर्ष की सन् ६४६ या ६४७ में मृत्यु हुई।[४] उसकी मृत्यु होने के बाद उसका विस्तृत राज्य कई खंडों में

---

२. Imperial Gazetteer, vol II p. २९२-२९३ में उद्धरित लेख के आधार पर।

३. वही, पृ० २९७ पर उद्धरित लेख के आधार पर।

४. डा० ईश्वरीप्रसाद की History of India (संस्करण सन् १९३९) पृ० १६३ पर हर्ष की मृत्यु होने का समय सन ६४६ या ४७ दिया है; परन्तु डा० राजपति दीक्षित ने अपने ग्रंथ 'तुलसीदास और उनका युग' (संस्करण सं० २००९) के पृष्ठ २४ पर हर्ष की मृत्यु सन् ७०४ में बताई है।

विभक्त हो गया, जिन पर छोटे-छोटे राजा स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगे। वे लोग पारस्परिक ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण आपस मे लड़ने-भिड़ने लगे, जिसमे स्वाभाविकत: प्रजा को भी कष्ट हुए ; परन्तु वह एक ही घर मे उत्पन्न तथा एक ही प्रकार की सस्कृति मे पले-पोसे लोगों की एक प्रकार की आपसी कलह थी ; इसलिए दूषित होते हुए भी वह असह्य नहीं हो पाई थी । पर, आपसी फूट ही जो ठहरी । वह कहाँ तक अहित को रोक सकती थी। इस फूट का लाभ उठाकर अरब की ओर से मुहम्मद के द्वारा चलाये गये नवीन पन्थ 'इसलाम' के अनुयायियों ने भारत पर लगभग सन् ७१२ ई० मे आक्रमण प्रारम्भ कर दिये, यद्यपि उसके पूर्व भी हर्षवर्धन के राज्य-काल के समय मुहम्मद की मृत्यु सन् ६३२ के चार-पाँच वर्ष बाद ही सन् ६३६-३७ मे उन लोगों ने समुद्र के रास्ते से दो छोटे-छोटे असफल आक्रमण कर डाले थे ।

मुसलमानी आक्रमणों के पूर्व भारत की क्या स्थिति थी, इसके दिग्द-दर्शन के हेतु इम्पीरियल गजेटियर (भाग २) के विद्वान् लेखक के निम्न-कथन को पढ लीजिए । उन्होंने कहा है--

"गत अध्यायों के पढने से ज्ञात हुआ होगा कि सातवीं शताब्दी में तथा उसके पूर्व की कई पीढियों तक, भारत की खुली समभूमि और नदियों की घाटियों पर उस जनसमुदाय का अधिकार था, जो वहाँ का स्थिर रूप से वासी हो गया था, जो कृषि तथा अन्य कलाओ (व्यवसाय) में लगा रहता था, जिसका साहित्य भरपूर था, जिसका तात्त्विक ज्ञान परिशुद्ध था और जिसकी धार्मिक धारणाएँ पूर्णरूपेण सम्बन्धित थीं; और समाज-व्यवस्था उसकी अद्वितीय थी, जो उसी भू-भाग पर क्रमशः परिवर्धित होती गई थी । इसमे सन्देह नहीं कि बहुत-से आक्रमणकारी एक के बाद एक-- ग्रीक (यूनानी), पार्थियन, सिथियन और हूण लोग--उत्तर पश्चिमी घाटियों में से होते हुए भारत में घुस आये थे, परन्तु उनमें से सब या तो अपने अपने देशों को लौट गये, या शीघ्रता से वहीं की जनता में घुल-मिल गये और अपनी उपस्थिति के कुछ निर्दिष्ट चिह्न छोड़ गये ।" परन्तु इसके उप-

रांत लेखक महोदय का कथन है कि, "इसलाम का रवैया कुछ और ही था; पश्चिम तरफ से उसका वेग (Pressure) लगातार बढ़ता ही आया और इन आक्रमणकारियों तथा यहाँ के प्राचीन निवासियों के धर्म-मतों में विशिष्ट रूप से भिन्नता होने के कारण अत्यन्त गंभीर तथा चिरस्थायी परिणाम उत्पन्न हुए।.....उनके प्रणेता (मुहम्मद) की मृत्यु के पूर्व से ही इसलाम युद्ध-प्रवृत्त (militant) मत हो गया था; और उसके तात्कालिक (immediate) उत्तराधिकारियों की अधीनता में ही वह राजनैतिक विजय का अधिक नहीं, तो उतना ही भारी साधन बन गया था, जितना कि वह राष्ट्रों का धर्म-परिवर्तन कराने मे सफल हुआ। थोड़े ही वर्षों में सीरिया, इजिप्ट और परशिया (ईरान) को नवराज्याधिपतियों के सम्मुख घुटने टेक देने पड़े और परवश नवधर्म को भी स्वीकार करना पड़ा।"[५]

(ब) मुसलमानी आक्रमण-काल से तुलसी-काल तक—

इस तरह आठवी शताब्दी से लेकर तुलसी के समय तक भारत के इतिहास मे लगभग ९०० वर्ष का एक लम्बा दुष्परिणामी युग चला, जिसकी करुणाजनक और हृदय-विदारक कहानी, तुलसी की कौन कहे, किसी भी सहृदय मनुष्य की आँखों में आँसू लाने के लिए पर्याप्त है। इस काल के तीन विभाग किये जा सकते है—(१) आक्रमणकाल (७१२-१२०६), (२) स्थापित राज्यकाल (१२०६-१५२६), और (३) मुगल-शासन-काल (सन् १५२६ से प्रारंभ)

आक्रमणकाल मे सबसे पहले खलीफा के अधीनस्थ अरबों का हमला सन् ७१२ में हुआ, जिन्होंने सिंध के राजा दाहिर को मार, उसका राज्य छीन लिया और मुलतान तक पहुँच गये। फिर उन तुर्कों के हमले हुए, जिन्होंने अफ़गानिस्तान में अपनी राजधानियाँ बना ली थीं। इनमे से पहले-पहल गजनी के महमूद गजनवी ने सन् १००० और १०२६ के बीच मे हिन्दुस्तान

---

५. Imperial gazetteer, vol II, पृ० ३५०।

पर १७ बार चढाई की। वह सन् १०३० मे मर गया। उसके बाद एक पहाड़ी किला 'गौर' का मुहम्मद गौरी सात बार चढ आया और अन्त को चढ़ाई के समय सन् १२०६ में सिन्ध नदी के तीर पर गक्कार लोगो द्वारा मार डाला गया।

मुहम्मद गौरी की मृत्यु के बाद हिन्दुस्तान मे नियुक्त किये गये, उसके एक गुलाम सरदार ऐबक (Aybak) ने हिन्दुस्तान मे ही राजधानी बनाकर राज करना प्रारम्भ कर दिया। "मुहम्मद गौरी का वाइसराय (viceroy) ऐबक उन चौतीस मुसलमान राजाओ में से सर्वप्रथम है, जिन्होने दिल्ली पर तेरहवी शताब्दी से लेकर सन् १५२६ तक, जबकि बाबर ने आक्रमण किया, राज किया। ये ३४ राजा क्रमानुगत पाँच राजवंशों मे विभक्त होते हैं। पहले है गुलाम राजा, जो गौरी के गुलाम ऐबक या ऐबक के गुलामो के वंशज हैं—ये सब तुर्क थे। इनके पश्चात् खिलजी आये। ये संभवत: आदि में तुर्क थे, पर आचार-विचार मे प्रधानत: अफगानी थे। तीसरा था तुर्क घराने का तुग़लक। परन्तु, तैमूर के सन् १३९८ में हिन्दुस्तान पर चढ आने के कारण तुगलक के राज्य का अंत हो गया। इसके बाद सैयदों (सभ्यों) ने, जो हिन्दुस्तान के ही निवासी थे, परन्तु अपने-आप-को पैगम्बर मुहम्मद के कुटुम्ब के अरबी वंशज कहते थे—राजधानी पर अधिकार कर लिया। पाँचवाँ राजवंश था अफगानी लोदियों का, जिन्होंने राज्य के बचे-खुचे भाग पर उस समय तक राज किया, जब बाबर ने उन्हें पानीपत की लड़ाई में हराकर विजय प्राप्त की।"[६]

सन् १५२६ की पानीपत की लड़ाई में अफगानों को तथा सन् १५२७ की कनवाहा की लड़ाई मे राजपूतों को हराकर बाबर ने मुगल-राज्य स्थापित कर दिया और सन् १५३० में मर गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका लड़का हुमायूँ राजगद्दी पर बैठा, परन्तु हुमायूँ को राज्य चलाने मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आखिर उसे सन् १५४० में राजगद्दी

---

६. Lane poole's Mediaeval India, पृ० ५९-६०।

छोड़कर भाग जाना पड़ा और एक अफ़गानी अफ़सर शेरखाँ (शेरशाह सूर) के हाथ में राज्य की बागडोर आ गई। इस तरह हुमायूँ १५ साल तक हिन्दुस्तान में तथा उसके बाहर इधर-उधर भटकता फिरा और सूर-वंशजों का राज्य रहा। अन्त में अपने जनरल बैरमखाँ की सहायता से उसने फिर सन् १५५५ मे हिन्दुस्तान को अपने हाथ में लेना प्रारंभ कर दिया, परन्तु एक साल बाद सन् १५५६ मे मर गया। अकबर सन् १५४२ में हुमायूँ की इसी भगदड़ के समय उत्पन्न हुआ था। अकबर ने सन् १५५६ से सन् १६०५ तक राज किया। उसने अपनी चाल-ढाल, नीति-चातुर्य से हिन्दू-मुसलमान दोनों को वश मे कर साम्राज्य की स्थापना दक्षिण तक कर दी। उसके पश्चात् उसका लड़का जहाँगीर दिल्ली का सम्राट् हुआ तथा उसने अपनी मृत्यु सन् १६२७ तक राज्य किया। जहाँगीर की मृत्यु के चार वर्ष पहले सन् १६२३ मे तुलसी की मृत्यु हुई। इससे स्पष्ट हुआ कि तुलसी हुमायूँ के काल मे सन् १५३२ में उत्पन्न हुए और जब वह पुनः हिन्दुस्तान में आया, तब तुलसी की अवस्था लगभग २४ वर्ष की थी, अतः यह निश्चय है कि तुलसी ने स्वयं सूर वंशजों, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के राज्य-कालों का अनुभव किया और उनके पूर्व का इतिहास उन्हें सुनने-पढ़ने से मालूम हुआ होगा।

मुसलमान-काल के परिणाम—

पूर्वोक्त मुसलमान आक्रमणकरियों तथा राजवंशों के समय भारत पर जो-जो अपत्तियाँ आईं, उनके विषय में इतिहासज्ञ प्रायः सभी एकमत है। इस संबंध में डॉ० राजपति दोक्षित ने लिखा है कि "मरुस्थलीय अरबों ने अचानक आक्रमण करके सिन्धप्रान्त को जीता। इसके उपरांत कोई ढाई सौ वर्षो तक भारत में मुसलमानों का आक्रमण नहीं हुआ। इस बीच हिन्दू राजाओं की अहमहमिका नहीं घटी। हाँ, हिन्दू संस्कृति, कला और सम्पन्नता का विकास महाराजा यशोवर्मन, वीसलदेव, मुञ्ज, भोज आदि के बड़े-बड़े राज्यों में पर्याप्त हो गया था। कराल-काल की गति बलवान् होती है।

हिन्दू राजाओं के बाहुबल से लालित-पालित जिस संस्कृति, जिस कला, जिस श्री, जिस सम्पन्नता का विकास तब तक हुआ था, उसे भस्म करने के लिए खूँखार और असभ्य अफगानों के आक्रमण की भयावह ज्वाला प्रज्वलित हुई और वह दिन दूनी रात चौगुनी होकर देश की शांति और सम्पन्नता को भस्मीभूत करने लगी। इस ज्वाला की पहली लपट निकालने वाले 'बुत-परस्ती' (मूर्ति-पूजा) का अंत करने की तमन्ना रखने वाले, हिन्दुओं के साथ युद्ध करने को 'जिहाद' समझने वाले महमूद गजनवी के बारह हमले[७] भारत पर हुए और इन में तीन-चार आक्रमणों मे देश का विपुल वैभव लुटेरों के हाथ लगा। साथ ही एक-से-एक बढ़कर भव्य देवालय, विद्यालय, तथा मठ ढहाकर गर्त्त में मिला दिये गये। कितने प्राणी तो तलवार के घाट उतार दिये गये और कितने ही गुलाम बनाकर गज़नी ले जाये गये। महमूद के बाद मुहम्मद गोरी के सात आक्रमणों ने देश की दशा और भी चिन्तनीय कर दी। अंत मे देश अफ़गानो के कुटिल शासन मे ग्रसित हो गया। इन आदिम मुसलमानों के जिन भिन्न-भिन्न सात राजवंशों ने राज किया, वे सभी अपनी पीरशाही हुकूमत से बाज आने वाले न थे। वे इसलाम की कीर्त्ति प्रशस्त रखने के लिए हिन्दुओं को सतत कष्ट देना और मंदिरों को चूर करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इन सब में कुछ तो इतने कट्टर और धर्मान्ध थे कि उन्होंने हिन्दुओ को न तो कोई नया मंदिर बनाने दिया और न किसी जीर्ण-शीर्ण मंदिर की मरम्मत कही करने दी। सिकन्दर लोदी की भाँति कितने ही मूर्ति-पूजा से इतने चिढ़ते थे कि उन्होंने मंदिरो का नाम-निशान तक मिटा देना चाहा।

"इन विविध राजवंशों मे ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता, जो धार्मिक पक्षपात से पूर्णतया रहित रहा हो। विजितों को गुलाम बनाने या उन पर 'जजिया' कर लादने की कट्टरता कई मे थी। जजिया की वसूली

---

७. अन्य इतिहासकारों ने सत्रह हमलों का उल्लेख किया है, जैसे देखो. लेनपोल डॉ० ईश्वरीप्रसाद, इम्पीरियल गज़ेटियर आदि।

मे 'जिम्मों'[८] बेचारों को सहनी पड़ती थी, इसे उनका हृदय ही जानता था। कुछ बादशाहों के शासन-काल तक तो ब्राह्मण लोग इस कर मे मुक्त थे, पर चौदहवे शतक मे फीरोज तुग़लक ने ब्राह्मणो के लाख हाथ जोड़ने पर भी, उन्हें इस कर से वंचित न रहने दिया। अपनी इस्लामी कट्टरता के कारण प्रायः इन सभी मुसलमान बादशाहो ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये और उन्हें शासन-प्रबन्ध मे किसी प्रकार का विशेष अधिकार न दिया। यही नहीं, अनेको ने हिन्दुओं की कुल-कानि भी हठ-

अलाउद्दीन-जैसे नितान्त निरकुश शासक के लिए तो यह कार्य सामान्य ही था, पर अन्यान्य सुल्तानों ने भी इसके कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये। चोदहवे शतक में तुग़लक शाह ने बड़ी निर्दयता के साथ राना मल भट्टि की दुहिता का अपहरण किया था।[९] निरीह मूक पशुओं, विशेषतया गाय की कुर्बानी भी सुल्तानों के दीन की अग थी। गौ को माता कहने वाले

"एक ओर तो मुसलमान बादशाहों की निरकुशता, उनकी स्वेच्छाचारिता और उनकी धर्मान्धता से देश में अशान्त, विपन्न लोगों की आहें निकल रही थी, दूसरी ओर वे बेचारे नाना प्रकार के आन्तरिक विद्रोहों तथा बाहरी आक्रमणों से निरन्तर भयभीत रहते थे। मुसलमानो के शासन-काल मे ही चगेजखाँ के नेतृत्व मे मुगलों के आक्रमण जारी हो गये थे। गुलामवंश वाले तो मुगलों से डरते ही थे, अलाउद्दीन-जैसा भयावह नृशंस शासक भी मुगलों के छः बार के आक्रमण और राजधानी दिल्ली के घिर जाने से त्रस्त हो गया था। आगे चलकर तुगलकवंश के अन्तिम बादशाह मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में तैमूरलग के आक्रमण से दिल्ली नगर लगातार

---

८. "यह उन हिन्दुओं की संज्ञा थी, जो इसलाम-धर्म में आस्था न रखने के दण्डस्वरूप जजिया कर देते थे—हिस्ट्री ऑव मेडीवल इण्डिया, पृ० ५७।

९. "हिस्ट्री ऑव मेडीवियल इण्डिया, पृ० ४६६"

पाँच दिनों तक लूटे जाने के कारण खंडहर हो गया था। लाखों का कत्ल हुआ। खून की नदियाँ बहीं। असंख्य धन लूटा गया और बस्तियाँ उजड़ गईं। ऐसे समय मे सुख और सम्पन्नता टिकती कहाँ ? चारों ओर अराजकता-ही-अराजकता थी। सोलह वर्षों की अराजकता के पीछे किसी प्रकार सैयदों तथा लोदी-वंश वालों ने समय-समय पर शासन अपने निर्बल हाथो में लिया और कुछ समय तक ज्यों-त्यों उसे सम्हाला; पर अन्त मे बाबर के आक्रमण ने उनका भी अन्त कर दिया।"[१०]

इसके बाद दीक्षितजी ने कुछ इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर इतिहासकारों की नाईं तुलनात्मक दृष्टि से अकबर की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "अकबर तितिक्षु था। उसमें पूर्ववर्ती मुसलमानों की कट्टरता न थी। अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए उसने हिन्दुओं को राजभक्त बनाना आवश्यक समझा। उसने राजपूतों से मेल-जोलकर हिन्दुओं से अच्छा बर्ताव किया। गुलामी की प्रथा बंद कर दी, जजिया कर माफ़ कर दिया और प्रजा को धर्म के मामले में पूरी स्वतन्त्रता दे दी। यात्रियों से जो कर लिया जाता था, वह माफ कर दिया। पशुओं का बलिदान बन्द कर दिया। हिन्दुओं को कुछ प्रचलित कुरीतियों; यथा—सती प्रथा, बाल-विवाह बहु-विवाह आदि को रोकने का प्रयत्न किया। हिन्दुओं को शासन-प्रबन्ध मे स्थान दिया। उन्हें उच्च पदों पर भी नियुक्त किया। उसके सेनाध्यक्ष राजा भगवानदास और राजा मानसिंह तथा उसके अर्थ-सचिव टोडरमल को कौन नहीं जानता ?........सामान्य नौकरियों और मुंशीगीरी की जगहों में हिन्दुओं को जो बड़ा प्रोत्साहन मिला, वह तो था ही, साथ ही उक्त विविध परिवर्तनों का प्रभाव देश की शान्ति-स्थापना में बहुत कुछ सहायक हुआ। मुगलों के पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की कठोरता के कारण जो अशान्ति फैली थी, वह बहुत अंशों में दूर हुई।

"अकबर की व्यक्तिगत मनोदृष्टि देश में शान्ति-स्थापना के लिए विशेष

---

१०. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० २५-२७।

महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। प्रकृतितः वह सब धर्मों के सिद्धान्तों का जिज्ञासु था। हिन्दू राजाओं की बेटियों से विवाह करने के कारण उसका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर अधिक हो गया था।.. ...फतेहपुर सीकरी के महलों में बादशाह ने इबादतखाना बनवाया, जहाँ भिन्न-भिन्न मतों के आचार्य शास्त्रार्थ करते और अपने-अपने मतों का प्रतिपादन करते थे।

× × ×

"पूर्ववर्ती मुसलमानों-जैसी कूट-नीति के परित्याग से एवं कुशल राज-नीतिज्ञता के अनुरोध से उदार धार्मिक नीति के आचरण के कारण अकबर के शासन-काल में अन्तर्विद्रोह भी शान्त हो गये थे। इतना ही नहीं, उसके समय में बाहरी आक्रमणों की भी इति हो चुकी थी। अतएव, देश में शान्ति और सम्पन्नता छाने लगी थी।"[११]

इस प्रशंसा के पश्चात् दीक्षित जी लिखते है कि "इस चित्र के देखने से गोस्वामीजी द्वारा कथित मुग़ल राजाओं के निरंकुश उत्पातों तथा हिन्दू जनता की दैन्यावस्था के कथन कुछ अतिरंजित समझ पड़ने लगेंगे। गोस्वामीजी परमोच्च-आचरणयुक्त भारी संत और महात्मा थे, जिससे अपने विचारानुसार थोड़ा-सा भी उत्पात उन्हें बहुत अखर जाता होगा। यही कारण उनके अतिरंजन का समझ पड़ता है। विपत्तियाँ थीं तो काफ़ी, किन्तु उनकी मात्रा ऐसी दीर्घकाय न थीं, जैसी उनके कथनों के देखने से लगती हैं।.........कलिधर्म निरूपण मे गोस्वामीजी ने जो कथन किये हैं, वे भी बहुत करके प्रायः सभी समयों के समाज पर घटित हो जाते हैं।"[१२]

एक ओर तो दीक्षितजी तुलसी के कथनों को अतिरंजित कहते हैं, और दूसरी ओर अन्य प्रसंग के समय आप कहते है कि "इस (मुगलों की) शासन-प्रणाली में जकड़े हुए तुलसी के समकालीन समाज के लिए अवनति

---

११. वही, पृ० २८-३०।

१२. वही, पृ० २८-३०।

के गर्त का द्वार उन्मुक्त था।"[१३] और फिर यह भी कहते हैं कि "शासक के व्यक्तिगत चरित्र का प्रभाव भी उस (प्रजा) पर बिना पड़े नहीं रहता। तुलसी के समकालीन समाज के समक्ष जिन सम्राटों का उदाहरण था, वे थे अकबर और जहाँगीर। दोनों ही विलासी थे। अकबर की विलासिता का प्रमाण मीनाबाजार लगवाने से बढ़कर क्या हो सकता है? उसके हरम में पाँच हजार चन्द्रमुखियों का जमघट भी तो था। उसने हिन्दू, फारसी मुग़ल यहाँ तक अरमीनिया जाति की चुनी हुई गजगामनियाँ किसलिए जुटायी थीं।

+ + +

जहाँगीर के हरम मे भी बहुत-सी नग्नियाँ पड़ी थीं। उनकी संख्या तीन सौ तक पहुँच गई थी।....प्रजा उसके भय से काँपती रहती थी; इस घोर विलासी मद्यप को जंगली जानवरों से आदमियों को लड़ाकर उनके टुकड़े-टुकड़े कराना प्रिय था। वह हफ्ते में पाँच दिनों हाथियों का मल्ल-युद्ध कराता। कहा जाता है कि किसी आशंका से उसने अपने एक मंत्री को मरवा डाला; किसी आदमी से एक कब्र टूट गई, उसे कोड़े मार-मार कर उसकी धज्जियाँ उड़ा दी गई। उसकी प्रकृति की इन कठोरताओं ने प्रजा के हृदय में उसके प्रति कोमल भाव न रहने दिया। वह किसी भी धार्मिक विचार-पद्धति से शून्य था।"[१४] इसके साथ ही यह और जोड़ दिया जाय कि उसने नूरजहाँ के साथ किस तरह से विवाह किया, तो उसकी आचरण-हीनता पर्याप्त रूप में प्रकट हो उठेगी। नूरजहाँ का प्रथम नाम था, मेहरुन्निसा। वह बंगाल सूबा के सूबेदार शेर अफगन को विवाही थी। शेर अफगन को एक दूसरे अफसर कुतुबुद्दीन ने टुकड़े-टुकड़े करवा कर मार डाला और उसकी पत्नी मेहरुन्निसा को जहाँगीर के दरबार मे भेज दिया। उसके करीब चार साल बाद, जहाँगीर ने उसके साथ अपनी शादी कर ली।

---

१३. वही, पृष्ठ १२।

१४. वही, पृष्ठ १२, १३, १४।

डा० ईश्वरीप्रसाद कहते हैं कि "यदि सब शहादत (साक्ष्य) की पूरी-पूरी जाँच की जाय, तो इस निष्कर्ष का निकलना अनिवार्य है कि शेर अफगन की मृत्यु विषयक परिस्थितियाँ अत्यन्त सन्देहोत्पादक है और बादशाह को उक्त दोष से विनिर्मुक्त करना बड़ा कठिन है।'[१५]

डा० दीक्षित का उपरोक्त आलोचनात्मक विवरण केवल आक्रमण-कारियों और शासकों की नीति और नृशंसता आदि पर प्रकाश डालता है। मुसलिम सैनिको तथा नव-निवासी मुसलिम जनता की ओर से पूर्व-वासी हिन्दुओं पर धर्म-सम्बन्धी क्या-क्या आपत्तियाँ गुजरीं, इसका कोई आभास उसमें नहीं मिलता, अनुमान चाहे भले ही लगा लिया जाय कि उन्होंने 'पिया-बल' पाकर गजब ढाये होंगे। इन अभय वर-प्राप्त मदोन्मत्त तथा धर्मान्धों ने कितनों की बहू-बेटियों को बिगाड़ कर अपने दीन में मिलाया तथा बलपूर्वक, अथवा लोभ-प्रलोभन देकर या छल-छिद्र से कितनों का धर्म-परिवर्त्तन कराकर मुसलिमजन-संख्या बढ़ाई, यह इतना प्रकट है कि उसके लिए प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं। एक ओर तो मुसलिमों की यह कुनीति थी और दूसरी ओर हिन्दू-समाज की भी जाति-बहिष्कार वाली कुनीति थी——जरा किसी ने किसी का हाथ पकड़ा, या किसी पर किसी का पानी का छींटा पड़ा, तो वह तत्काल जाति-च्युत और विधर्मी बना दिया गया! बस, इस दुतरफा मार के कारण एक ओर तो हिन्दू-समाज की जन-क्षति और दूसरी ओर मुसलिम-समाज की जन-वृद्धि का ताँता चला हुआ था——कितने 'चौधरी' अथवा 'सरकार' आदि 'हक्क' 'खान' या 'मियाँ' बनते जा रहे थे, और कितनी बेचारी 'रामबाइयाँ' आदि 'चाँदबीबियाँ' आदि बनती जा रही थीं, तथा अपनी सन्तानों में जहाँगीरता उत्पन्न करती जा रही थीं।[१६]

---

१५. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of India, पृ० ६४७।

१६. जहाँगीर का प्रथम नाम सलीम था। वह आमेर (जयपुर) के

हिन्दुओ का राज-पाट छीना, धन-दौलत लूटी, धर्म-मत-स्वातंत्र्य गया, रोजगार-धन्धा बरबाद हुआ, मान-मर्यादा मटियामेट हुई—गरज यह कि सब कुछ खोया और हाथ लगी मुसलिम दरबारों एवं उच्छृंखल मुसलिम जनता की नकल। जिनके पास कुछ सम्पत्ति बची, वे मांस-मदिरा, नाच-गान आदि में उड़ाकर विलासी बने, और जिनके पास कुछ नहीं बचा, वे ग़ुलाम बने। कोई भिखारी बना, तो कोई केवल रोटी-भाजी पर किसी का ड्योढीवान; किसी को मुंशीगिरी मिली, तो कोई सेना में भरती होकर कुल्हाड़ी का बेंट जैसा बन अपने भाई-बन्धुओं का ही विनाश कर मुसलिम राज्यों की वृद्धि कराने लगा। साराश यह कि हिन्दू जनता इतनी पतित होती जा रही थी कि उसका कोई ठिकाना नहीं।

पतन भला इससे अधिक और क्या हो सकता है कि माता-पिता अपनी प्यारी सन्तानों तक को बेचने लग गये थे—'बेचत बेटा बेटकी'[१७] यदि कोई भुखमरा इस नीच कर्म को करे, तो क्षम्य हो सकता है; पर उस नीच से तो नीचता भी शर्मा उठती है, जो केवल द्रव्य, पद या सम्मान के हेतु अपनी दीन असहाय पुत्री को किसी परधर्मी के हवाले इसलिए कर दे कि वह उसका उपभोग कर उससे अपनी सन्तान बढाये। ऐसे पाषाण-हृदयी लोभी पिता से तो वह भूखा किसान या ग्वाला लाख दर्जा अच्छा है, जो अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए आँसू बहाती हुई अपनी दीन-अबला गाय की डोर कसाई के हाथ में सम्हालते समय सिसकता हुआ मनमार कर अपने घर लौटता है। स्मरण कीजिए सन् १५६२ का वह दुर्दिन, जब आमेर (वर्तमान जयपुर) के राजा बिहारीमल (भारमल) ने बादशाह अकबर को अपनी असहाय-अबला पुत्री जोधाबाई इसलिए समर्पित कर दी कि वह उसे अपनी पत्नी बनाकर रखे और इस लोलुप-लालची पर अपनी छत्र-छाया का हाथ फेर कर

राजा की पुत्री जोधाबाई वा अकबर से उत्पन्न था। उसने अत्याचारों की दृष्टि से तत्कालीन मुसलमानों को भी मात कर रखा था।

१७. कवितावली, उ० कां० ९६।

उसे नौकरी दे दे तथा उसके पुत्र राजा भगवानदास एवं नाती राजा मानसिंह को मनसबदारी या सूबेदरी आदि मिल जाय। यदि भारतीयों, विशेषकर राजपूतों के क्षत्रित्व-भरे ऊँचे मस्तक पर कलंक का बीजारोपण करने का सबसे अधिक दोषी इतिहास मे कोई है, तो वह है यह कुल-कलंक बिहारीमल और उसके पुत्र-पौत्र, जिन्होंने अकबर के सैनिक होकर राजपूतों का सिर सदैव ऊँचा रखने वाले मेवाड़ (उदयपुर) के राणाओं के विरुद्ध लड़कर अकबर के राज्य की नीव दृढ करने में प्रमुख भाग लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना वह दृष्टान्त प्रस्तुत कर दिया कि दूसरे हिन्दू या हिन्दू राजा भी अकबर या उसके पुत्र जहाँगीर की अपनी कन्याएँ समर्पित करने मे अपना अहोभाग्य मानने लगे। इस अहोभाग्य में से एक तो है बीकानेर-नरेश राय कल्यानमल, जिन्होने लगभग संन् १५६९ में अपने कन्यारत्न का अकबर को दान करके, उसके हरम को बेगमों की संख्या बढाने मे योग दिया। जोधाबाई के समर्पित हो जाने के "पूर्व भी अकबर रुक्मा तथा सलीमा से पाणिग्रहण कर चुका था। ये दोनों भी राजपूत ललनाएँ थीं। अकबर का हरम और भी कितनी हिन्दू नारियों से भरा था।"[१८] अकबर के ही नही, जहाँगीर के हरम में भी राजा उदयसिंह, बीकानेर के (राय कल्यानमल के पुत्र) राजा रामसिह, राजा मानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह, रामचन्द्र, बुन्देला आदि की बेटिया पहुँच गई थीं।"[१९]

जो लोग यह कह कर अकवर को प्रशंसा करते हैं कि वह धर्म के विषय में उदार था, क्योंकि उसने हिन्दू-मतावलम्बियों पर लगे हुए कतिपय करों को बन्द कर दिया था, या कि उसने हिन्दुओं को उच्चपदों पर नियुक्त कर दिया, या कि उसने फतेहपुर सीकरी में सबके एकत्र होने मे लिए 'इबादत-

---

१८. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० २ (लेनपोल कृत मेडीवियल इन्डिया, पृ० २५१ के आधार पर)

१९. वही, पृ० २ (प्रो० बेनीप्रसाद कृत 'हिस्ट्री ऑव् जहाँगीर' पृ० ५३० के आधार पर)

खाना' बना दिया था और सब धर्म के लोगों को अपने-अपने मतों पर शास्त्रार्थ करने का अवकाश रहता था, या कि उसने सन् १५८१ में 'दीन-इलाही' की राज्य-घोषणा कर दी थी, वे हमारी समझ मे, न तो धर्म की यथार्थता को जान पाये और न अकबर को ही समझ पाये। "अकबर का एकमात्र उद्देश्य यह था कि विद्रोही मुसलमानों पर विजय प्राप्त की जाय ओर असन्तुष्ट हिन्दुओं से मेल किया जाय, जिसमे राज्य की नीव दृढ हो, और उसका विस्तार भी बढ़े।"[२०] स्वार्थ और विलास, जो अकबर मे ठसा-ठस भरे थे, उस काम के दो रूप है--जो मनुष्य का सबसे बड़ा बैरी हो कर उसे अधर्मी बनाता है, जिसके विषय मे हम किसी गत अध्याय मे कह आये हैं; इसलिए तुलसी, जैसे सन्त की दृष्टि मे अकबर धर्म-प्रिय नहीं, कुटिल-नीतिज्ञ रहा होगा। उसने अपने मनोरथ की सिद्धि के हेतु ही उस कुटिलता पर धार्मिक उदारता का रंग चढाया था और उसी अभिप्राय से उसने हिन्दुओं की कन्याओं से विवाह किये थे। यदि वह सचमुच ही विवाह-सम्बन्ध बढाकर धर्मबन्धन को तोड़ कर एकमय होने के पक्ष में था, तो उसने भी अपनी पुत्री-बहिन-भतीजियो का विवाह हिन्दुओं के साथ किया होता। अकबर की उन्नत नीति को देखकर जिन लोगो ने यह मान रखा था कि उसने मुसलिम धर्म का त्याग कर दिया, वे भूल में थे। इसलिए ईश्वरी-प्रसाद ने लिखा है कि इस प्रकार की धारणा के लिए कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। वे धर्मशास्त्री तथा उनसे सहमत होनेवाले अन्य बादशाह के उद्देश्य (motive) को नहीं समझे ?"[२१]

परन्तु देखिए ! इसे न भूलिए ! सन्त मानव-मात्र का प्रेमी होता है। उसका प्रेम किसी व्यक्ति, जाति या सम्प्रदाय विशेष से सीमित नहीं रहता। वह चाहता है कि मानवता का सर्वत्र प्रसार हो, और सर्वत्र सुख-साम्राज्य छा जाय, इसलिए आप यह न सोचें कि तुलसी दुखित थे, केवल हिन्दुओं

---

२०. Imperial gazetteer vol. II पृ० ३९८।

२१. History of india, पृ० ६०१।

की दुर्दशा देखकर। उनका हृदय उन पातकी मुसलिमो को देखकर भी रो उठता था, जिनके दुष्कर्मों के कारण हिन्दू पतित हो रहे थे, क्योंकि पातकी और पतित दोनों मिलकर समाज को बनाते है और दोनों क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से समाज-सुख का विच्छेदन करते रहते है। सन्त की दृष्टि मे पातकी ही पतित, तथा पतित ही पातकी रहता है, क्यो कि उसकी सुख-दुख की कसौटी मनुष्य की आध्यात्मिक और मानसिक गतियों पर अवलम्बित रहती है, न कि लौकिक दृश्यों पर। इस दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान दोनों पातकी और पतित थे। समाज को दुखी बनाने का उत्तरदायित्व दोनों पर था। हिन्दू यदि प्रथम से कर्तव्यच्युत न होते अथवा अपना धर्म पालते रहते, तो मुसलमान न तो हिन्दुस्तान का राज्य पा सकते और न हिन्दुओं के अध्यात्म (morale) को गिरा सकते; बल्कि उनके सम्पर्क या संघर्ष से मुसलमान स्वयं अपने बुरे आचरण को सुधार लेते। उनकी यह आचरण-हीनता अथवा आध्यात्मिक और मानसिक ह्रास तुलसी के दु:ख का कारण बन रहा था। जिस प्रकार जिस प्रेम से वे हिन्दुओं के उद्धार के लिए इच्छुक थे। उसी प्रकार उसी प्रेम से वे मुसलमानों के उद्धार के भी इच्छुक थे। चूँकि मनुष्य का बाह्य जीवन उसकी आन्तरिक गतियों का प्रकट स्वरूप होता है, इसलिए मनचली मुसलिम जनता मनचले शिक्षकों तथा शासकों का अनुकरण करने से आन्तरिक अशान्ति के साथ-साथ, लौकिक-बाह्य सुख से वंचित हो रही थी। मुसलिमों की आन्तरिक दूषित मनोवृत्ति का बाह्य प्रस्फुटन का एक प्रकार तो वही था, जिससे हिन्दुओं पर आघात किया गया और किया जाता था; या जिसके विषय मे अभी कुछ पहले कह चुके है। दूसरा प्रकार वह था, जिससे वे स्वयं अपने-आप को आहत करते जाते थे। इस दूसरे प्रकार के तीन रूप विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) **अतिशय मदिरा-पान**—यह सर्व-विदित है कि मदिरा-सेवन वाले नशे में चूर होकर पागल बन अपने तथा दूसरों के प्रति कई घृणित अनर्थ कर बैठते है। इसके अतिरिक्त वे विशेषकर मध्यम और निम्न वर्ग

के लोग आर्थिक दुर्गति के शिकार बन जाते है और अपने आश्रितों को भी दर-दर के भिखारी बना डालते है। मुसलिमों के अनेक घरों में यह दुर्गति डेरा डाले हुए दिखाई देती थी।

(२) नारी-विलास—कामान्धतावश नारी वर्ग के साथ नाच-गान तथा भोग-विलासादि मे अधिक समय और द्रव्य नष्ट किया जाता था, फलतः शारीरिक रोग, व्यभिचार की वृद्धि तथा नर्तकियों एवं वेश्याओं की सख्या बढ़ने से मुसलिम-समाज की स्थिति शोचनीय होती जा रही थी, और उसकी बू हिन्दू-समाज मे फैलती जा रही थी।

(३) कंचन-मोह—सम्पत्ति-लोभ, विशेषकर राजघरानों में इतना अधिक था कि उसके वशीभूत हो, पिता पुत्र का, पुत्र पिता का, ग़ुलाम मालिक का, सरदार-सूबेदार राजा का खुलेआम या षड्यंत्रो के द्वारा परस्पर कत्ल करना-कराना निशि-दिन का काम हो गया था। कौटुम्बिक प्रेम का प्रायः लोप-सा हो गया था। न जाने किस समय कौन लड़का या सरदार, कौन नवाब या सूबेदार बाग़ी हो जाय और खून की नदियाँ बह जावें, यही शंका बनी रहती थी। इस तरह यह मुसलमानी काल मुसलिमों का एक शंका-ग्रस्त, द्रव्य-लोलुप एवं पारस्परिक रक्त-प्रवाहक जीवन का इतिहास है, जो सारे समाज को दूषित कर रहा था।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय, जैसा कि बहुत-से इतिहासकार समझते है कि अकबर की उदार कही जाने वाली धार्मिक नीति की तह में कोई राजनीतिक चाल नहीं थी, तो भी तुलसी की दृष्टि मे वह उपेक्षणीय ही हो सकती थी; क्योंकि सैकड़ों वर्षो की पली-पोसी दूषित पद्धति में उसका व्यक्ति-विशेष के विचाराधीन होने के कारण आ जाना क्षणिक ही था। महापुरुषों का विरोध दूषित पद्धतियों या व्यवस्थाओं से रहता है, और इतिहास से सिद्ध है कि दूषित व्यवस्था-काल के समय कभी-कभी बीच मे कोई एकाध सच्चरित्र मनुष्य भी आ जाता है, जो उसका पूर्णतः अथवा अंशतः विरोध करता हुआ, अपने कर्तव्यों को निबाहता रहता है; परन्तु इतने से ही कहीं पद्धति का दोष मिटता है। वह तो एकाध स्थान

पर थोड़े समय के लिए नाम-मात्र को अवरुद्ध होकर ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। तुलसी का विरोध था, मुसलमानी बहुमुखी दूषित पद्धति से, जो लगभग ९०० वर्षों से चली आ रही थी और जो अकबर के बाद भी कई वर्षों तक कायम रही, यहाँ तक कि औरंगजेब के समय उसने पुनः अत्यन्त भीषण रूप धारण कर लिया। इसी कारण, हमे पूर्वोक्त विवरण में तुलसी के बहुत पहले के इतिहास पर प्रकाश डालना पड़ा तथा इसी कारण रामचरित-मानस के रचना-काल (१५७५-७७) के बाद के कुछ काल के इतिहास पर भी दृष्टि रखनी पड़ी।

पूर्ववर्त्ती और समसामयिक पद्धतियाँ

समाज का कार्य कई क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है, और तद्नुसार तत्-तत् क्षेत्रीय उसकी रूढियाँ या पद्धतियाँ बन जाती है, जो यथार्थतः एक दूसरे से सम्बन्धित रहती है। इन सब का समावेश निम्न विभागों में हो जाता है; यथा—(१) राज्य-पद्धति, (२) आर्थिक-पद्धति, (३) सामाजिक (social) पद्धति, (४) शिक्षा-पद्धति, (५) धार्मिक-पद्धति और (६) साहित्य-पद्धति। यों तो पूर्वोक्त विवरण से इनके विषय में कुछ-न-कुछ अनुमान लगाया जा सकता होगा, पर उतना ही पर्याप्त नहीं है। इसलिए उन पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

(१) राज्य-पद्धति—

निचोड़ रूप से यदि कहा जाय, तो कह सकते हैं कि मुसलिम-शासन मूलतः सैनिक और कट्टर साम्प्रदायिक (इसलामी) था, तथा अराजकता, विषमता एवं अन्याय उसके अंग थे। राजा-प्रजा तथा प्रजा-प्रजा के बीच बड़ी गहरी खाइयाँ थीं। एक ओर बड़े-बड़े मनसबदार,[२२] नवाब, सरदार,

---

२२. मुगल बादशाहत के समय कुछ लोगों को राज्य की ओर से कुछ रकम मिला करती थी, जिसके बदले में, उन्हें उक्त रकम के अनुपात से कुछ निश्चित घोड़े और सैनिक सवार रखने पड़ते थे। युद्ध के समय अथवा अन्य

सूबेदार, जागीरदार आदि भोग-विलास मे मस्त रहते थे, तो दूसरी ओर क्षुधा से पीड़ित लाखो-करोड़ो लोग बिलखते थे। एक ओर मुसलमान प्रजा निर्भय और नृशंस थी, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रजा मुसलिम राजाओ एवं मुसलिम प्रजा से सदैव सशंकित रह जीवन-निर्वाह करती थी। एक ओर स्वेच्छाचारी मुसलमान हिन्दुओ की बहू-बेटियों, बहिन-भानजियों की बेइ-ज्जती करने अथवा उनके दीन-धर्म बिगाड़ने मे निडर रहते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू मुसलमान की स्त्रियों को आँख उठाकर देखने में भयभीत रहते थे। एक ओर मुसलमानो पर कोई धार्मिक कर नहीं लगाया जाता था, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रजा 'जजिया' आदि धार्मिक करों के बोझ से दबी जा रही थी। एक ओर तलवार का बल और राज-सम्मान का प्रलोभन 'बुतपरस्त' या 'क़ाफिर' कहे जानेवाले हिन्दुओं को मुसलमान बनाने मे लगे थे, तो दूसरी ओर हिन्दूजन ग़म खाकर अपने खोये हुए भाई-बहिनों का सदा बहिष्कार कर धर्मध्वजी कहलाने का पाखण्ड कर रहे थे। कहीं देवमूर्ति का भंजन दिखाई देता था, तो कहीं देवालय, मठादि का गिराया जाना तथा उनके स्थानों में मसजिदों का खड़ा किया जाना एवं कुरान की आयतों का पढ़ा जाना नज़र आता था। ऐसा मालूम होता था कि मुसलमानों ने अपनी अनीति को धर्म का चोगा पहनाकर रखा हो, और हिन्दुओं ने अपनी कायरता को सहिष्णुता का। सारांश यह है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार उस समय मुसलिम-जीवन में अधिकतर तथा उसके प्रभाव मे आ जानेवाले कुछ हिन्दू-जीवन में अंशतः असंयम, सम्पत्ति-हरण, विलासिता, मादक पदार्थ-सेवन आदि कुरीतियों तथा अत्याचारों का ही बोलबाला दिखाई दे रहा था। इसी को तो रावण-राज्य अथवा निशाचर या राक्षस-राज्य कहते हैं। इसी का खाका खीचा हुआ हमें मानस

किसी दूसरे समय पर बादशाह के आदेशानुसार उन्हें उक्त घोड़े, मय सैनिक सवारों के राज्य को भेजने पड़ते थे। इस प्रकार से रकम पानेवाले लोगों को मनसबदार कहा जाता था।

में मिलता है। रावण के बहाने उसमें अत्याचारी शासक का लक्षण यह कहकर दर्शाया गया है—

"आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ चरन बिनीता॥"[२३]

"भुजबल बिस्वबस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र।
देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीत बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि॥"[२४]

जब इस तरह की राज्य-व्यवस्था चलती है, तब वहाँ की प्रजा आसुरी अथवा निशाचरी वृत्ति की हो जाती है। उस समय यह होता है—

"बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥"[२५]

जब इस प्रकार का निशाचरी राज्य होता है, तब देश में अधर्म, हिंसा आदि का इतना प्रसार हो जाता है कि उसकी कोई सीमा नहीं रहती, जिसका चित्रण मानस में यों किया है—

देखत भीम रूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि बिधि होई धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाऊँ पुर आगि लगावहिं॥

× × ×

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पाप कवन मिति॥"[२६]

---

२३. मानस, बा० कां० १८१/१३।
२४. वही १८२ (क), (ख)।
२५. वही १८३।१/३।
२६. वही १८२ (ख) ३/६; १८३।

यदि निशाचर कहना किसी को बुरा लगे, तो "कलिमल ग्रसे धर्म सब" और "लोभ ग्रसे शुभ कर्म" इतना ही कहना पर्याप्त होगा।[२७]

यदि और भी अधिक स्पष्ट देखना है, तो इस दोहे को ही पढ लीजिए—

"गोंड़ गँवार नृपाल महिं, यमन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥"[२८]

(२) आर्थिक पद्धति—

जिस देश की राज्य-व्यवस्था कई शताब्दियों से आसुरीवृत्ति पर आधारित रही हो, जसा कि ऊपर बताया गया है, वहाँ की सर्व-साधारण जनता की आर्थिक स्थिति किसी भी प्रकार अच्छी नही हो सकती। न तो अर्थ-उत्पादन ही उचित विधि और मात्रा मे किया जा सकता, और न उसका समुचित संरक्षण और वितरण होता। यही दशा तुलसी-काल मे भारतवर्ष की हो रही थी। यह तो कहा ही जा चुका है कि उस समय भारतीय समाज दो धाराओं मे विभक्त हो गया था—एक धारा थी मुसलमान जाति की, और दूसरी हिन्दूजाति की। इनमे से मुसलमान जाति पर राज्य-कृपा अधिक रहती थी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उसे आर्थिक वृद्धि करने के अधिक साधन मिलते थे। सबसे पहली बात तो यह थी कि हिन्दुओं की भूमियों का नाना विधि से अपहरण कर उन पर मुसलिमों को बसाया गया और उनकी कृषि-भूमि एवं जमींदारियाँ उन्हें बख्सी गईं। जिसने जो भूमियाँ या जागीरें बलपूर्वक प्राप्त कर ली थीं, उन्हें राज्य की ओर से मान्यता दी गई, अर्थात् उनके अधिकार स्वीकार कर लिये गये। इसके साथ-ही-साथ उन्हें राज्य में बड़े-बड़े वेतनों पर या जागीरें देकर सरकारी नौकरियाँ दी गईं। हिन्दू-मुसलिम के जाति-भेद के कारण जो विषमता आर्थिक क्षेत्र में फैली हुई थी उसे जाने दीजिए। अब साधारणतया देखिए, तो समाज में अर्थ

---

२७. मानस उ० कां०, ९७ (क) (ख)
२८. दोहावली, ५५९।

दृष्टि से तीन वर्ग के लोग थे— (१) उच्च, (२) मध्यम और (३) निम्न ।

सम्पत्तिवान् होने के उस समय दो साधन प्रधान थे—एक कृषी और जमींदारी, और दूसरा राज्य के शासकीय विभागों मे नियुक्त होकर वेतन पाना । उच्च श्रेणी में वही लोग थे, जो बड़े-बड़े जमींदार, मनसबदार, सूबेदार आदि थे । ऐसे लोगो की सख्या न्यून थी । दूसरी श्रेणी के लोग वे थे, जो छोटे-छोटे वेतनों पर नौकरी करते थे अथवा अल्परूप में कृषि या व्यवसाय करते थे । इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी के लोग थे—मजदूरी पेशा वाले। समाज का अत्यधिकांश इन्हीं लोगों का था । प्रथम श्रेणी और इस श्रेणी के बीच में आर्थिक विषमता की एक बड़ी गहरी खाई थी. यहाँ तक कि गरीब माता-पिता अपने बच्चो को रोटियों पर नौकर रख देते थे, और कभी-कभी उन्हे बेचकर गुलाम बना देते थे । यों तो समय यहाँ तक आ गया था, जैसा कि बरानी (Barani) ने अलाउद्दीन के राज-कुल का वर्णन करते समय लिखा है कि बड़े-बड़े चौधरियो और खुतों की पत्नियों को निर्धनता के कारण मुसलमानों के घरों में सेवा-वृत्ति करनी पड़ती थी ।[२९] व्यवसाय का यह हाल था कि कुछ लोग अपने-अपने रोजगार-धन्धे छोटे-छोटे पैमानों पर कर श्रमजीवियों (labourers) के समान अपनी गुजर-बसर करते थे और कुछ अकबर के द्वारा स्थापित राज्य के कारखानों मे, जिनमें कुछ कीमती वस्तुएँ तैयार कराई जाती थीं, मजदूरी कर अपना पेट पाला करते थे; परन्तु यह कार्य इतनी भारी जन-संख्या के लिए पर्याप्त नहीं था। ये कारखाने लाहौर, आगरा, फतहपुर और अहमदाबाद-जैसे बड़े-बड़े शहरों में ही थे ।[३०] इसलिए ग्रामीण जनता को उनसे कोई लाभ नहीं था । न तो वे अपना उदर-पोषण कर सकते थे, न यथोचित कपड़े-लत्ते पहन सकते थे, और न कोई व्यावसायिक कला ही सीख सकते थे । परिणाम यह होता

---

२९. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of india, पृ० ५६४ ।
३०. वही, पृ० ८७१ ।

था कि जब कभी देश के किसी भाग मे अकाल पड़ जाता था, तो वहाँ की जनता अपने स्थानों पर या भगदड़ के समय इधर-उधर त्राहि-त्राहि कर मर जाती थी, जिसका एक प्रधान कारण यह भी था कि उस समय, आज की तुलनात्मक दृष्टि से, यातायात के साधनों की अत्यन्त कमी थी। तुलसी के समय ही मे दो भयंकर दुर्भिक्ष भारत मे पड़े थे, जिनका कटु परिणाम तुलसी ने स्वयं अपनी आँखो से देखा होगा। एक था सन् १५५५-५६ का, जो आगरा और बयाना के निकटवर्ती स्थानों मे हुआ। इसके विषय मे इतिहासकार बदौनो (Badaoni) ने लिखा है कि "मनुष्य मनुष्य ही को खा लेता था। दुर्भिक्ष-ग्रसित लोगों की वह भयंकर दशा थी कि उनकी ओर देखा जाना भी कठिन था। पूरा क्षेत्र-का-क्षेत्र निर्जन (मरुस्थल) बन गया था।" इसी तरह सन् १५७३-७४ मे भी गुजरात में एक दूसरा भयकर दुर्भिक्ष पड़ा और उसी के साथ भारी बीमारी भी फैली। फलतः अनाज की कमी के कारण अनेक लोगों के प्राण गये और अनेक तहस-नहस होकर कठिनाई से बच पाये। इसके पश्चात् मानस लिख जाने के बाद, अकबर के काल ही में, सम्भवतः कवितावली वा विनयपत्रिका लिखे जाने के पूर्व, सन् १५९५ से सन् १५९८ तक चार साल, एक तीसरा भीषण दुर्भिक्ष देश मे व्याप्त हुआ जिसके विषय मे भी इतिहासज्ञों का लेख है कि "मनुष्य-मनुष्य को खा जाते थे और रास्तों पर पड़े हुए मृतकों के कारण रास्ते रुक गये थे तथा उन्हें हटाने के लिए कोई सहायता नही मिल सकती थी।[31]

प्रजा की इस विषम आर्थिक स्थिति का चित्रण हमे कवितावली के निम्न छन्दों मे मिलता है। प्रथम श्रेणी के लोगो के बारे मे यह कहा है—

> **"झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद अंबु चुचाते।**
> **तीखे तुरंग मनो गति चंचल, पौन के गौनहुं ते बढ़ जाते।**
> **भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूपखरे न समाते।**
> **ऐसे भूपतौ कहा 'तुलसी' जु पै जानकी नाथ के रंग न राते।।"**

---

३१. वही, पृ० ८६९-७०।

"राज सुरेस पचास कको, विधि के कर को जो पटो लिखिपाए।
पूत सुपूत पुनीत प्रिया, निज सुन्दरता रति को मद नाए।
संपति सिद्धि सबै 'तुलसी' मनकी मनसा चितवै चितलाए।
जानकि जीवन जाने बिना जग ऐसेउ जीवन जीव कहाए॥"[३२]

अब अन्य श्रेणियों के लोगों के विषय मे देखिये, क्या कहा है—

"किसवी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाँट,
चाकर चपल नट चोर चार चेट की।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की॥
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेट की।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्यामि ही तें,
आग बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की॥"

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमन सोच-बस,
कहैं एक एकनसौं 'कहां जाई का करी?'
वेद हूँ पुरान कही, लोक हू विलोकियत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपाकरी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु,
दुरित-दहन देखि 'तुलसी' हहाकरी॥"[३३]

---

३२. कवितावली, ४४-४५ ; पौन=पवन ; गौनहुं=गमन ; खरे=खड़े; पटो=पट्टा; रति को मदनाए=रति के मद को नीचा कर देता है; मन की मनसा=उन लोगों के मन की इच्छा को।

३३. वही ९६-९७; किसवी=मजदूर या छोटे-छोटे व्यवसायी; चार=हलकारे ; चेट की=बाजीगर ; अटत=भटकते हैं ; अखेटकी=शिकारी ;

उपरोक्त अन्तिम छन्द में "कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।" से प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी के सम्मुख उस समय दुर्भिक्ष-पीड़ितों की दुर्दशा का चित्र भी झूल रहा होगा। जो भी हो, पर तुलसी को तीनों श्रेणी के लोग दुखी दिखे, क्योंकि दरिद्र तो पेट की अग्नि के कारण दुखी ठहरे ही, पर सम्पत्तिवान् भी तृष्णा-प्यास से तृषित रहते थे, जैसा कि उन्होंने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है—

> "कृसगात ललात जो रोटिन को, घरवात धरै खुरपा खरिया।
> तिन सोने के मेरु से ढेर लहे, मन तो भरो धर पै भरिया।
> 'तुलसी' दुख दूनी दसा दुहुँ देखि, कियो मुख दारिद को करिया।
> तजि आस भो दास रघुप्पति को, दसरत्थ को दानि दया-दरिया।।"[३४]

(३) सामाजिक पद्धति (Social System)

हिन्दुस्तान का तत्कालीन समाज मूलतः दो विभागों में विभक्त था, मुसलमान और हिन्दू। दोनों के धार्मिक मतों, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रस्मों आदि, अर्थात् समस्त सामाजिक जीवन में बहुत अधिक भिन्नता थी। मुसलिमों की कट्टरता तो उनकी संख्या को बढ़ाने में योग दे रही थी, परन्तु हिन्दुओं की कट्टरता उनकी संख्या को क्षीण करने में लगी थी। इस तरह उन दोनों के बीच एक काफी लम्बी-चौड़ी खाई बन रही थी। परन्तु, यदि एक ओर इस खाई के बनने का काम चल रहा था, तो दूसरी

बड़वागि=बड़वानल अर्थात् समुद्राग्नि; सीद्यमान=दुखित; साँकरे=संकट, पैं=पर; दारिद-दसानन=दरिद्रता रूपी रावत; दूनी=दुनिया; दुरित-दहन=विपत्ति-नाशक।

३४. वही, ४६; घर बात=घर का सामान; घरपै=घर पर; खुरपा=घास छीलने का खुरपा; खरिया घास बाँधने की जाली; तिन=वे (धनी); भरिया=भरने वाला (मन-सन्तोष) दरिया=नदी।

ओर उसे पाटने के प्रयत्न करने में भी कुछ लोग अपनी-अपनी मति के अनुसार लगे हुए थे। इनमे से सूफियों, कबीर-पन्थियों नानक-पन्थियों, दादू-पन्थियो के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त नामदेव या उनके अनुयायियो तथा राजदरबार के आसपास चक्कर लगाने वाले चाटुकार कुछ राजदरबारी या कवियों के हाथ भी उस कार्य में योग दे रहे थे ; परन्तु वह खाई पाटी न जा सकी। दो फटे हृदय एक न हो सके। हाँ, इतना अवश्य होने लग गया था कि दोनों एक दूसरे के उत्सवों या प्रधान त्योहारों मे शामिल होने लगे थे ; परन्तु इससे क्या, वह केवल एक बाह्य प्रदर्शन मात्र-सा ही था। हृदय तो अभी भी मुसलमानों का अरबी, अफगानिस्तानी या तुर्कस्तानी बना हुआ था, न कि हिन्दुस्तानी। अपने को विजेता और शासक-वर्ग की जाति का समझने के कारण उनमें अभी भी अभिमान भरा था; इसलिए एक देश की सन्तान या प्रजा होने के नाते भाईचारे का भाव उनमे नहीं आया था कि जिससे वे हिन्दुओं के कंधे-से-कधे मिलाकर एव हृदय-से-हृदय जोड़कर सुख-दुख के साथी बन सकते। हिन्दुओं के साथ उनका सम्बन्ध शिथिल था, इसमें सन्देह नहीं ; पर वे स्वयं दृढतापूर्वक सुसंगठित थे, भले ही साधारण जनता मे कभी-कभी कारणवश लड़ाई-भिड़ाई अथवा राजकुलों मे लोभ-ईर्षा आदि के कारण खून-खराबी हो जाती हो।

एक ओर सुसगठित मुसलिमवर्ग में पारस्परिक सहोदरता का भाव था, तो दूसरी ओर हिन्दूवर्ग जाति-उपजाति तथा छुआ-छूत के भेद-भाव के कारण छिन्न-भिन्न हो रहा था। वह अन्यान्य ऐतिहासिक कारणों से अपनी प्राचीन संस्कृति, तत्त्व-विद्या तथा सभ्यता को भूल गया था, जिस पर उसके पूर्वजों का अधिकार उस अतीत काल ही में हो गया था, जब कि संसार की अन्य जातियाँ वन्य जीवन को पार करने में लगी थीं, अथवा शैशव-काल के पलने में सो रही थीं। उसे यह विस्मरण हो गया कि उसका धर्म क्या है। धर्म-तत्त्व को भूल वह कुछ ऐसी रूढियों में फँस बैठा था कि उनसे उसका मुक्त होना बड़ा कठिन हो रहा था। 'जैसा

भीतर जैसा बाहर' यही उसके धर्म का मूलाधार बनाया गया था। दूसरे शब्दों में उसका आत्मधर्म वही था, जो लोक-धर्म से भिन्न न हो। गीतान्वित "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"[३५] का यही आशय है। "एकत्वं अनुपश्यतः"[३६] में उसका धर्म-सिद्धान्त निहित है। उस सिद्धान्त को व्यवहार मे लाने के लिए उसे यह आदेश है कि लोक-संग्रह की इच्छा रखते हुए अनासक्त होकर लोक-कर्म किये जायें—"कुर्यात्

इन्हीं सिद्धान्तों और आदेशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्राचीन आर्यों ने मानव जीवन को विकसित तथा शुद्ध होते रहने की दृष्टि से चार 'आश्रम' तथा समाज को व्यवस्थित रखने की दृष्टि से चार 'वर्ण' मनुष्य के स्वाभाविक गुणों के अनुरूप बना रखे थे, क्यों कि उनकी सारी संस्कृति की भित्ति स्वाभाविक अर्थात् प्राकृतिक नियमों (natural laws) पर खड़ी की गई है। यही स्वाभाविक विभक्तिकरण हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में 'वर्णाश्रमधर्म' के नाम से विख्यात है, जिस पर पिछले पाँचवें अध्याय में मूल भाव की दृष्टि से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही स्मरण कराना है कि काल-चक्र के प्रभाव में पड़कर हिन्दू जनता इस धर्म को भूलकर धीरे-धीरे नीचे की ओर खिसकती गई। व्यक्तिगत जीवन को पवित्र और कर्तव्यनिष्ठ बनाने वाली न वह शिक्षा रही, न दीक्षा, न वह निष्ठा रही, न साधना और न वे चतुराश्रमीय संयम रहे न नियम, जिनका पालन करने से आसुरीवृत्तियों के स्थान में दैवीवृत्तियों का रहना सम्भव रहता था। इसी तरह समाज को व्यवस्थित बनाये रखने वाले स्वाभाविक गुणों पर आधारित वर्ण व्यवसायसूचक तथा उत्पत्तिसूचक जातियों के रूप मे परिवर्तित होते गये—यहाँ तक कि चार वर्णो के स्थान में सैकड़ों

३५. गीता, १।१, कुरु=करना; कुरुक्षेत्रे=कर्मक्षेत्र field of action.

३६. ई० उप०, मंत्र ७।

३७. गीता, ३।२५।

जातियाँ-उपजातियाँ बन गईं। समय के पलटा खाने के कारण उच्च वर्ण के लोगों के सामने जब जीविका की कठिनता उपस्थित हुई, तब उन्होने कुछ निम्न व्यवसाय करना शुरू कर दिये, जिससे उनके नाम भी उन्हीं कृत्यों के नामों के अनुरूप कहे जाने लगे; जैसे—तैली, कुम्हार, लुहार आदि। कालान्तर से यही व्यवसायी और उनकी सन्तानें अपने-अपने व्यवसायों में परम्पराबद्ध होकर तद्-तद् नाम की जातियाँ बन गईं। फल यह हुआ कि पहले जिस समाज में चार वर्ण इस प्रकार लचीले (flexible) रहते थे कि कोई भी किसी वर्ण का मनुष्य अपने सच्चरित्र और विकसित योग्यता के अनुरूप किसी दूसरे उच्च वर्ण का अधिकारी बन जाता था, अथवा दुश्चरित्रता या अयोग्यता के अनुरूप निम्नवर्ण को प्राप्त हो जाता था, उसी समाज का विभाजन सैकड़ों ऐसी लोहवत-कट्टर (non-flexible) जाति-उपजातियों में हो गया था कि कोई अपने दायरे को छोड़ दूसरे के दायरे में नहीं घुस पाता था। एक बार कोई ब्राह्मण हुआ कि उसकी सन्तति सदा के लिए अमर ब्राह्मण बन बैठी, चाहे वह चोर हो, व्यभिचारी हो या खूनी हो। इसी तरह एक बार कोई शूद्र कहाया कि उसकी सन्तति सदा के लिए शूद्र बन गई—चाहे वह सदाचारी या आत्मोन्नति के द्वारा ब्राह्मणों को शर्माने वाला ही क्यों न हो। समाज की इस खंडहर दुर्व्यवस्था के समय भी लोग चारों वर्णों के नाम नहीं भूले, और न उन्होंने 'द्विज' शब्द को भुलाया। वे इन सैकड़ों समस्त जातियों का वर्गीकरण उन्हीं चारों वर्णों के अन्तर्गत करते गये। ब्राह्मण तो ब्राह्मण रहे ही; पर अन्य जातियों में से कुछ दो-चार ऐसी बन गईं, जिन्होंने शस्त्र-बल आदि के कारण राज्य-सत्ता जमा ली, जिससे वे क्षत्रिय बन गये। कुछ दो-चार व्यवसायी होने के कारण द्रव्योपार्जक तथा द्रव्यसंचयी बनने से वैश्य कहलाये जाने लगे, और सैकड़ों अन्य श्रम-जीवी जातियाँ सब-की-सब शूद्र कहलाई गईं। वर्ण-संज्ञा के अन्तर्गत स्वाभाविकता का जो भाव आदि में था, वह मिट गया और उसके स्थान में जन्म और व्यवसायसूचक कृत्रिमता का नया भाव प्रविष्ट हो गया। इस भाव और भाषा के वैषम्य ने, आगे चलकर समस्त समाज ही को विषैला बना दिया।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कही जाने वाली जातियाँ अशिक्षित मूर्ख अथवा कर्तव्य-च्युत होने पर भी 'द्विजाति' संज्ञा से विभूषित होती रहीं। बाद में 'द्विज' ब्राह्मण का ही द्योतक माना जाने लगा। इससे उनमें दर्प, दम्भ, अभिमान बढा, और शूद्र कहे जाने वाले लोग अपमानित या तिरस्कृत होते गये जिससे स्पृश्यास्पृश्य का प्रश्न उठा। फलत: हिन्दू-समाज में—इन दुष्कृतियों के कारण—पारस्परिक प्रेम घटा, [illegible] फैली और फूट ने घर बना लिया। न पारस्परिक शादी-विवाह रहा न खाना-पीना, न साथ में पढ़ना-लिखना रहा, न बैठना-उठना और क्या कहा जाय, तो अस्पृश्यता का भूत इतना चढ़ गया कि शूद्र कहे जाने वाले नारायण-रूप नर की परिछाईं पड़ जाना ही पाप समझा जाने लगा। इधर यह शूद्र ब्राह्मण को देख गुर्राकर कहता था कि मैं क्या तुमसे किसी तरह कम हूँ—'मैं क्या ब्रह्म को नहीं जानता' और उधर वह धर्म-कर्म-च्युत पाप-परायण ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य डाँट-डपट कर उस शूद्र से घृणा करने में अपनी शान समझता था। सारांश यह कि तत्कालीन हिन्दू-समाज में राजा से लेकर रङ्क तक, तथा विद्वान् से लेकर मूर्ख तक, सब कोई स्वाभाविक गुणों की लीक छोड़कर कृत्रिमता के रँग में रँग रहे थे। राजकीय, पारिवारिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में मर्यादा का उल्लंघन हो रहा था! न शास्त्र-ज्ञान था, न शास्त्र-पथ का अनुगमन। 'अधिकारी' तदनुरूप उत्तरदायित्व का त्याग कर देने पर भी अधिकारित्व की घुड़की भरता था, और अनधिकारी भी सरजोरी कर अधिकारी बनने का दम भरता था। न राजधर्म था न कुल-धर्म, न आत्मधर्म था न समाजधर्म। राजा के काम प्रजापालक-जैसे न होकर प्रजा-घातक-जैसे हो रहे थे, और प्रजा सशंकित या सभय होकर हृदय और मन को सिकोड़े दीन बन सलामी ठोका करती थी। यहाँ कौटुम्बिक स्नेह नहीं था, तो वहाँ जन-स्नेह भी समाप्त हो चुका था। गरज यह कि हिन्दू-समाज विश्रृङ्खलता का क्षेत्र बन रहा था।

इस तरह एक ओर तो मुसलिम-जन-समाज में अमानुषीय प्रकार के दूषण थे, तो दूसरी ओर हिन्दू-जन-समाज में शास्त्र-विरोधी अवगुण

भरे थे। वहाँ वन्य जीवन की प्रधानता थी, तो यहाँ पथ-भ्रष्टता की। दोनों की तीन और छै के अंकों-जैसी दो विभिन्न संस्कृतियों के आ मिलने से भारतीय जन-समुदाय में फेनल अथवा उद्दीप्त असामञ्जस्य बुलबुला रहा था। जिस काल मे मानव-समाज के अन्तर्गत संयम-नियम से बँधी हुई मर्यादाओं का उल्लघन होकर समन्वय के स्थान में उच्छृंखलता का साम्राज्य हो जाता है, उसी का नाम यथार्थ कलियुग है। ज्योतिर्विद गणितज्ञों की करोड़ों वर्षवाली अंकगणना के द्वारा चतुर्युगों का जो अनुसन्धान लगाया जाता है, वह दीर्घज्ञानियों के लिए किसी प्रकार लाभदायक भले ही प्रतीत हो, पर उसमें हमें तो कोई जीवनोपयोगी व्यावहारिकता नहीं दिखाई देती। व्यवहारिकता है उनके मूलार्थो में। 'कलि' का अर्थ है 'असामञ्जस्य' अथवा 'विग्रह' (dissension or strife आदि)[३८] इसलिए जिस युग (काल) में असामञ्जस्य या विग्रह की प्रधानता हो, उसी का नाम 'कलियुग' समझना चाहिए। जो भी हो, तुलसी का मन तत्कालीन हिन्दुस्तानी समाज की दुर्व्यवस्था को देखकर संतप्त था और हृदय व्याकुल। उसका चित्रण हमें—कलि-वर्णन के अन्तर्गत दोहावली के ५४६ से ५६० तक के दोहों में, कवितावली के ८४ से ८७ तक के या १०५वें छन्द में, विनय-पत्रिका के १३९वें भजन में या रामचरित-मानस के उत्तरकांड में दोहा ९९ (ख) से लेकर दोहा १०२ (क) तक पर्याप्त रूप से मिलता है, परन्तु विस्तारभय के कारण यहाँ पर केवल मानस की ही कुछेक पंक्तियाँ दृष्टान्त-स्वरूप दी जाती हैं; काकभुशुंडजी गरुड़जी से कहते हैं—

"सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सब ग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्पिकरि, प्रकट किए बहुपन्थ॥
भए लोग सब मोह बस, लोभ ग्रसे सुभकर्म।
सुनु हरिजान ज्ञान निधि, कहहुँ कछुक कलिधर्म।

---

३८. देखो भिड़े कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

वरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन[३९]। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥

+ + +

दो०—असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं॥
सो०—जे अपकारी चार,[४०] तिन्हकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

+ + +

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥

+ + +

दो०—ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागी लोभ बस, करहिं विप्र गुरु घात॥
कहहिं सूद्र द्विजन्हसन, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखावहिं डाटि॥

+ + +

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच कोल किरात कलवारा॥
नारि मुई गृह संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥

+ + +

दो०—भए वरनसंकर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक वियोग॥

+ + +

---

३९. प्रजासन (प्रजा+असन)=(प्रजा+अशन) अश=खाना (to eat.)

४०. चार=चुगल; दूत।

छन्द—

\+ + +

नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजानितहीं।

\+ + +

कवि वृंद उदार धुनी न सुनी। गुण दूषक वातन कोपि गुनी।।[४१]

छन्द—

\+ + +

कलि काल विहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचारन सीतलता। सब जाति कुजाति भए मंगता।
इरषा परुषा छल लोलुपता। भरि पूरि रही समता विगता।
सब लोग वियोग विसोक हुए। वरनाश्रम धर्म अचार गए।

(४) शिक्षा-पद्धति—

माता-पिता यदि तन को बनाते है, तो गुरु तन-मन-आत्मा—तीनों को सुडौल बनाने वाला होता है। यथार्थ में वही मानव-जीवन का रचयिता होता है। इसलिए तुलसी ने जगह-जगह पर गुरु का बड़ा महत्त्व बताया है। यहाँ तक कि उन्होंने मानस को प्रारम्भ करते समय देवों की वन्दना के साथ ही उसकी भी वन्दना, उसे ईश्वररूप 'कृपा सिन्धु नररूप हरि' कहकर की है। जो सत्-वृत्ती अर्थात् सत्-युगी हो, वही 'कृपा सिन्धु हरि' की उपमा का अधिकारी हो सकता है। भारत में एक समय ऐसा था, जिसका परिचय इतिहासकार वैदिक-काल, ब्राह्मण-काल तथा अरण्य-काल कहकर कराते है, जब कुछ ऋषि लोग जन-समुदाय से दूर किसी नदी या वन के निकट अपने आश्रमों में रहा करते थे। शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी बाल्यकाल में नियत अवस्था के समय इन आश्रमों में प्रवेश करते थे।

---

४१. 'धुनी' के स्थान में 'दुनी' और 'बात' के स्थान में 'ब्रात' पाठ भी है। कोपि=(कः+अपि) अर्थात् कः=कोई, कौन; अपि=भी। इस तरह 'कोपि'=कोई भी।

इस तरह ऋषि और शिष्यों का एक ऐसा कुल बन जाता था, जैसे माता-पिता के साथ घर का कौटुम्बिक कुल रहता है। गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध, शिष्यों की लगभग २५ वर्ष की अवस्था तक, पिता-पुत्र-जैसा निस्स्वार्थ प्रेम पर आधारित रहता था। शिष्य गुरु की सेवा कर तत्त्व-विद्या, शास्त्र-विद्या तथा जीवनोपयोगी अन्य विद्याएँ अपनी-अपनी योग्यता एवं स्वभाव के अनुकूल ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सीखा करते थे। इस तरह विद्याओं में पारांगत होने के पश्चात् वे गृहस्थाश्रमी बनते थे। शिक्षा निःशुल्क रहती थी। राज्य-सत्ता का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं रहता था। राजा को उससे कोई डर भी नहीं रहता था, क्योंकि उसमें धर्म, न्याय और शान्ति-पाठ की ही प्रधानता रहती थी। गुरु को द्रव्यमोह नहीं सताता था। उसकी व्यवस्था इतनी भर रहती थी कि उसका गुरु-शिष्य-कुल भोजन-वस्त्र पा सके और शिष्यगण धर्म से सम्पुटित कला या विज्ञान में विद्वान् हों। भोजन-सामग्री की पूर्ति शिष्यगण भिक्षा-वृत्ति के द्वारा और जंगल से ईंधन लाकर किया करते थे। जब ब्राह्मण और अरण्य-काल के पश्चात् जैन-काल और बौद्ध-काल का प्रसार हुआ, तब उपरोक्त ऋषिकुल या गुरुकुलों को धक्का लगा और उनके स्थान मे मठों की प्रधानता हुई, जिनमें 'मुनियों' तथा 'भिक्षुओं' का वास होने लगा एवं नालन्दा-जैसे कुछ महाविद्यालयों की स्थापना भी हुई। इन मठों में भी विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी; परन्तु आक्रमक मुसलमानों एवं मुसलमानी राज्यों की साम्प्रदायिक कट्टरता ने इन मठों या महाविद्यालयों को धूल में मिला दिया और भारतीय शिक्षा-पद्धति का अन्त कर दिया, जिससे भारतीय जीवन अपनी प्राचीन धार्मिक संस्कृति से हाथ धो बैठा। गुरुओं के स्थान में मौलवियों, वेदज्ञ वा शास्त्रियों के स्थान में हाफिजों, पाली वा संस्कृत के स्थान में अरबी या फारसी, जन-सम्पर्क से दूरस्थ ब्रह्मचारियों के कुल, आश्रम-मठों के स्थान में विलास-वैभव-पूर्ण नगरों में कुछ इक्के-दुक्के मदरसों, धर्म के स्थान में पन्थों, एवं रहस्यमय तत्त्वज्ञान के स्थान में लैला-मजनू आदि जैसे किस्सा-कहानियों की बाढ़ बढी। शिक्षा न धर्म-प्रधान रही,

न निःशुल्क। वह पेटार्थी हो गई। गुरु ने शुल्क या वेतन लिया; माता-पिता ने बालकों को नौकरियों तथा द्रव्य-संचय के हेतु राज-भाषाएँ पढाई-लिखाई और शिष्य भी गुरु को वेतन पाने वाला नौकर समझने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरु-शिष्य का जोड़ा ऐसा ही समझो, मानो अंधे-बहरे का सयोग हो गया हो। तब मानव-धर्म के जिज्ञासु को 'बोधमयंशंकर-रूपिणम्' अथवा 'महामोहतमपुंज, जासुवचन रविकर निकर' वाला सद्-गुरु का मिलना कठिन हो रहा था। अगर कहीं भूला-भटका एकाध निस्स्वार्थ योग्य गुरु मिल भी जाए, तो उसे अनुकूल शिष्यों का मिलना कठिन हो रहा था, क्योंकि उन दिनों जिज्ञासुओं में अभिमान, दर्प, दम्भ, कपट, क्रोध, कुतर्क आदि की ही प्रधानता दिखाई देती थी, जैसा कि तुलसीदास-जी ने कागभुशुंडजी के मुख से उनकी भूल स्वीकार के रूप में कहलवाया है--

सो०--"गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दंभिहि नीति कि भावई॥"[४२]

+ + +

"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरुहित कहहि न मोहि सोहाई॥"

अतः तुलसी के काल मे साधारणतया सद्गुरु, सद्शिष्यों तथा सद् शिक्षा का अभाव था और पेटार्थ, अर्थात् धर्मक्षीण लौकिक जीवन के पीछे ही लोग मरे जाते थे, जैसा उन्होंने निम्न पक्तियों में व्यक्त किया है—

"गुरु शिष बधिर अंध करलेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदरभरै सोइ धर्म सिखावहिं॥"[४३]

---

४२. पूरा वृत्तान्त देखने के लिए देखो मानस, उ० कां० दोहा १०५ से १०९ तक।

४३. मानस, उ० कां० ९८ (ख)। ६-८।

(५) धार्मिक पद्धति—

तुलसी कालीन धार्मिक पद्धति को उचित प्रकार से जानने के लिए उसका परिचय दो दृष्टिकोणों से करना चाहिए-—एक ऐतिहासिक दृष्टि-कोण और दूसरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इतिहासज्ञ का कहना है कि आदि काल में मनुष्य पाशविक अर्थात् वन्य जीवन की स्थिति में था। उस समय वह पशुओं के समान अकेला-दुकेला विचरण कर अपना जीवन व्यतीत करता था; इसलिए उस स्थिति में वह अपने आस-पास के कुछ आश्चर्य-प्रद, भयप्रद, रुचिप्रद अथवा जीवनोपयोगी प्राकृतिक निर्जीव पदार्थों एवं पशु-पक्षी आदि सजीवों को मान्यता देता था। मान्यता ही पूजा का आधार है, जो कई रूपों में प्रकट की जाती है। धर्मवृत्ति का यही प्रथम स्वरूप था, जब कि तत्कालीन मनुष्यों ने पहाड़, नदी आदि निर्जीव पदार्थों तथा सिंह, वृषभ, हंस, गरुड़, मोर आदि सजीव पशु-पक्षियों का पूजन करना शुरू किया। इस आदि-काल के बाद जब पुरुष-नारी की काम-वासना के कारण सन्तानोत्पत्ति हुई, तब मातृ-कुल (matriarchal family) का युग आया, क्योंकि उस समय सन्तान के पालन पोषण-रक्षण आदि का भार माता ही पर रहता था; इसलिए स्वाभाविकतः सन्तान के हृदय में माता के प्रति अधिक श्रद्धायुक्त स्नेह उठा और तभी से, हमारा अनुमान है, मातृ-पूजन अथवा 'देवीमाता' (mother-goddess) की उपासना प्रारम्भ हुई। इसके पश्चात् जब पुरुष-नारी का सम्बन्ध कुछ स्थायी रूप से होने लगा, तब सन्तान के प्रति पिता के उत्तरदायित्व और स्वामित्व का समय आया। इस काल को पितृकुल (Patriarchal family) का युग कहते हैं। सन्तान और पिता के इस सम्बन्ध से प्रभावित होकर तत्कालीन लोगों ने यह अनुमान लगाया कि समस्त पशु-वर्ग (man is an animal मनुष्य पशु है) का भी उत्पादक या स्वामी कोई-न-कोई पिता-जैसा देव होना चाहिए। यही 'पाशुपति' (Lord of animals) कहाया चूँकि कृषी-प्रधान भारत में बैल (वृषभ) की प्रधानता और उपयोगिता सदा से रही है, इसलिए हमारे अनुमान से उस 'पाशुपति' के स्वामित्व के

प्रदर्शनार्थ उसे पशुओं के प्रतिनिधित्व के रूप में 'नन्दी' (वृषभ) पर सवार कराया गया। इस तरह आदि-वासियो ने 'पाशुपति' की पूजा करना प्रारम्भ की ; परन्तु जब नस्ल और वासस्थान आदि की समता के कारण कुलों (families) ने विस्तृत कौम या जाति (tribes) का रूप धारण किया, तब उत्पत्ति और स्वामित्व दोनों की दृष्टि से माता-पिता दोनों का महत्त्व विस्तृत रूप (extensive form) में सम-स्तर पर दिखाई देने लगा, और उन दोनों का पूजन 'योनि और लिंग' की प्रतिमाओं के रूप में होने लगा। तब से उक्त 'पाशुपति' देव का नाम महा-देव (महादेव) पड़ जाना, प्रतीत होता है, जो 'नन्दी-सहित योनि-लिंग' की शिलांकित मूर्ति के रूप में पूज्य बना। इसी बीच मे पाश्चात्य ऐतिहासिक मत से प्रभावित आधुनिक इतिहासज्ञ के कथनानुसार मध्य एशिया से आर्यो के जत्थे हिन्दुस्थान में आने लगे और उसको ब्रह्मावर्त अथवा आर्यावर्त नाम दिया।[४४] आर्य-लोग आदि-वासियों से अधिक सांस्कृतिक और अध्यात्म-ज्ञानी थे।

---

४४. मध्य-एशिया से आने का अनुसन्धान कुछ लोगों ने गलत सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि आर्यों का आदि-निवास उत्तरीय ध्रुव था। इसका प्रतिपादन सर्व प्रथम बाल गंगाधर तिलक ने किया। एक लेखक ने यह बताया है कि महाभारत वन पर्व १८७ से प्रतीत होता है कि आर्यों की आदि-भूमि हिमालय थी ; किन्तु सम्पूर्णानन्दजी ने अपनी पुस्तक 'आर्यो का आदि देश' (लीडर प्रेस, इलाहाबाद) में अन्य मतों का खंडन करते हुए, मूलतया वैदिक वाङ्मय के प्रामाण्य पर यह बताया है कि आर्यों का आदि-निवास भारत ही था, जो सिन्धु, विपासा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतल), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाब) परुष्णी (रावी) और सरस्वती नाम की सात नदियों के कारण 'सप्त सिन्धव' कहलाता था। अन्य कुछ लेखकों ने भी कतिपय ऐतिहासिक एवं हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों के खंडहरों आदि के आधार पर भारत ही को आर्यो का आदि निवास माना है।

उनके आने से वैदिक काल शुरू हुआ। वेदों में कहीं भी माता-देवी वा योनि-लिंग रूप पाशुपति के पूजन का उल्लेख नहीं आया।[४५] उसमें सूक्ष्मतत्त्वों के प्रतीक प्राकृतिक दृश्यों जल-अग्नि-वायु आदि पंचभूतों तथा पचेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक सूक्ष्म देव-देवियों की प्रतिष्ठा थी; जैसे—सूर्य, द्यौ, उषा आदि, वरुण, मरुतगण आदि तथा सावित्री, सरस्वती आदि। धीरे-धीरे मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक समस्त अंगोपांगों में भी दिव्य-शक्तियों का अनुभाव देव-देवियों के नामों द्वारा प्रकट होता गया। इसी के साथ-साथ समस्त सृष्टि की त्रिविध नियति का प्रदर्शन करने वाले प्रजापति (ब्रह्मा), विष्णु और शिव की भी प्रस्थापना हुई। यह स्वाभाविक था कि जैसे-जैसे काल व्यतीत होता गया, वैसे-वैसे आदिवासियों और आर्यो की धर्म-भावनाओं का सम्मिश्रण हुआ, जिसके फलस्वरूप आवश्यक संशोधनों या परिवर्तनों के साथ समस्त भारतीयों की संस्कृति देव-पूजा-प्रधान हो गई, जिसमें स्थूल भौतिक पदार्थों से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव देव-देवियों के रूप में पूज्यमान हो गये। आदि-वासियों की असांस्कृतिक गृहदेवी (माता देवी) बाद में क्रमशः कुलदेवी, ग्रामदेवी तथा सर्वव्याप्त दुर्गा, काली या शक्ति के रूप में पूज्य बनी और उसके उपासक शाक्त कहाये। इसी तरह आदिवासियों का 'योनि-लिंग-सह पाशुपति अथवा नन्दी-पति' बाद मे ऋग्वेद-काल में रुद्र, यजुर्वेद-काल में त्रिपुरारि महादेव और महाभारत-काल में शिव नाम से पूजा जाने लगा। उसी के उपासक शैव कहलाये। जब इन शैवों और शाक्तों के मतों के अनुसार सृष्टि-विषयक केवल एकांगी अनर्गल प्रचार बढा और समाज में अनाचार एवं दुराचार का आधिक्य हुआ, तब महाभारत-काल में कृष्ण के द्वारा विष्णु की उपासना का प्रचार किया गया, जिसे उस समय भागवत-धर्म कहा जाता था। वही बाद में वैष्णव धर्म के नाम से विख्यात हुआ। विष्णु त्रिदेवों में से वह देव है, जो सौम्य रूप का प्रतीक होकर ससार का संरक्षक

४५. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of india, पृ० १७।

या शान्ति-सुख-दायक माना जाता है। महाभारत-काल में और उसके पश्चात् इसी संरक्षक सौम्य रूप की प्रधानता दर्शाने के अभिप्राय से, विष्णु अवतार की बात मानी जाती थी। तुलसी के समय मे भी हिन्दुओं में अवतार-विषयक यही धारणा थी। उस समय शाक्त तथा शैवों—विशेषकर शैवों का भी पर्याप्त प्रसार था। इस तरह ऐतिहासिक विचारधारा के आधार पर यह निदान निकलता है कि जिस क्रम से मानव-समाज का विकास होता गया, उसी क्रम से स्थूल भौतिक पदार्थों से लेकर आन्तरिक-सूक्ष्म तथा व्याप्त-सूक्ष्म दिव्य-शक्तियों के प्रति पूजा की भावना मानव-जाति में जाग्रत होती गई, यहाँ तक कि अन्त में उक्त त्रिदेव भी एक ही सर्व-व्याप्त ईश्वर नाम की सत्ता के अंग-मात्र ही समझे जाने लगे।

इतिहासज्ञ को यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य आदि-काल में भी—वह चाहे जैसा पाशविक जीवन क्यों न व्यतीत करता रहा हो—अन्तर्गत स्थितियों के बारे मे पशुओं से अधिक विचारवान् रहा होगा। इस दृष्टि से देखने पर यह निश्चय हो जाता है कि प्रारम्भिक युग में भी मनुष्य में सुख दुःख-निर्धारक विचारों की गति में कुछ-न-कुछ गंभीरता और व्यवस्था रही होगी। इस आधार को लेकर अध्यात्म-दृष्टिकोण से विचारने वाला इस निश्चय पर पहुँचता है कि धर्म-वृत्ति का प्रारम्भ उसी समय से हो गया, जब कि मनुष्य के मन में सुख की आकांक्षा उठी और सुख-लाभ के हेतु दुःख-निवृत्ति की बात ध्यान में आई। मनुष्य-मात्र प्रारम्भकाल से ही सुख चाहता रहा है; परन्तु तभी से उसे यह अनुभव भी हुआ कि वह त्रिविध दुःखों या तापों के कारण पूरा-पूरा सुख-लाभ नहीं पा सकता। इन त्रिविध तापों की गणना दैहिक, दैविक और भौतिक ताप कह कर की जाती है। प्रारम्भिक युग में इन तापों की यद्यपि तात्त्विक और सविस्तार व्याख्या तो नहीं हो सकती थी, तथापि शारीरिक रोग या पीड़ादि दैहिक ताप की, आकस्मिक सर्प-दंश, सिंह-भक्षण आदि दैविक घटनाओं की, एवं तूफान, जल-बाढ़ आदि भौतिक परितापों की अनुभूति वन्य युग में भी अवश्य, बल्कि अधिक रूप में होती होगी। जब मनुष्य का किसी दुःख से निवृत्त

होने का कोई वश नहीं चलता, तब वह उसे किसी देव-विशेष का प्रकोप समझने लगता है, और उससे मुक्त होने के लिए उसकी पूजा-अर्चा करना प्रारम्भ करता है। इस तरह मनुष्य ने दो प्रकार के देवों की कल्पना तथा उनका अधिष्ठान करना प्रारम्भ किया—एक सद्भावी देव, और दूसरे दुर्भावी देव। दोनों की पूजा आवश्यक समझी गई, क्योंकि एक के प्रसन्न होने से सुख-समृद्धि की आशा रहती थी, और दूसरे के प्रसन्न होने से उसके प्रकोप से बचने की। आदि कालीन और वैदिक कालीन अनेक देव-देवियों की स्थापना, अध्यात्मज्ञ के विचारानुसार, इसी कल्पनात्मक अधिष्ठान पर निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ पूतना (मैली) रोग से पीड़ित बालक को देख 'पूतना' नाम की राक्षसी-देवी की, तथा महामारी बीमारी से पीड़ित ग्रामवासियों को देख 'महामारी' या 'ग्रामदेवी' या 'कुलदेवी' की कल्पनाएँ बनी और वे ही पूजी जाने लगीं। इसी तरह वरुण, मरुद्गण, आदि देवताओं की प्रतिष्ठापनाएँ दैविक तथा भौतिक तापों से मुक्त होने तथा तत्सम्बन्धी समृद्धि-सुख प्राप्त करने के अभिप्राय से हुईं। इस प्रकार तुलसी-काल में अध्यात्मज्ञ की दृष्टि से भी कोटियों देवताओं की प्रतिष्ठा हिन्दू-धर्म मे प्रस्तुत थी। सनातन हिन्दू-धर्म मे तैंतीस कोटि देवताओं की प्रतिष्ठा मानी जाती है। कोई-कोई इसका अर्थ तैंतीस करोड़ करते हैं। कुछ लोगों ने व्यावहारिकता दर्शाने के लिए बाद में यह कहना शुरू किया कि 'तैंतीस कोटि' शब्दों में भारतवर्ष की तत्कालीन तैंतीस करोड़ जन-संख्या का भाव निहित है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोग 'कोटि' का अर्थ 'श्रेणी' या 'विभाग' करते हैं; इसलिए उनके मन्तव्यानुसार सनातन धर्म ने समस्त देव-देवियों की गणना तैंतीस विभागों मे की है। हम इसी अर्थ को अधिक उपयुक्त मानते हैं; परन्तु देवताओं की इतनी अधिक संख्या होने पर भी सनातन धर्म सर्वव्याप्त एकमात्र सत्ता को ही प्रधानता देता है। देवता उस सत्ता के केवल अवयव-सूचक हैं।

इतिहासज्ञ और अध्यात्मज्ञ दोनों के पूजा-प्रधान धर्म-विषयक अनुसन्धान यद्यपि एक समान प्रतीत होते हैं, तथापि उनमें मूलतः भूमि-

आकाश जैसा भेद है। एक ने लिया है पाश्चात्य तत्त्व-विद्या का आधार, जो भौतिकवाद है ; और दूसरे ने लिया है भारतीय आर्यों की तत्त्व-विद्या का आधार, जिसे अध्यात्मवाद कहते है। भौतिकवाद स्थूल रूपों (crude forms) से सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना (finest soul or Intelligence) की उत्पत्ति और विकास की बात करता है, परन्तु अध्यात्मवाद चेतना की उत्पत्ति और विकास वाली बात को नहीं मानता। वह कहता है कि चेतना स्वयं सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहती है। उसमे सब की उत्पत्ति होती है, अथवा यह कहिए, उसी से सब कुछ प्रकट होता है न कि वह किसी के द्वारा उत्पन्न या प्रकट किया जाता है। शास्त्रीय शब्दों मे वह 'स्वयभूः' और 'परि भूः' है। वह अपने-आप 'पूर्ण' भी है ; इसलिए 'पूर्ण' का विकास कहना मूर्खता है। विकास 'अपूर्ण' का ही हो सकता है, अतः अध्यात्मवाद का सिद्धान्त ऐतिहासिक सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। वह चेतना को 'स्वयं पूर्ण', 'स्वयं प्रकाश' आदि कह कर यह कहता है कि जिस प्रकार मेघों के आवर्तो से सूर्य का प्रकाश ढक जाता है, उसी प्रकार चेतना का प्रकाश अज्ञानरूपी तम के आच्छादन से ढका रहता है। जिस-जिस तरह, जितनी-जितनी यह अज्ञान रूपी घटा घटती जाती है, उसी-उसी क्रम से चेतना का प्रकाश उघड़ता जाता है, जिसे तुलसी ने—'उघरहिं विमल विलोचन हिय के' इन थोड़े-से ही शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया है। यही है 'निगमागम सम्मत मत' जिसे तुलसी ने मानस लिखते समय अपना मार्ग-प्रदर्शक बना रखा था। इसी में सनातन और शाश्वत सत्य है। दुःखों से मुक्त होने-न-होने का काम उसने दुःखी ही के हाथ में सौंप दिया है—भूतों के अधीन नहीं रखा ; इसलिए मनुष्य को अपने शीघ्रोद्धार की लहलहाती आशा इसी में मिलती है, क्यों कि उसके हृदय में बाह्यान्तर आत्मा के पूर्णत्व की गूँज भरी जाती है, जैसा कि निम्न मंत्र में व्यक्त किया गया है—

"ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

अर्थात्—'ओं, वह पूर्ण है, यह (तू) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण ही होता है और फिर भी पूर्ण ही बच रहता है।'

यही भारतीय हिन्दुओं का धर्म है, और यही उनकी विद्या है, जैसा कि तत्त्वज्ञानी स्वामी विवेकानन्द ने कहा है 'Religion is the manifestation of the Divinity already in man' अर्थात्—'मनुष्य में जो ईश्वरत्व पहले से विद्यमान रहता है, उसी के प्रकट होने का नाम धर्म है; और 'Education is the manifestation of the perfection already in man' अर्थात्—मनुष्य में जो पूर्णता पहले से विद्यमान रहती है, उसी के प्रकट होने का नाम विद्या है।[४६] ऐसी चेतना को, जिससे सब की उत्पत्ति हो और सब चेष्टित हों (अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते)[४७] तथा जिस एक से सर्व लोक इस प्रकार प्रकाशित हों, जैसे सूर्य से यह लोक प्रकाशित होता है। (यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः)[४८] यदि कोई कहे कि वह भौतिकता अथवा पार्थिवता (materi-alism) के प्रतीक मानव तनु के आधार को लेकर उत्पन्न और विकसित होता है, तो ऐसे लोग हिन्दू-धर्म-तत्त्वज्ञों की दृष्टि में अति प्राचीन काल से ही मूर्ख कहे जाते हैं—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम्॥"[४९]

जिस देश या जाति में जैसे सिद्धान्त का निर्माण कर लिया जाता है, वैसी ही वहाँ उसे कार्य रूप में व्यवहृत करने के लिए साधनाएँ ढूँढ़ी जाती हैं। हिन्दू समाज ने भी अपने वेद-वेदांगों तथा, अन्य विविध प्रकार के

---

४६. Complete Works of Swami Vivekananda (Mayavati Memorial Edition) Vol. I Front page.

४७. गीता १०।८

४८. वही १३।३३

४९. वही ९।११

शास्त्रों मे उन साधनाओं का विशद उल्लेख या विवेचन किया है। इस आत्म-सिद्धान्त तथा तत्विषयक साधनाओं पर आधारित आर्य-धर्म अथवा आर्य-सभ्यता का सूर्य जब मध्याह्न काल जैसा तप चुका, जब ब्राह्मण-कालोन यज्ञ-यागादि वाले कर्मठों, उपनिषदकालीन ज्ञानियो, अरण्य-कालीन तपस्वियो तथा द्वैताद्वैतास्मित-प्रतिपादको एवं शाक्त-शैव-वैष्णवी उपासकों की मैं-मैं, तू-तू की खीचातानी मची, एव जब वर्णाश्रम धर्म से लोग विमुख होते गये, तब सिद्धान्त और व्यवहार का योग मिट गया, अर्थात् धर्म और कर्म का सामञ्जस्य टूट गया। फलतः समाज मे अकर्मण्यता, अधार्मिकता तथा हिसात्मक जीवन की बाढ बढी। ऐसे समय पर हिंसा को रोकने के लिए जैन मत और बौद्ध मत उठे। उनकी अहिसा भरी तान इतनी प्रबलता से छिड़ी कि लोग हिसा-अहिंसा में भेद करना ही भूल गये। उन्हे यह ध्यान नही रहा कि लोक-धर्म की दृष्टि से कभी-कभी प्रत्यक्ष हिसा अहिसा की गणना में आती है और कभी-कभी प्रत्यक्ष अहिसा हिंसा की गणना में। वे यह भूल गये कि स्वार्थ अथवा ममत्व को त्याग कर लोक-संग्रह अथवा लोक-सेवा करने में यदि कोई प्रत्यक्षत. हिंस्र प्रतीत होनेवाला कर्म करना ही पड़े, तो वह धर्म ही माना जाता है। सारांश यह कि इन मतों की बाढ़ भी कर्म-ज्ञान के समन्वय से सम्पुटित लोकधर्म के प्रतिपालक उत्पन्न न कर सकी और समाज शिथिल वा छिन्न-भिन्न बनता ही गया। गड़बड़ी भरे ऐसे अनुकूल समय को पाकर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हुए तथा धीरे-धीरे उनके राज्य स्थापित होते गये। अन्त में मुगल बादशाहत जम गई। भौगोलिक तथा राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक विचारों पर भी अधिकार जमाने के प्रयत्न किये। जब यह देखा गया कि छल-बल-कल से जाति-परिवर्तन कराया जा कर हिन्दुओं की जन-संख्या तो घटाई जा सकती है, पर चिरकाल से हृदय में परिपोषित उनकी धर्म-भावना परिवर्तित नहीं की जा सकती, तब मुसलिम राज्यों और बादशाही दरबार के खैरख्वाह और पिट्ठुओं के द्वारा धर्म के एककीरण के नाम पर मुसलमान-हिन्दुओं को एक घाट उतारने के नारे

उठाये गये। इनमें सूफी मतवालों का नम्बर पहला है। प्रथम आक्रमण-कारी मुसमलमानों के साथ ही, अथवा उनके कुछ पीछे सातवी शताब्दी में उनका हिंदुस्तान में आना प्रारम्भ हो गया था। काल-क्रमानुसार उसके कई प्रवर्तक भारत में होते गये और हर एक के नाम के पीछे उसके नाम का पन्थ चल निकला; जैसे—जुल्लाबी, चिश्ती, इमामशाही, सुहरावर्दी। इनका मूल सिद्धान्त था—हर धर्म में जो अच्छा दिखे, वह ले लेना तथा दो वियोगी प्रेमियों-जैसे किस्सा-कहानियों के द्वारा ईश्वर की ओर सद्वृत्ति का जाग्रत करना। इनका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि "सत्रहवें शतक के मध्य भाग में मुहम्मद शहदुल्ला नामक सूफी प्रचारक को कुछ लोग विष्णु का निष्कलक दशम अवतार मानकर पूजने को प्रस्तुत थे।"[५०] सूफी इतने लोक-प्रिय क्यों हुए? इसलिए कि उन्हें समय अनुकूल मिला। मुसलिम-काल के अत्याचारों से हिन्दू जनता सन्तप्त थी। वह निराश थी। सनातनी धर्म वा व्यवस्था से उसको सान्त्वना का मिलना दुस्तर सा हो रहा था, पर साथ ही उसे मुसलिम धर्म से घृणा भी थी; इसलिए सूफियों के नवीन पन्थ में उन्हें अपने उद्धार की आशा दिखी। इस नैराश्य-काल के समय आर्य-धर्म के कुछ विद्वान् पंडितों ने जब यह देखा कि हिन्दू जनता उसमें विहित ईश्वरवाद से निराश होकर सूफी मत की ओर प्रवृत्त हो रही है, तो उन्होने भी अपनी भारतीय शास्त्रीय पद्धति के आधार पर अपने-अपने अनुरूप जन-जीवन में आशालता को पल्लवित करने में कमी नहीं की। सबसे पहले गुरु मछंदरनाथ के शिष्य गोरखनाथ का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने ११ वी शताब्दी में हठ योग अर्थात् आसन-यम-नियम-प्राणायाम आदि क्रियाओं द्वारा मन को वश में करने वा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का प्रचार किया। इसके बाद १२ वीं शताब्दी में दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य ने संस्कृत

---

५०. **'मिडिईवल मिस्टीसिज्म ऑव इंन्डिया'** (Mediaeval Mysticism of India) **पृष्ठ ३२ के आधार पर 'तुलसीदास और उनका युग' पृ० ४०।**

भाषा में ब्राह्मण आदि विद्वान् लोगों का ध्यान नारायणी अथवा वैष्णवी साकार उपासना की ओर आकृष्ट किया । फिर गुजरात में मध्वाचार्य ने १४ वीं शताब्दी में द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय की नींव डाली । इसके पश्चात् पन्द्रवीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामानन्द ने, जो रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे, हिन्दी भाषा में विष्णु के अवतार राम की भक्ति को प्रधानता दी । इसके बाद सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में एक तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्य ने मथुरा में कृष्ण की सगुणोपासना का प्रचार किया ; परन्तु जब इस प्राचीन शास्त्रीय पद्धतिवाली सगुणोपासना से उस नैराश्य-काल में, जिसकी विकरालता मुसलिम अत्याचारों के कारण बढ़ती ही जाती थी, हिन्दुओं को अधिक सन्तोष होता हुआ नहीं दिखाई दिया, "तब एक ऐसे सामान्य-भक्ति मार्ग की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसे हिन्दू, मुसलमान, छूत, अछूत, ऊँच, नीच सभी अपना सकें । यही आगे चल कर 'निर्गुण-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।... ..बङ्गाल में सब से पहले (वल्लभाचार्य के जामातृ) चैतन्य महाप्रभु ने इस भाव की नीव डाली। इधर महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में नामदेव और रामानन्दजी ने इसी भाव का सूत्रपात किया ।"[५१] चैतन्य, नामदेव और रामानन्द ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच का बन्धन तोड़ने का प्रचार किया । "यद्यपि इन्होंने समय-समय पर मूर्ति-पूजा आदि की नि सारता बताई पर इस देश की हिन्दू जनता में सगुण उपासना का भाव इतना बद्धमूल हो गया था कि खुले आम इसका विरोध करने का साहस कबीर के पहले शायद किसी को नहीं हुआ ।"[५२] अतः सूफियों के अतिरिक्त निर्गुण-पन्थ' के प्रधान-प्रचारक कबीर-पन्थी, नानक-पन्थी और दादू-पन्थी हुए । कबीर का जन्म लगभग सन् १४०० में और मृत्यु लगभग सन् १५२० में हुई । नानक का जन्म सन् १४६९ में और दादू का

५१. 'हिन्दी के कवि और काव्य', भाग २, (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) पृ० ३-४ ।

५२. वही पृ० ५ ।

सन् १५४५ में या उसके लगभग हुआ। कबीर का प्रचार प्रथमत उत्तर-पूर्वी भारत में, नानक का पंजाब में और दादू का राजपूताना में हुआ, क्योंकि वे उक्त-उक्त स्थानों के वासी थे। कबीर की रचनाओं का संकलन 'साखी' और 'रमैनी' नाम के ग्रन्थों में हुआ है, तथा गुरु नानक की रचनाएँ 'आदि-ग्रन्थ' में संकलित की गई हैं, जिस में अन्य महात्माओं के भजनों का भी संकलन है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रैदास (चमार) और सदना (कसाई) भी रामानन्दजी के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। इन पन्थों ने गोरखनाथियों का हठयोग तो नहीं अपनाया, पर उनके आत्मवाद से अवश्य प्रभावित हुए। इन पन्थों का मूल उद्देश्य था—हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक विरोध मिटाकर उनका एकीकरण करना। इस उद्देश्य से प्रेरित हो, उन्होने हिन्दुओं मे प्रचलित अवतारवाद या सगुणोपासना, मूर्ति-पूजा तथा जाति-भेद का विरोध किया और ज्ञान-मार्गियों की भाँति ईश्वर के निर्गुण भाव की प्रतिष्ठा करने के लिए उपदेश दिये। उन्होंने तीर्थो आदि में जाना भी निरर्थक बताया। मन्दिरों-मसजिदों की अनावश्यकता भी बताई। उनके इस प्रचार से, यद्यपि हिन्दू-मुसलमानों का मेल-जोल बढा और मन-मुटाव कुछ कम हुआ, तथापि उससे लोगों की वृत्ति लोककर्म की ओर से उदासीन हो चली। हिन्दुओं के वर्णाश्रम-धर्म को धक्का लगा। किसी भी पन्थ के बन कर निरक्षर या मूर्ख लोग जीवनोपयोगी ज्ञानी बनने की शान दिखाने लगे, मर्यादा भंग होने लगी और धर्मशास्त्रों का पढना-लिखना तथा उनकी बात करना पाप समान लगने लगा। हमारा यह अभिप्राय नही कि कबीर आदि इन महानुभावों की भावनाएँ दूषित थी। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि लौकिक जीवन की दृष्टि से उनकी साधनाएँ दोषपूर्ण सिद्ध हुईं। भक्ति का जो स्वरूप इन लोगों ने प्रस्तुत किया वह अपूर्ण एकांगी और विकृत है। मनुष्य, स्वभाव से सगुण होने के कारण, अपने जीवन में निर्गुण हो ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि "मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिए अपढ जनता को साथ लगानेवाले कई नए-नए पंथ निकल चुके थे, जिनमें एकेश्व-

रवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आंशिक रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था ; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी, जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है।"[५३] एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप वह है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से निर्गुण-सगुण अथवा ज्ञान-कर्म दोनों का यथोचित सामञ्जस्य न रखा जाय। जहाँ यह सामञ्जस्य टूटा, वहाँ धर्म-क्षेत्रीय मर्यादा भंग हुई। इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने वाली विधि का नाम 'भक्ति' है। यदि विधिवत भक्ति नहीं हुई, तो धर्म-व्यवस्था बिगड़ी, और धर्म-व्यवस्था बिगड़ जाने से समाज के अन्य सभी क्षेत्रों में विषमता का विस्तार हो जाता है, जिससे सारा समाज रसातल की ओर खिसकता जाता है। विधिवत् भक्ति से तुलसी का अभिप्राय है, श्रुति-शास्त्र-सम्मत भक्ति, क्यों कि श्रुति-शास्त्र यथार्थ में कर्तव्यनिष्ठ पूर्वजो द्वारा अनुभव की हुई सत्यताओं या विधियों का सार-संग्रह होता है। उपरोक्त विषम परिस्थितियों को देख तुलसी ने जो चिन्ता प्रकट की है, वह संक्षिप्त रूप में यों है—

दो०—"श्रुति संमत हरि भक्तिपथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥"[५४]

इस तरह के कल्पित पन्थवाले वेद-पुराण आदि शुभ ग्रन्थों में कथित भक्ति की विधियों को त्याग, नये प्रचार से उसका निरूपण करते हैं—

दो०—"साखी सबदी दोहरा, कहि कितनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान॥"[५५]

+ + +

५३. तुलसी ग्रन्थावली, खंड ३, पृ० ९९-१००।

५४. मानस, उ० कां० १०० (ख); दोहावली ५५५ (दोहावली में तीसरे पद के स्थान में यह पाठ है 'तेहि परिहरहिं विमोह बस')।

५५. दोहावली ५५४ (पहले पद में कबीर, नानक तथा दादू के पन्थों की ओर, और दूसरे पद में सूफी-पन्थ की ओर संकेत है)।

"सकल धरम विपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुर पुरान सुभ ग्रन्थ॥"[५६]

इस प्रकार के पन्थों के कारण लोगों में अनधिकार-चेष्टा, उद्दण्डता, दम्भ, मोहादि का प्रसार हो रहा था—

दो०—"ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारिनर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागति मोह बस, करहिं विप्र-गुरु-घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रबर, आँखि दिखावहिं डाँटि॥"[५७]

इन पन्थों की ओर लोग क्यों दौड़ने लग गये थे ? इसलिए कि उन्हे सगुण स्वरूप भगवान् के नाना प्रकार के चरित्रों को समझने में कठिनता और निर्गुण स्वरूप को समझने में सरलता की प्रतीति हुई—

दो०—"काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जाननहिं कोई।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥"[५८]

निर्गुण को सुलभ समझ, उस ओर भगदड़ मचने से देश या समाज में जो दुष्परिणाम हो रहे थे, वे इस प्रकार है—

दो०—"करमठ कठमलिया कहें, ज्ञानी ज्ञान विहीन।"[५९]

+ + +

छं०—"जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी-जीवन जानन जान्यो, तौ जान कहावत जान्यो कहा है॥"[६०]

+ + +

---

५६. दोहावली, ५५६।
५७. मानस, उ० कां० ९९ (क) (ख); दोहावली ५५२, ५५३।
५८. वही ७३ (क) (ख)।
५९. वही ९९।
६०. कवितावली, उ० कां० ३९।

"वरन-धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो,
त्रास न चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुवासना विनास्यो, ज्ञान,
वचन, विराग वेष, जगत हरो सो है।।
गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग तें सो केलि ही छरो सो है।।"[६१]

\+ \+ \+

"वेद पुरान विहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न राजसमाज बड़ोई छली है।।
वर्न-विभाग न आश्रम-धर्म दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।।"[६२]

\+ \+ \+

"दम दुर्गम दान दया मख कर्म सुधर्म अधीन सबै धन को।
जप तीरथ साधन जोग विराग सों होइ नहीं दृढ़ता तन को।।
कलि काल कराल में, राम कृपालु ! यहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संजम हीन सबै, इकनाम अधार सदाजन को।।"[६३]

\+ \+ \+

"आगम वेद पुरान बखानत, मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको, ईस कहावत सिद्धि सयाने।।"[६४]

समाज की इस प्रकार की दुर्व्यवस्था को देख कर तुलसीदासजी से नहीं रहा गया, इन निर्गुणियों को आह्वान करते हुए यह बताया कि बिना सगुण उपासना के निर्गुण कहाना असम्भव है। नकारात्मक (negative) भाव और सकारात्मक (Positive) भाव दोनों का जोड़ा है—

---

६१. वही ८४।
६२. वही ८५।
६३. वही ८७।
६४. वही १०५।

दो०—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसी दास।।"
अंक अगुन, आखर सगुन, सामुझि‍ उभय प्रकार।
खोए राखे आपुभल, तुलसी चारु बिचार।।"[६५]

अर्थात्—ऐसा कौन सखी का लाल हो सकता है, [illegible] कहते हैं, जो अज्ञान के अस्तित्व-विना ज्ञान का, तम के अस्त्वि विना प्रकाश का, तथा सगुण के अस्तित्व-विना निर्गुण का प्रतिपादन कर सके। यदि कोई ऐसा समर्थ हो, तो अलवत्ता, तुलसी कहते है—हम उसे 'गुरु' मान लें। यथार्थ बात यह है कि निर्गुण-सगुण का 'अंक-अक्षर' के समान अपरिहार्य जोड़ा है। या तो निर्गुण-सगुण, दोनों गुणों के परे (खोए) हो कर मोक्ष-पद प्राप्त कर संसार मे जन्म ही न लो; या संसार में देह पा कर दोनों निर्गुण सगुण को साथ लेकर (राखे) चलो, तभी भलाई हो सकती है। यही दो प्रकार का विचार, तुलसीदासजी का कथन है, उत्तम विचार है। तात्पर्य यह कि नकारात्मक भाव सकारात्मक भाव के बिना आ ही नहीं सकता।

उपरोक्त अन्तिम दोहे में निर्गुण और सगुण का भाव दर्शाने के लिए अंक और अक्षर की उपमा दी है। किसी अच्छे शब्द-कोश को देखिए, तो आपको 'अंक' का अर्थ 'चिह्न,' 'संकेत' एवं 'रेखा' मिलता है।[६६] रेखा-गणित का हर विद्यार्थी इस बात को भली-भाँति जानता है कि 'विन्दु' या 'रेखा' दोनों कल्पनात्मक निराकार स्वरूप, संकेत-मात्र होते हैं। अर्थात्—यथार्थत उनकी लम्बाई-चौड़ाई, रूप-आकार आदि कुछ नहीं होते। किसी पदार्थ के समझने या चित्रण करने में हमें उनकी कल्पना करनी पड़ती है। यही भाव 'निर्गुण' शब्द में निहित है, जिसे शास्त्रों में 'अशून्यं शून्य कल्पितम्' कहा है, जैसा हम पूर्व में कह आये है। इसके विपरीत 'आखर' अर्थात् अक्षर का रूप (form) होता है; इसलिए उसे सगुण की उपमा दी है। सारांश

६५. दोहावली, २५०–२५१।

६६. चतु० द्वारकाप्रसाद कृत 'शब्दार्थ-पारिजात'।

यह है कि जहाँ तक देह है वहाँ तक त्रिगुणात्मक रूप का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। गुणों के परे पहुँचे कि ब्रह्मस्वरूप हुए, जैसा कि गीता में कहा है—

"गुणेभ्यश्च परंवेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति"[६७]

यदि तुलसी के इस अभिप्राय की ओर अधिक स्पष्ट रूप से जानना हो, तो पाठक दोहावली की क्रम-संख्या १०, २००, ३६५ तथा ३६६ को, विशेषकर २०० वें दोहे को, अवश्य पढ़ें और समझें। २०० वाँ दोहा यह है—

"माया जीव सुभाव गुन, काल करम महदादि।
ईस-अंक ते बढ़त सब, ईस-अंक बिनु बादि॥"

(६) साहित्य-पद्धति

साहित्यज्ञों ने साहित्य की दृष्टि से तुलसी-साहित्य के एक-एक कोने को खूब बारीकी से छान-बीन डाला है, और अब प्राय. एक स्वर से यह निश्चय कर लिया है कि तुलसी हिन्दी-साहित्य—विशेषकर हिन्दी-काव्य—के अद्वितीय सम्राट् हैं। एक समय ऐसा था जब लोग सूरदास की कविता को तुलसी की कविता से उच्च कोटि की मानते थे, और इसलिए 'सूर सूर तुलसी ससी, **उडगन केशवदास**' वाले दोहे की रचना हुई। इसके पश्चात् दूसरा समय आया, जब साहित्य-परीक्षकों का विचार-परिवर्तन हुआ। उस समय उन्होंने यह निर्णय किया कि यद्यपि सूरदास का काव्य अधिक आनन्दप्रद और माधुर्ययुक्त है, तथापि तुलसी के काव्य में उससे अधिक नैसर्गिक उदात्त लक्षण (inherent nobility of character) विद्यमान है।[६८] परन्तु साहित्यज्ञों की आलोचनात्मक दृष्टि यही स्थिर होकर नही रह गई। उन्होंने देखा कि कवि की सच्ची परख करने के लिए न केवल उसके साहित्य का निरीक्षण किया जाय, वरन् यह भी देखा जाय

---

६७. गीता १४।१९।

६८. इम्पीरियल गजेटियर, भाग २, (सन् १९०९), पृ० ४२३।

कि उसका हृदय कितना विशाल है तथा उसकी भावुकता कितनी मर्म-स्पर्शी और व्यापक है। इस पर ध्यान जाने से साहित्य-पारखियों की विचारधारा ने फिर एक बार पलटा खाया, और गांधी-जैसे महात्माओं ने यह निश्चय किया कि तुलसीकृत रामायण "निश्चय ही आत्मानुभव की खान (a veritable mine of spiritual experience)[६९] है।" परन्तु मानस को आत्मानुभव की खान मात्र कहने से तुलसी को सम्मान का वह उच्चतम शिखर नही मिला, जिस पर अन्य द्रष्टाओं ने उन्हें ले जाकर बैठाया है। यह हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने किया। उन्होंने लिखा है कि "हमसे यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय भारती-कंठ भक्त-चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास।"[७०] शुक्ल-जी का यह निदान प्रतिदिन अन्यान्य नवीन आलोचकों के द्वारा सम्पुटित होता चला आ रहा है, और 'सूर सूर तुलसी ससी' के स्थान में सूरदास ही के मुखारविन्द से यह कहलाया जा रहा है कि उन्होंने अकबर बादशाह के पूछने पर उसके दरबार में यह कहा था कि "गोस्वामीजी की कविता तो कविता है ही नही, मै तो उसे **सर्वोत्तम महामन्त्र** मानता हूँ।"[७१]

जिस कविता में लोकोत्थानकारी सन्देश हो, वही महामन्त्र कही जाने की अधिकारिणी बन सकती है। उस सन्देश के लोकोपकारी स्वरूप की परख करने के लिए हमें तुलसी-साहित्य को मानव-जीवन के एक समीक्षक की आँखों से देखना होगा, न कि अलङ्कार-रस आदि में गोते लगाने वाले

---

६९. **यंग इण्डिया** (Young India) का अंक, ता० ३१-१०-१९२९।

७०. **तुलसी ग्रन्थावली**, (खं० ३), पृ० २४१।

७१. **मासिक पत्र 'कल्याण' (गोरखपुर)** का 'संत कथा अंक', पृ० २७०।. (**नोट—सम्भव है कि यह कोरी कल्पना हो, परन्तु उससे तुलसी-विषयक महत्ता अवश्य प्रकट होती है।)—लेखक**

साहित्य-परीक्षक की दृष्टि से। हमारा ध्यान केवल दो बातों पर रहना चाहिए। एक तो यह कि तुलसी का आदर्श क्या है, और दूसरे उस आदर्श को जनता में पहुँचाने के लिए उनका माध्यम क्या है। क्रान्तिकारी अथवा समाज-सेवक ऐसा आदर्श ढूँढता है, जो सर्व-जन-हितकारी हो, और वह माध्यम भी ऐसा पकड़ता है, जो अधिक-से-अधिक व्यापक, मधुर और सुगम हो। तुलसी ने जिस आदर्श को चुना है उसकी व्यापकता के विषय में तो आगे ही कहा जा सकेगा। यहाँ केवल उनके माध्यम के बारे में जानना आवश्यक है। हिंदी भाषा उनका माध्यम है; इसलिए उस समय, जब उन्होंने इस लोकोपकारी कर्म-क्षेत्र में कदम रखना चाहा, तब भारत-वर्ष में हिन्दी-साहित्य की गति-विधि क्या थी, यह संक्षेप में जान लेना आवश्यक है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि वे उससे प्रभावित हुए या नहीं, और हुए तो किस प्रकार और कितने।

जब संसार अनादि है, तब कहा ही नहीं जा सकता कि आदि-काल में भारत देश में कौन-कौन-सी भाषाएँ कहाँ-कहाँ बोली जाती थीं; परन्तु विद्वान् लोगों ने वैदिक काल से प्रारम्भ कर तत्सम्बन्धी अनुसन्धान किये हैं। इन अनु-सन्धानों के अनुसार भारतीयों का प्रथम साहित्य संस्कृत था, जो सर्व-सम्मति से उस काल के एवं उसके सहस्राब्दियों पश्चात् के अन्य देशीय साहित्यों में उच्चतम कोटि का स्वीकार किया जाता है। परन्तु, सांसारिक वस्तुएँ काल-चक्र-वश परिवर्तनशील है; इसलिए इस प्राकृतिक नियम के अनुसार संस्कृत भाषा का रूप भी क्रमश: परिवर्तित होता गया, और भारत वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में उसके भिन्न-भिन्न विकृत रूप प्रकट होने लगे। पहले-पहल ये रूप, जैसा कि सदैव होता है, बोली की भाषा में प्रकट हुए और फिर इस बोली की भाषा के आधार पर लिखित भाषा में प्रकट हुए। इन दोनों प्रकार से प्रकट हुए स्वरूपों को साहित्य-विज्ञ 'प्राकृत' भाषा कहते है; परन्तु प्रथम प्रकार का प्राकृत-भाषा-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; इसलिए साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत के दो विभाग कर लिये। वे बोली वाली भाषा को 'प्राकृत' और लिखित को 'अपभ्रंश' अथवा 'देशी भाषा'

कहते है। यह दूसरा स्वरूप हमें सातवी शताब्दी के कुछ बौद्ध-साहित्य में और फिर बाद में कुछ जैन-साहित्य मे मिलता है। इस तरह अपभ्रंश नाम्नी प्राकृति के रूप ही आगे चल कर विकसित (विकृत) होते हुए भारत के किसी भाग में मराठी किसी में बँगला, किसी में गुजराती, किसी में उड़िया और किसी में हिन्दी भाषा इत्यादि कहाये। भारतवर्ष के धर्म-विषयक साहित्य की एक विशिष्टता यह है कि वह अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य प्रधान रहा है ; इसलिए हम देखते है। कि धर्मविषयक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ पद्यात्मक है। इसी तरह बौद्ध सिद्धों ने अपने मत को गीतों के रूप में प्रकट किया, तथा जैन-मतावलम्बियो ने "चरित-काव्य या आख्यान-काव्य" के लिए चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की।[७२] तदनन्तर ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में गोरख-पन्थियों का काल आया। उन्होंने भी अपनी योग-सम्बन्धी साधनाओं या मत का प्रचार प्रमुखतः तत्कालीन काव्य के ही रूप में किया। इस काल में हिन्दी-काव्य की गति को बढानेवालों में चारण या भाटों की प्रधानता रही। ये लोग अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अनेक प्रसंगों को लेकर कवित्तों या छप्पयों में रचनाएँ रचकर सुनाया करते थे। इन लोगों के छन्द बहुधा वीररस वाले होते थे और वे स्फुट-स्फुट विषयों पर रचे जाते थे ; परन्तु कुछ लोगों ने उसी तर्ज की कविताओं में कुछ प्रबन्ध-काव्य की भी रचनाएँ की, जिनमें से 'वीसल देव रासो' और चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'पृथ्वीराज रासो' बारहवी शताब्दी के अन्त में तत्कालीन बोली की ब्रजभाषा में रचा गया था, जब कि 'शौरसेनी प्राकृत' का प्रभाव साहित्य-क्षेत्र से पूरी तरह से नहीं हट पाया था। वीर-गाथा-काल के अनन्तर १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्दियों का युग शुरू हुआ और फिर उनके शिष्य निर्गुण-पन्थ वालों का समय आया। इन्होंने ने भी काव्य के रूप में अपने मतों का प्रचार किया। इनका साहित्य-भाण्डार विपुल था और उसका प्रभाव-क्षेत्र भी काफी विस्तृत

---

७२. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० ३८३।

हुआ। इनका साहित्य सन्त-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। सन्त-साहित्य में कबीर-पन्थियों, नानक-पन्थियों एवं दादू-पन्थियों के नाम साधारणतया सब को प्रकट है। इन पन्थों की शाखाओं-प्रशाखाओं का प्रभाव उत्तर भारत, राजस्थान, पंजाब तथा गुजरात तक फैल चुका था। इनके अनुयायी अधिकतर अनपढ वा कम पढ़े-लिखे लोग थे। इनके प्रवर्तक भी कम शिक्षित थे ; पर वे उच्च कोटि के साधक या विचारक अवश्य थे। उनकी कविताएँ सरल दोहों में होती थीं। कहीं-कहीं रागों में कहे हुए पद भी मिलते है। उनका ध्यान केवल यह रहता था कि जन-साधारण उनके भावों को समझ ले, भाषा-दोष या कविता-दोष रहे, तो भले ही रहें। उपरोक्त कारणों से हमें उनकी रचनाओं में साहित्यिक अशुद्धियाँ, काव्य-त्रुटियाँ तथा भाषीय प्रान्तीयता विशेष रूप से मिलती है। सन्त-साहित्य के समकालीन सूफी मत-वालों ने तथा अकबर बादशाह के कतिपय दरबारी रहीम आदि ने एवं सूर-दासादि कृष्णोपासकों ने भी हिन्दी-काव्य को उन्नत करने एवं हिन्दी-साहित्य का भारतवर्ष के विभिन्न भागों में प्रसार करने में बड़ा बल और योग दिया। इधर सूफियों ने दोहा-चौपाइयों की तथा रहीम ने दोहा वा बरवै छन्द की शैली स्वीकार की। तो उधर कृष्ण की बाल-लीला-सम्बन्धी भक्तिपूर्ण सूरदास के भजनीक पदों की प्रसिद्ध शैली किसी से छिपी नहीं है। उन पदों में एक ओर तो साहित्यिक शुद्धता और आनन्दप्रद माधुर्य मिलता है, और दूसरी ओर उनसे सगुणोपासना की प्रवृत्ति जाग्रत होती है, जो निर्गुणी सन्तों के निर्गुण मत को ठेस पहुँचाती है। इस तरह तुलसी-काल तक भारतवर्ष का मूल साहित्य तथा संस्कृत भाषा साधारणतया निस्तेज, निश्चेष्ट तथा निष्प्राण हो चुकी थी। यदि वह कुछ टिमटिमाती थी, तो वह केवल कुछेक उदरार्थी कथावाचकों या पुरोहित-पुजारियों की वाणी में, एवं धनी-मानियों के आश्रितों की लेखनी में सिकुड़ कर रह गया था। एक ओर संस्कृत-साहित्य के मिटने की क्रिया प्रारम्भ थी, तो दूसरी ओर उसका आश्रय लेकर विविध देशी भाषाएँ पनप रही थीं। उन सब में हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत था, अर्थात् भारतवर्ष के अधिक भाग में उसी का प्रसार था, हालाँकि

सभी भागों में उसका स्वरूप एक-सा संगठित नही था । इस दृष्टि से वह संस्कृत के स्थान में भारतवर्ष की भाषा कहलाने की अधिकारिणी बनती जा रही थी ; परन्तु उसके मार्ग में रोड़े अटकानेवाली एक बाधा उठ रही थी, जो हमारी समझ में, तुलसी की सूक्ष्म-तीक्ष्ण दृष्टि में आये बिना नही रही होगी । वह थी 'उर्दू' । मुसलमानों के आगमन के साथ उनकी भाषाओं अरबी, ईरानी वा तुर्की का भी भारत में प्रवेश सातवी शताब्दी में प्राय उसी समय हुआ, जब बौद्ध साहित्य में प्राकृत (देशी भाषा) अंकुरित हो रही थी । राज्य-सत्ता मुसलमानों के हाथ में थी ही, इसलिए उनकी उक्त भाषाओं को प्रोत्साहन मिला तथा संस्कृत का तिरस्कार होता गया ; परन्तु राजगद्दी पर मुसलिम शासकों के वंशों के बदलते रहने के कारण अरबी और तुर्की पीछे रह गई और मुगल-काल के प्रारम्भ होने तक ईरानी (फारसी) भाषा ही टिकी रही । इसी बीच में इन विदेशी भाषाओ का देशी भाषाओं से टकराना चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप विदेशी भाषाओं, विशेषकर फारसी भाषा के आश्रय को लेकर कुछ लोगों ने एक नवीन भाषा का सृजन करना प्रारम्भ किया । यह नई भाषा वही है जिसे उर्दू कहते हैं । जैसा पहले कहा जा चुका है, हर भाषा का प्रथम स्वरूप बोली के रूप में प्रकट होता है । इसी तरह उर्दू ने अपना स्वरूप बनाना प्रारम्भ किया और क्रमश अंकित होने लगी, यहाँ तक कि वह कविता के रूप में सोलहवी शताब्दी के अन्त में दक्षिण भारत में पूर्ण रूप से प्रारम्भिक सिर उठाकर घूरने लगी ।[७३] बाद में वह बादशाही राजधानी एवं उत्तर भारत की ओर बढ़ती चली । चूँकि साम्राज्य मुसलमानों का था, इसलिए तुलसी-जैसे सूक्ष्म-द्रष्टा के मन में यह भय उत्पन्न हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं कि कही ऐसा न हो कि वह राज्य-शासकों की लाड़ली बन देश-भाषा हिन्दी को समय पाकर निगल बैठे। तुलसी के बाद का इतिहास तुलसी की इस सूक्ष्म-दर्शिता का प्रमाण कहा जा सकता है । तुलसी-रामायण यदि घर-घर न

---

७३. इम्पीरियल गजेटियर, भाग २, पृ० ४२९ ।

पहुँचती तो कदाचित् सन् १९४७ में भारत-विभाजन के समय हमारे हाथ में उर्दू ही रह जाती।

जब देशी और विदेशी भाषाओं का साथ-साथ भारत में संचालन हुआ, तब यह स्वाभाविकतया हिन्दी भाषा में कुछ शब्द विदेशी भाषाओं के भी आते गये। इस तरह तुलसी के समय हिन्दी में बहुत-से अरबी, तुर्की और फारसी के शब्द आ गये थे, जिसके कारण तुलसी की रचनाओं में हमें अनेक स्थानों पर उनका प्रयोग किया गया मिलता है। तुलसीदासजी ने कहीं-कहीं इस प्रकार के शब्दों के रूपों को अपने हिन्दी-व्याकरण तथा अपने हिन्दी-काव्य के अनुरूप बनाने के अभिप्राय से विभक्तियाँ-प्रत्यय आदि जोड़ कर आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया है, जैसे 'रजा' से 'रजाई' अथवा 'सरीक' से 'सरीकता' इत्यादि। उन्होंने कहीं-कहीं पर इन विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो सामान्यतः प्रचलित नहीं थे; जैसे—अरबी का 'हबूब' (पानी का बुलबुला=जन चर्चा), फारसी का 'सालिम' (पराक्रमी), तथा तुर्की का 'बैरख' (झंडा) आदि।[७४] इससे यह प्रतीत होता है कि उन्हें स्वयं विदेशी भाषाओं का अध्ययन या ज्ञान था। एक विद्वान् समाज-सुधारक के लिए अपनी भाषा के अतिरिक्त देश में प्रचलित अन्य भाषाओं—विशेष कर राज-भाषाओं—का जानना आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता। जब मुसलमान संस्कृत और हिन्दी को सीखते थे, तब तुलसी ने भी अरबी और फारसी को सीखने में कसर न रखी होगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

इसलिए सारांश यह है कि जिस समय तुलसी ने लोकोपकारी कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करना चाहा, उस समय उन्हें हिन्दी ही एक ऐसी भाषा दिखी, जो भारत के अधिक भागों में पढ़ी-लिखी जाती थी। यद्यपि उसके रूप

---

७४. अरबी और फारसी भाषाओं के जिन प्रचलित या अप्रचलित शब्दों का प्रयोग तुलसीदासजी ने किया है, उनका एक खासा संग्रह डा० दीक्षित की पुस्तक 'तुलसीदास और उनका युग' के दसवें परिच्छेद में दिया है।

(Form) में सर्वत्र समानता नही थी और उसमें प्रान्तीयता के चिह्न बहुतायत से लक्षित थे, तथापि भाषा के आधार पर एक देशीयता अथवा राष्ट्रीयता लाने वाले अंकुर तुलसी को उसी में दिखे। उन्होंने 'अर्द्ध मागधी प्राकृत' से विकसित 'अवधी भाषा' को, तथा 'शौरसेनी प्राकृत' से विकसित 'ब्रजभाषा' को ही उनकी मधुरता और प्रभाव-क्षेत्र की विस्तीर्णता को देख कर अपना माध्यम बनाया। अवधी भाषा का प्रयोग उन्होने प्रबन्ध-काव्य रामचरित-मानस तथा बरवै रामायण की रचना में किया, और ब्रजभाषा का प्रयोग मुक्तक काव्यवाले कवितावली आदि अन्य ग्रन्थों में किया। एक ओर यदि तत्कालीन हिन्दी-साहित्य (हिन्दी-काव्य) के रूप में असमानता, एकांगीपन तथा छन्द-शास्त्रीय उल्लंघन विद्यमान था, तो दूसरी ओर उसमें विहित कर्तव्यनिष्ठता भी पंगु थी। किसी काल में किसी अंग-विशेष पर ध्यान रखा, तो किसी दूसरे काल में किसी दूसरे अंग पर। बौद्ध और जैनियों ने अपने साहित्य को अहिंसा की प्रधानता से भरा, तो वीर गायकों ने जोश भरी तलवारों की प्रधानता दिखाई। रामानन्दियों ने निर्गुण को दबी जबान से कह कर सगुण-स्वरूप रामावतार की उपासना के द्वारा विषयासक्त व्यक्ति को सुख-शान्ति का मार्ग दिखाया, तो उन्हीं के शिष्य कबीर, दादू आदि ने निर्गुण-पन्थ का बिगुल बजा कर सगुणोपासना को दबा दिया। वैयक्तिक सुख और एकांगी साधना की शिक्षा देनेवाले इस साहित्य में तुलसी को ऐसा लोककल्याणकारी आदर्श नहीं दिखा, जिसके अनुकरण से मनुष्य मानव-समाज में शास्त्रानुकूल मर्यादाओं के भीतर रहकर कर्म करता हुआ नारायण रूप हो सके; अत. तुलसी अपने निकटस्थ; न कि प्राचीनस्थ, पूर्ववर्ती तथा समकालीन साहित्य में, भाषा और विषय, दोनों दृष्टियों से सन्तोष नहीं पा सके। यद्यपि उन्होंने उसी अवधी और उसी ब्रजभाषा का प्रयोग किया, तथा उन्हीं कवित्त-छप्पय-दोहा-चौपाई-पदोंवाली शैलियों को अपनाया, जिनका प्रयोग उन्हें उस साहित्य में मिला था, तथापि उन्हें यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि एक ओर तो उनका मार्जन किया जाय, और दूसरी ओर लोकरंजनकारी आदर्श का चरित्र-चित्रण किया जाय। बस, यही प्रभाव

तुलसी पर तत्कालीन साहित्य का पड़ा। तुलसी के तत्सम्बन्धी कथन अनेक स्थानों पर मिलते है, जिनमें से कुछ तो स्पष्ट है और कुछ अस्पष्ट। स्पष्ट कथनों में से 'साखी सबदी दोहरा' आदि द्वारा व्यक्त किये गये कुछ कथनों का उद्धरण हम पिछले पृष्ठों पर 'धार्मिक पद्धति' के अन्तर्गत कर चुके है। अब यहाँ पर विनय-पत्रिका से लेकर एक ऐसा भजन प्रस्तुत करते हैं, जिसमें प्रतीति तो यह होती है कि मानो तुलसीदासजी अपनी व्यक्तिगत व्यथा का प्रदर्शन कर रहे हों, परन्तु यथार्थतः उसमें तत्कालीन विचार-धारा के प्रति-जिसका प्रतीक तत्कालीन साहित्य था, व्यंग्य-पूर्ण चिन्ता व्यक्त की गई है, अर्थात् उसमें आत्माभिव्यंजना के बहाने लोकाभिव्यंजना मिलती है। उसका अर्थ करते समय पाठक तुलसी के त्रिभावात्मक राम को, जिसके विषय में हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं, न भूलें, और न यह ही भूले कि उस भजन में 'आखर' शब्द 'सगुण' का पर्यायवाची है, जैसा कि 'अंक अगुन आखर सगुन' वाले दोहे से स्पष्ट है। वह भजन इस प्रकार है—

"रघुवरहिं कबहुँ मन लागि है?
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागि है?
जानत गरल अमिय विमोह बस, अमिय गनत करि आगि है।।
उलटी रीति प्रीति अपने की, तजि प्रभु पद अनुरागि है।
आखर अरथ मंजु मृदु मोदक, राम-प्रेम-पाग पागि है।।
ऐसे गुन गाइ रिझाइ स्वामि सों, पाइ हैं जो मुँह मागि है।
तू यहि विधि सुख-सयन सोइ है, जिय की जरनि भूरिभागि है।।"[७५]

सामाजिक जीवन का, सुख-प्राप्ति का जो लक्ष्य है, वह इस भजन की अन्तिम पंक्ति में व्यक्त किया गया है और उसकी साधना का निर्देश पाँचवीं पंक्ति में दिया है। उसमें 'मोदक' की जो उपमा दी है, वह बड़ी सुन्दर और अर्थ-गर्भित है। 'मृदु' शब्द 'मृद्' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ है 'पीस

---

७५. विनय-पत्रिका, २२४।

कर या कुचल कर महीन करना'। जब कोई वैद्य किसी रोग की निवृत्ति के लिए कोई मोदक बनाता है, तब वह आवश्यक वस्तुओं को खूब घुटवाता है; क्योंकि अणु जितने बारीक किये जाते हैं, उतने ही अधिक वे शक्तिवर्धक या गुणप्रद होते है। इस तरह 'मृदु' शब्द 'मथन' का द्योतक है। अत: उक्त पंक्ति का यह अर्थ हुआ कि जब सृष्टि और उसके अभिप्राय या मर्म का खूब मथन कर लिया जाय, और फिर उसमें 'जड़ चेतन जग जीव युत' रूपी राम के प्रेम की भावना दी जाय, तभी मानव-जीवन मंजु तथा मानव-समाज सुखी हो सकता है। गरज यह है कि सगुण यानी सृष्टिवाद (materialism) की उपेक्षा करना, जैसा कि सन्त-साहित्य प्रचार कर रहा था, उतना ही अहितकर है, जितना कि सगुणोपासना के समक्ष निर्गुणता की उपेक्षा करना, जैसा कि रामानन्द-साहित्य में की गई है। तुलसी ने निरुपाधि स्वरूप ब्रह्म से ले कर सोपाधि स्वरूप समस्त सृष्टि पर्यन्त को एक अटूट जल-प्रपात-जैसा माना है, जैसा कि वह सनातन से माना जाता रहा था। इसी तरह सनातन से 'पुरुषार्थ' का महत्त्व माना गया है। इसीलिए उक्त भजन की पाँचवीं पंक्ति में 'आखर' और 'अरथ' के योग से 'मोदक' बनाना कहा है, अर्थात् जब लोक (आखर) में पुरुषार्थ (अरथ) का संयोग किया जाता है, तभी सुख प्राप्त होता है, क्यों कि बिना पुरुषार्थ के न तो स्वार्थ साधा जा सकता, न परमार्थ। यों तो लोक अनेक अर्थवाची है; पर इन समस्त अर्थो का समावेश स्वार्थ और परमार्थ, इन दो विभागों के अन्तर्गत कर लिया जाता है, और इन दोनों के अर्थो का मूल है—पुरुषार्थ। अत तुलसीदास-जी ने कहा है—

"पुरुषारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी, सुमरत सीता राम॥"[७६]

सीताराम के स्मरण करने से सिद्धियाँ या चारों फल प्राप्त हो सकते है, क्यों कि स्मरण करने वाले का लक्षण अनुकरण करना अवश्यंभावी होता

७६. दोहावली, ५७०।

है; परन्तु जो सीताराम से स्नेह पाल कर पुरुषार्थ करता है, उसे न तो स्वार्थ-सिद्धि से मतलब और न परमार्थ-सिद्धि से। उसे तो निस्स्वार्थ होकर केवल कर्तव्य परायणता में लगे रहने ही में आनन्द आता है, जिसके विषय में तुलसीदासजी ने यह कहा है—

"स्वारथ-परमारथ-रहित, सीताराम - सनेह।
तुलसी सो फल-चारिको, फल हमार मत येह॥"[७७]

जिस राम का स्मरण या जिस राम से स्नेह करने को तुलसी ने कहा है वह वही राम है, जिसकी राज-शक्ति सर्व लोकों में व्याप्त है, जिसके गुणानुवाद वेद-पुराणादि शास्त्र करते है, जैसा कि तुलसी के निम्न कथन में व्यक्त है—

"वेदहू पुरान कही, लोकहू विलोकियत,
रामनाम ही सों रीझे सकल भलाई है।

× × ×

रामराज सुनियत राजनीति की अवधि,
नाम-राम ! रावरो तो चाम की चलाई है॥"[७८]

अत: तुलसीदासजी उस सनातन आर्य-संस्कृति के अनुपालक हैं, जो पदार्थवाद (materialism) और ब्रह्मवाद (spiritualism) अथवा सगुण या निर्गुण के अभिन्न सम्बन्ध को अपनाती है और यह भी कहती

---

७७. वही ६०।

७८. कवितावली ७४ (नोट—जिस तरह उत्तम नीति और साख वाले राजा के राज्य में उसकी छाप लगाने या नाम लिख जाने से चमड़े का सिक्का भी बड़े मजे से चलता रहता है, जैसे आजकल कागज के नोट चलते हैं, उसी प्रकार यह चर्म रूप शरीर, उस पर रामांकन हो जाने पर, मूल्य-वान और सम्मानित बन जाता है, क्योंकि राम की नीति और साख ऐसी ही है।)

है कि इस अभिन्नता को स्थापित तथा स्थिर बनाये रखनेवाली दिव्य-शक्तियाँ ही होती है, जिन्हें देव-संज्ञा दी गई है। परन्तु ब्रह्मस्वरूप, देवस्वरूप तथा भौतिक (पार्थिव) स्वरूप के समन्वय को हर मनुष्य अपने बुद्धि-बल से पाने में असमर्थ होता है ; इसलिए उसके दर्शन कराने के लिए कोई-न-कोई गुरु अवश्य होना चाहिए। इस शास्त्रीय विधान का प्रयोग जीवन में नहीं हो रहा था, यह तुलसी ने तत्कालीन साहित्य में तथा प्रत्यक्षत देखा। इसलिए उन्होंने चिन्तित हो कर लिखा—

"धातुवाद निरूपाधि वर, सुसद्गुरु-लाभ सुमीत।
देव-दरस कलि काल में, पोथिन दुरे सुभीत॥"[७९]

समाज को यह दशा देखकर तुलसी के मन में प्रेरणा उठी कि वे विरति-विवेक-युक्त उस हरि-भक्ति का (श्रुति-संगति हरि-भक्ति-पथ, संजुत विरति विवेक) निस्पादन करें, जो महर्षियों की अनुभूति-स्वरूप होकर वेद-शास्त्रों में सम्मान प्राप्त कर चुकी थी ; परन्तु यह विचार आते ही उन्होंने सोचा कि नव-भक्ति-पथ-निरूपकों के कारण 'कुपथ-कुतर्क-कुचाल-कपट-दंभ पाखंड'[८०] का प्रचार इतना अधिक बढ गया है, मानों असाढ़ मास के पश्चात् सावन-भादों मास की वर्षा चल रही हो। प्रारम्भ काल में ही यदि विद्वान् लोग चाहते, तो उसकी गति अवरुद्ध हो जाती ; परन्तु किसी ने ऐसा नहीं किया। इसी विचार-प्रवाह के समय, प्रतीत होता है, तुलसी ने यह दोहा लिखा होगा—

"तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन सुमौन।
अब तो दादुर बोलि हैं, हमें पूछि है कौन?"[८१]

---

७९. दोहावली ५५७ ; (नोट—धातुवाद यथार्थवाद ; उपाधियों के चार भेद होते हैं—यथा ; जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा इन चारों से जो रहित हो वह 'निरुपाधि' कहाता है।

८०. वही ५६५।

८१. वही ५६४।

तुलसी के मन में इस भाव का आना स्वाभाविक था, क्यों कि जन-साधारण में 'भेड़िया-धसान' वृत्ति का होना सभी जानते हैं। एक बार यदि मनुष्य पर 'वाह-वाह' की छाप लगी, तो उसे मिटाना बड़ा कठिन होता है, जैसा कि निम्न दोहे में तुलसी ने प्रकट किया है—

> **"तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़-जनता-सनमान।**
> **उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।"**[८२]

निष्कर्ष

अब यदि एक बारगी फिर से उपरोक्त विवरण पर चलती नजर डाल ली जाय, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदासजी की वृत्ति धार्मिक थी। उनकी इस धर्म-वृत्ति में साम्प्रदायिकता, और अकर्मण्यता को स्थान नहीं था। शास्त्र एवं परम्परा से निश्चित की हुई मर्यादाओं या सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए लोक-कर्म करना ही उनकी धर्मवृत्ति का द्योतक था। इस प्रकार के लोक-कर्मों में रत अनेक धार्मिक पुरुषों या नारियों के आदर्श उन्हें भारत के वेद-पुराणादि प्राचीन साहित्य में पढ़ने को मिले। इस प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में भी कुछ बौद्ध तथा अन्य राजाओं के प्रशंसनीय कर्म-धर्म उन्हें दिखे। परन्तु, मुसलिम-काल के इतिहास में समाज की जो अव्यवस्थित दशा देखने में आई, उससे रोमाञ्च खड़े हुए। पुस्तक या वार्ता-ज्ञान के अतिरिक्त तुलसी को स्वयं मुसलिम-कालीन दुर्व्यवस्था का अनुभव हुआ। उन्होंने सारे समाज को तितर-बितर पाया। जहाँ जिस क्षेत्र में दृष्टिपात किया, वहीं उस क्षेत्र में मर्यादा-भंग का नंगा दृश्य देखने को मिला। राजकीय क्षेत्र में राज-गद्दियों एवं राज्याधिकारों के लिए पिता-पुत्र तथा भाई-भाई तक परस्पर शस्त्र चलाते, एक दूसरे को बन्दी बनाते तथा एक दूसरे की हत्या कर डालते थे। राजा-प्रजा और प्रजा-प्रजा के बीच भी बड़ी गहरी खाइयाँ देखीं। राजा-प्रजा का पिता-

---

८२. वही ४९५।

पुत्र जैसा, तथा प्रजा-प्रजा का भाई-भाई जैसा सम्बन्ध न हो कर हिन्दू-मुसलमान दो विरोधी जातियों के रूप देखे-माने जाते थे। दोनों के बीच वैमनस्य चल रहा था। हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं तथा सामाजिक जीवनचर्या पर मुसलमान राजाओ या प्रजाओं द्वारा कुठाराघात किया जा रहा था। इससे राजनीतिक क्षेत्र में अनैतिकता और अशान्ति के बादल छाये हुए थे। उधर अकबर की विमोहिनी राजनीति धर्मशीलता की चादर ओढ़े हुए हिन्दुओं को कायर, भयभीत तथा स्वार्थरत बनाती हुई, एवं नारी-वर्ग की परम्परा से रक्षित धर्मपरायण मर्यादा को भंग कर सात्विक हृदयों पर हथौड़ा-जैसा आघात कर रही थी। राजनीतिक क्षेत्र के अतिशय दूषित होने के कारण आर्थिक व्यवस्था भी इतनी बिगड़ी हुई थी कि धनी-मानी लोग शास्त्रों में विहित दान-धर्म आदि की मर्यादाओं को तिनके के समान तोड़ते हुए गरीबों की ओर कोई लक्ष्य नहीं रखते थे। द्रव्य-दृष्टि से निम्न-वर्गीय लोगों की दशा यहाँ तक शोचनीय हो रही थी कि उन्हें अपने बेटा-बेटियों तक को बेच डालना पड़ता था। समाज-व्यवस्था की दुर्दशा का तो पूछना ही क्या है ? न तो कौटुम्बिक स्नेह था, न वर्ण-व्यवस्था थी, और न जीवनचर्या को यथा विधि धर्म-कर्ममय बनानेवाले चार आश्रमों का ठिकाना था। वर्णों के स्थान में सैकड़ों जातियाँ बिलबिला रही थीं, तथा स्पर्शास्पर्श की जटिल समस्या नेत्र फाड़ कर हिन्दू जाति को घूर रही थी। उधर मुस-लिम जाति में ऐक्य तो था, पर वह मद्य-पान, नारी-विलास और कंचन-मोह में फँस कर रसातल की ओर खिसक रही थी। धर्म-क्षेत्र की तो सब से अधिक अद्भुत स्थिति थी। धर्म, धर्म था ही नहीं। उस की तह में थी भयंकर साम्प्रदायिकता और घोर आडम्बर। मुसलमान छल-बल-कल-लोभ से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में लगे थे, और हिन्दू अपनी दकियानूसी छुआछूत की धुन में मस्त थे। शिक्षा का जो उच्च उद्देश्य है, वह तो मानो रात का स्वप्न हो रहा था। गुरु-शिष्य का यथार्थ सम्बन्ध भुलाया जा चुका था। उत्तम धार्मिक या नैतिक शिक्षा की ओर न तो राज्य का लक्ष्य था और न जन-समाज का। जो कुछ शिक्षा दी जाती थी, वह अधिकतर पेटार्थी

रहती थी और छोटे-छोटे मदरसों में मिलती थी। रही बात साहित्य की, सो जैसा समाज था, वैसा ही उसका प्रतिबिम्ब साहित्य पर पड़ रहा था। संस्कृत के अपभ्रंश से हिन्दी-साहित्य का उद्भव यद्यपि पर्याप्त रूप से हो चुका था, तथापि उसको अब भी सम्हालने की आवश्यकता थी। उसमें प्रान्तीयता थी, एक देशीयता नहीं ; उसके काव्य में छन्दशास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन था तथा उसका विषय एकांगी था, पूर्णाङ्गी नहीं, अर्थात् उसमे सर्वाङ्गीण लोक-कर्मण्यता का आदर्श नहीं था। उसकी वृद्धि के मार्ग में फारसी से उत्पन्न एक प्रतिस्पर्धी उर्दू नाम की भाषा भी बड़ी तेजी से उठ रही थी। इन्हीं सब का मुकाबला करने के लिए तुलसी की कलम चली, रहन-सहन सीधा-सच्चा बना और चारों ओर दौड़-धूप लगाकर जन-जागृति करने में कसर नहीं रखी।

: ९ :

तुलसी की क्रान्ति-योजना

(प्रथम खण्ड)

क्रान्ति का उद्देश्य और आदर्श

क्रान्ति-विषयक प्रवेश

प्रथम अध्याय का हमने यह कहकर प्रारम्भ किया था कि तुलसी हमारी दृष्टि में एक महाकवि, महासन्त थे और क्रान्तिकारी महापुरुष भी। हमने यह भी कहा था कि उनके महाकवि होने में कोई मत-भेद नहीं है, परन्तु उनके महासन्त होने में कुछेक विद्वेषी भिन्न मत प्रकट करते हैं। इन विद्वेषियों के द्वारा तत्सम्बन्धी की गई विरोध-पूर्ण आलोचनाओं का हम अपने सामर्थ्यानुसार गत अध्यायों में यथास्थान खंडन कर चुके हैं कि वे तुलसी के भावों को अच्छी तरह नहीं समझ पाये, जिसके कारण वे उन्हें संत नहीं कहते। अब रही उनके महाक्रान्तिकारी होने की बात, जिसका निर्धारण हमें केवल अपने बुद्धि-बल पर करना है। उसी का प्रवेश-द्वार आपको इस अध्याय में देखने को मिलेगा।

तीसरे अध्याय में हम यह प्रकट कर चुके हैं कि तुलसी-विषयक अनुसन्धान सदोष और अपूर्ण है। कुछ लोगों का ध्यान उनकी समाज-सेवा की ओर अवश्य गया है, परन्तु उन्होंने भी उन्हें केवल धर्म-संशोधक (religious reformer) कहकर छोड़ दिया है, और वह भी ऐसा धर्म-संशोधक, जिसका लक्ष्य था केवल हिन्दू-सम्प्रदाय और हिन्दुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था। यदि इतना ही होता, तो हम उन्हें क्रान्तिकारी कदापि न कहते; इसलिए हम हिन्दू-धर्म और हिन्दू-वर्णाश्रम-व्यवस्था पर भी पिछले पन्नों में पर्याप्त रूप से प्रकाश डालकर यह बता आये हैं कि उन्होंने अपना तत्संबन्धी दृष्टिकोण केवल हिन्दू-समाज से परिसीमित नहीं रखा था। वर्णा-

श्रम-व्यवस्था स्वाभाविक नियमों (Natural Laws) पर आधारित होने के कारण सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए हितकर है ; अतएव उसका प्रति-पालन हर एक के लिए आवश्यक है, यह भी हम कह आये है ।

इस तरह गत अध्यायों में हमारे द्वारा निकाले गये इन निदानों पर ध्यान रखकर तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया जाय, तो निस्सन्देह तुलसी आप को अपने समय के उच्च कोटि के क्रान्तिकारी तुलसी दिखेंगे ।

तुलसी को क्रान्तिकारी न समझने के दो कारण

आलोचकों ने तुलसी की योजना या कार्य-क्षमता को अभी तक क्रान्ति के रूप में नहीं देखा, इसके दो कारण हैं—एक तो साहित्याध्ययन और अन्वेषणकारिणी वही दूषित पद्धति, जिसके विषय में ऊपर कहा जा चुका है और दूसरे राज्य-शासन के तख्ते को पलट देनेवाले पाश्चात्य देशीय विप्लवों (revolutions) को ही 'क्रान्ति' समझना ।

क्रान्ति का व्यापक रूप

यह 'क्रांति' आखिर है क्या ? व्यापक दृष्टि से, सीधी-सरल भाषा में, वह है किसी वस्तु की स्थिति-विशेष को पलट देनेवाली उथल-पुथल । जब इस उथल-पुथल की गति धीमी या अल्परूपी होती है, तब उसे आन्दोलन (agitation) कहते है और जब उसकी गति तीव्र, विस्तृत, अतिक्रामक तथा आमूल उद्वेदन करनेवाली होती है, तब वह क्रान्ति (revolution) कहाती है । परिस्थितियों के अनुसार इसके कई रूप होते हैं ; परन्तु वे समस्त रूप मूलतः दो विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं—एक वे, जो शान्तिमय स्थिति को अशान्ति में परिवर्तित करते हैं, और दूसरे वे, जो अशान्तिमय स्थिति के स्थान में शान्ति की स्थापना के हेतु कार्यान्वित होते है । इस तरह सृष्टि में शान्तिप्रद और अशान्तिप्रद ये दो प्रकार की गतियाँ प्रकृतितः चलती हुई देखी जाती है । आधुनिक पदार्थ-विज्ञानी इन्ही को क्रिया-प्रतिक्रिया (action-reaction) कहता है, और धर्म-विज्ञानी इन्हीं को सुख-दुःखमय द्वन्द्व कहता है । पदार्थ-विज्ञानी और धर्म (सूक्ष्मतत्त्व)

विज्ञानी दोनों सुख-साम्राज्य की स्थापना करने के लिए उत्सुक रहते हैं, और यह तभी हो सकता है, जब इस विकाररूप गतियों का शमन कर लिया जाय। परन्तु, उनका बिलकुल शमन करना सृष्टि में रहकर सम्भव नहीं, इसलिए उनका नियमन करना आवश्यक होता है। उनका नियमन अथवा दमन किस प्रकार किया जाय—इसी पर पदार्थ-विज्ञानी और धर्म-विज्ञानी में मत-भेद उठ खड़ा होता है। धर्म-विज्ञानी धर्म (जिसे सत् सत्य, ईश्वर, आत्मा आदि कहते है) का आधार लेकर सारी व्यवस्थाओं का मूल से लेकर अन्त तक संशोधन करने की बात करता है, क्योंकि वही एक मूल तत्त्व है, जो निर्विकार और अटल है; परन्तु पदार्थ-विज्ञानी इसे अव्यवहारिक कह कर थेगरा लगानेवाले दर्जी के समान व्यवस्थाओ को इधर-उधर से जोड़-तोड़ करने की बात कहता है। यह हुई क्रान्ति की व्यापक अर्थ-वाली संक्षिप्त परिभाषा।

(अ) तुलसी की मानव-क्षेत्रीय क्रान्ति

परन्तु जिस क्रान्ति पर हमें यहाँ विचार करना है, वह इतनी व्यापक-अर्थवाली नहीं है। उसका क्षेत्र प्रथमत: तीन बातों से सीमित रहता है। इस दृष्टि से वही क्रिया या गति क्रान्ति कहाती है, जो (१) मानव क्षेत्र में (२) मानव-शक्ति के द्वारा (३) अशान्ति अर्थात् दु:खमय स्थिति को शान्ति और सुखमय स्थिति में परिणित करने के हेतु बर्ती जाय। इस परिभाषा के अन्तर्गत भी पर्याप्त व्यापकता है, क्यों कि उसमें मानव-जगत् के न केवल समस्त व्यक्ति और समाज का, बल्कि उसके समस्त अंगोंपांगो का समावेश हो जाता है। साधुचित्त महापुरुषों के कार्य इसो आधार को लेकर चलते है। उनकी क्रान्ति का यही व्यापक स्वरूप रहता है। तुलसी की क्रान्ति का रूप भी यही था, जिसका अवलोकन पाठकों को अंशतः गत अध्यायों के पाठ में मिला होगा।

(ब) पाश्चात्य राज्य-क्षेत्रीय क्रान्ति

परन्तु जब हम पाश्चात्य इतिहास और साहित्य पर दृष्टि डालते

है, तो हमें इस क्रान्ति का इससे भी अधिक संकीर्ण रूप देखने को मिलता है। इस संकीर्णता के साथ ही उसमें मानवोचित सद्गुणों का ह्रास भी दिखाई देता है। वहाँ उसी मानवी क्रिया को क्रान्ति कहा गया है, जो केवल राजकीय क्षेत्रों में मौजूदा राज्य के तख्ते को पलट देने के लिए उसी राज्य की प्रजा के द्वारा बर्ती गई हो। उसका आधार है 'स्वराज्य' के बदले अच्छे राज्य का कोई मूल्य नही (A good government is no substitute for Self-government) इस आधार पर चलकर वहाँ की जनता ने भले-बुरे, हिसा-अहिंसा, छल-छिद्र की ओर विशेष ध्यान न देकर स्थित-शासकों से राज्य छीन लेने का ही प्रयत्न किया है। इस क्रिया की उत्पत्ति उस समय से हुई, जब कि वहाँ की जनता में राजशाही या पूंजीपतिशाही के स्थान में प्रजातंत्र अथवा जनतंत्र राज्य (Democracy) की भावना जाग्रत हुई। यह भावना तुलसी-काल के बहुत पीछे उठी है। तुलसी के युग में राज्य-शासन-सम्बन्धी भावना का आधार उक्त सिद्धान्त से भिन्न था। शासन के अच्छेपन का ही उसमें मूल्य था, न कि शासक के व्यक्तित्व का। उसमें प्रजा-वात्सल्य का ही महत्त्व माना ज़ाता था।

राज्य-क्षेत्रीय क्रान्ति की दो विचार-धाराएँ

(अ) तुलसी-युग में पूर्व कालीन आदर्श-राजत्व (Ideal Kingship) की विचार-धारा

गत अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि इस भूमंडल पर प्राय. सभी देशों में राज्य-शासन का मुकुट अति प्राचीन काल से अपने अपने निश्चित नियमों के अनुसार किसी एक व्यक्ति-विशेष पर रखा जाता था, जिसे राजा कहते थे। चूंकि उस मुकुट के साथ ही उस पर प्रजा-पालन या रक्षण का उत्तरदायित्व भी रहता था, इसलिए उसे ईश्वरीय सद्गुणों से परिपूरित रहने के लिए भी धार्मिक आदेश रहता था। उन्हीं गुणों के कारण वह ईश्वररूप कहा जाकर पूजनीय भी माना जाता था। परन्तु 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' की उक्ति के अनुसार कई एक राज ा

अत्याचारी होकर राज्य-व्यवस्था के घातक बन जाते थे। परिणाम यह होता था कि अन्य सदाचारी राजा, अथवा अन्य राजा सदाचार का बहाना कर, अत्याचारी राजाओं पर आक्रमण करके उनके अधीनस्थ राज्यों को छीनकर अपने हाथ में कर लेता था। ऐसा करने से स्वाभाविकतः स्थित राज्य-व्यवस्था में पर्याप्त रूप से हलचल मच जाती थी। प्राचीन काल से तुलसी-काल तक हमें राजकीय क्षेत्र में इसी प्रकार की उस क्रान्ति का रूप देखने को मिलता है, जिसके द्वारा कुराज्य के स्थान में सुराज्य की स्थापना की जाती थी; परन्तु इस प्रकार की नीति से यथार्थ कोई लाभ नही होता था। यदि कुछ हुआ भी, तो वह अत्यन्त अल्पकाल तक ठहर पाता था, और फिर उसी पूर्वोक्त उक्ति "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" के अनुसार अनाचार या दुराचार फैल जाता था। इसी प्रकार के दुष्परिणामों का शिकार भारत उस समय बन रहा था, जब कि तुलसीदास जीवित थे, या जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में कह आये है। उस समय बात कुछ ऐसी तो थी नहीं कि पीड़ित प्रजा अपनी पीड़ा से मुक्त होने के लिए छटपटाती न हो! छटपटाती तो थी, पर सत्ताधारी राज्य या शासनाधिकारियों को निकाल भगाने और उनके स्थान पर प्रजावत्सल राज्याधिकारियों को जमाने के लिए उन्होंने उपर्युक्त साधन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपयुक्त साधन नहीं ढूंढ़ पाया था। जनता की सामूहिक शक्ति के विशाल साधन का उन्होंने प्रत्यक्षतः प्रयोग करना नहीं सीख पाया था—वह केवल ग्रन्थों का ही विषय बनकर पड़ा हुआ दिखाई देता था।

[(ब) तुलसी-युग के पश्चात् आधुनिक कालीन प्रजातन्त्र (Democracy)] की विचार-धारा

यों तो हर राज्य-काल में प्रजा का शासन-विभाग में कुछ-न-कुछ भाग रहता ही था; परन्तु उसमें इतना दम नहीं था कि आवश्यकता पड़ने पर राज्य को ही दबा सके। इतिहास से यह ज्ञात होता है कि स्थापित राज्य को प्रजा के द्वारा समाप्त कर देने का सबसे पहला प्रयत्न इंग्लैंड के राजा जेम्स (प्रथम) के विरुद्ध सन् १६०५ ई० में देखने को मिलता है,

उस समय इङ्गलैंड की जनता के एक भाग-विशेष (रोमन-केथलिक पार्टी) के कुछ लोगों ने राजा जेम्स और उसकी सभा (पार्लियामेन्ट) के सदस्यों को बारूदी-षड्यन्त्र (The gun-Powder Plot) के द्वारा उड़ा देना चाहा था, परन्तु षड्यन्त्र की बात खुल गई और इसलिए वह असफल रहा। इसके बाद तुलसी की मृत्यु सन् १६२३ ई० तक कोई इस प्रकार का, अथवा अन्य किसी दूसरे प्रकार का, किसी देश में स्थापित राज्य का तख्ता पलटने का जन-प्रयत्न नहीं हुआ। सन् १६०५ ई० में किये जानेवाले उपर्युक्त उपद्रव की चिनगारी उड़ने के पूर्व ही बुझ गई; इसलिए उन दिनों में जब कि समाचार भेजने या मिलने के साधन अत्यन्त स्वल्प तथा कठिन थे, उसकी खबर तुलसी के, अथवा भारत में किसी के कान तक न प्रहुँच पाई होगी। ऐसी हालत में हमें तुलसी की क्रान्ति के विषय में अनुसंधान करते समय अपने मन को उन क्रान्तियों के प्रभाव से दूर रखना चाहिए, जिनका स्वरूप तुलसी-काल के पश्चात् यूरोप के इतिहास में हमें देखने को मिलता है। राज-तंत्र को समाप्त करने के लिए जन-तंत्र का यह ढोल सुनने में यद्यपि बड़ा सुहावना लगता था, तथापि वह बड़ा भीषण सिद्ध हुआ। एक ही राज्य की प्रजा-प्रजा के बीच सशस्त्र संघर्ष हुए और खून की नदियाँ बहीं, और परिणाम कुछ थोड़े हेर-फेर से वही रहा, जो पहले राज के समय रहा करता था। क्रामवेल, नैपोलियन आदि सशस्त्र नेताओं ने यत्र-तत्र राज्य के तख्ते पलटाये सही, पर वे स्वयं ही भिन्न-भिन्न नामों के बहाने सत्ताधारी बनने लगे। इन क्रान्तियों का क्रम अभी भी चालू है। अन्तर केवल नाम और रूपों में पाया जाता है। जहाँ देखो वहाँ न केवल यूरोप में; बल्कि सारे भूमण्डल में राजशाही और पूँजीपतिशाही के विनाश के नारों के साथ-ही-साथ जनतंत्र की तू-तू की आवाज सुनाई जाती है सही, परन्तु उसकी तह से राजाशाही-जैसी बू भरी तानाशाही (Dictatorship) भी उभरती हुई चली आ रही है। इस सम्बन्ध में रूस के स्टालिन का नाम तो बदनाम है ही, पर अन्य देशों के सत्ताधारियों को भी अच्छी तरह से परखिये, तो वे भी उसी रँग में रँगे दिखाई देने लगते हैं।

तुलसी की क्रान्ति की कसौटी

तात्पर्य केवल इतना है कि तुलसी-काल के पश्चात् की राजकीय ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित होकर क्रान्ति-विषयक जो दृष्टिकोण हमने अपना बना लिया है और जिसके आधार पर चलकर हम तुलसी की आचार-विचारधारा का परीक्षण कर यह बताते है कि तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष नहीं थे, यह भूल है। तुलसी ने अपना दृष्टिकोण केवल राज्य-क्षेत्र से सीमित करके नहीं रखा था। उनके सम्मुख समाज के प्राय सभी प्रमुख अङ्ग थे, क्यों कि किसी एक में दोष रहने से अन्त में सभी के दूषित बन जाने की सम्भावना थी। ये सब एक धर्म शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्यों कि जैसा हम पहले कह आये है 'धर्म' न केवल 'कर्म' का प्रतीक ही है; वरन् व्यापकार्थी भी है ; इसलिए आप देखते है कि मानस में आवश्यक सामाजिक व्यवस्थाओं या सम्बन्धों पर विचार प्रकट करते समय धर्म की पुट सब जगह लगी हुई मिलती है। चूँकि राज्य उस व्यवस्था का नाम है, जो व्यक्ति और समाज को संयमित रख सुख की ओर अग्रसर करे, इसलिए हमें मानस में राम-राज्य की महिमा भी गाई गई मिलती है। तुलसी को उस जन-राज्य से मोह नहीं, जो शासकों का परिवर्तन तो कर दे, पर शासन की दूषित पद्धति को बदलने में असमर्थ हो। शासक कोई भी हो, शासन का ताज किसी के सिर पर रहे, पर राज्य-पद्धति उसकी रहे 'राम-राज्य'-जैसी, जिसके अन्तर्गत रहनेवाली प्रजा अभेद रूप से सुखी रहे, कोई किसी से बैर-भाव न रखे, इत्यादि।[१] इस प्रकार से विचार करने पर यह तत्काल प्रकट हो जाता है कि तुलसी वैसे ही क्रान्तिकारी थे, जैसे महात्मा गांधी। गांधी-जी तुलसी-द्वारा वर्णित इस 'राम-राज्य' को सदा आदर्श बताते रहे, और आज भी विनोबा भावे-जैसे जगत-प्रसिद्ध क्रान्तिकारी महापुरुष उसी राम-राज्य

---

१. मानस, उ० कां० में वर्णित 'राम-राज्य महिमा' को ध्यानपूर्वक पढ़कर देखिए, कितना उच्च भावुकता दर्शाई गई है।

की दुहाई देते हुए पाये जाते हैं । इस दृष्टि से तुलसी इन महान् क्रान्तिकारियों के गुरु कहे जाँय, तो अनुचित न होगा । गुरु का कर्त्तव्य गुरुमंत्र देकर समाप्त हो जाता है । फिर शिष्यों का कर्तव्य रह जाता है कि उनमें से हर एक अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुकूल उस गुरु-मंत्र का व्यवहार रूप में प्रयोग करे। गांधी और भावे ने यही किया है । जिस 'राम' और 'राम-राज्य' के आदर्श को लेकर कर्म-कुशल या तपस्वी गांधी और भावे को हम महा-क्रान्तिकारी कहने में गर्व समझते है, तो उसके लगभग चार सौ वर्ष पूर्व की अति दुर्व्यवस्थित और संकटग्रस्त परिस्थितियों में रहनेवाले तपस्वी तुलसी को, जिसने सर्वप्रथम तथा जीवन-पर्यन्त निर्भीकतापूर्ण उस राम और राम-राज्य का बिगुल फूँका, क्रान्तिकारी कहने में—नहीं, महाक्रान्तिकारी कहने में—क्यों झिझक होती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। यदि गांधी को, जिसने अपने अपूर्व तप और अहिंसाव्रत के कारण संपूर्ण पृथ्वी पर तहलका मचा दिया है, तुलसी का अनुगामी कहें, तो असत्य न होगा। जिस तरह गाधी को अपने युग की विशेष परिस्थिति का मुकाबला करना पड़ा था, उसी प्रकार तुलसी को भी अपने काल की विशेष परिस्थितियाँ से जूझना पड़ा था । हमारी समझ में तो तुलसी के समय की परिस्थितियां गांधी-युग की परिस्थितियों से अधिक कठिन और भयंकर थीं, क्यों कि उस समय न तो जनमत इतना प्रबल था और न राज्य-भय वा राज-दंड इतना कम था, जितना कि गांधी के समय हो गया था। इन भयंकर परिस्थितियों के रहते हुए भी तुलसी ने जिस तप, अहिंसा और चातुर्य्य के साथ सामाजिक तथा राजकीय कार्यो में आमूल परिवर्तन करने की जीवनपर्यन्त ठान ठानी थी, वह देखने योग्य है । गांधीजी की श्रेष्ठता हमारे नेत्रों में इसलिए अधिक प्रतीत होने लगती है, क्यों कि संयोगवश ब्रिटिश-साम्राज्य ने भारत का राज्य भारतीयों को बिना युद्ध के सौप दिया ; परन्तु क्रान्तिकारी की उपाधि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे अपने जीवन मे या उसके बाद ही अपने कर्तव्य का मनोवाछित फल मिले ही । गीता आदि महा-ग्रन्थों के अनुसार फल का मिलना न मिलना कर्मयोगी के लिए अवांच्छनीय

और अनावश्यक कहा है। और फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का वह क्रान्तिकारी कर्म असफल रहा। उन्हें कब और क्या सफलता मिली, इस पर आगे यथास्थान कहेंगे। उपर्युक्त विवेचन का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पाश्चात्य देशीय 'क्रान्ति' शब्द की व्याख्या के प्रभावित होने के कारण आलोचकों ने अभी तक तुलसी के कार्यों में क्रान्तिपन नहीं देख पाया। तुलसी के क्रान्तिपन के विषय में हम केवल एक महाशय को कुछ अतिसूक्ष्म कहते हुए सुनते हैं; और जो कुछ उन्होंने कहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि उनका मन क्रान्ति-सम्बन्धी पाश्चात्य शब्दावली के कारण विचलित हो उठा है। वे कहते हैं कि "आधुनिक शब्दावली में तुलसीदासजी 'क्रान्तिकारी' तो नहीं कहे जा सकते, पर उन्होंने जो कार्य किया और जिस प्रकार मत अभिव्यक्त किया, उसने परिणाम वही उत्पन्न किया जो क्रान्ति का होता है—कम-से-कम यह माना जाता है।"[२]

यों तो इसके बहुत पहले भूतपूर्व पं० रामनरेश त्रिपाठी, ने अपनी सटीक रामचरित-मानस के भूमिका-भाग में जो बाद में राजपाल एन्ड सन्स दिल्ली द्वारा 'तुलसीदास और उनका काव्य' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया है, यह प्रकट कर चुके थे कि "रामचरित-मानस एक क्रान्तिकारी काव्य है" किन्तु इतने से यह तो सिद्ध नहीं होता कि तुलसी स्वयं क्रान्तिकारी के रूप मे समाज-क्षेत्र में जा मिले थे।

तुलसी की क्रान्ति का त्रिविध परीक्षण

अब देखना यह है कि यदि तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष थे, तो उन्होंने (१) अपनी योजना की रचना किस प्रकार की? (२) उसका प्रचार कैसे और कितना किया? और (३) उसका परिणाम क्या हुआ?

क्रान्ति की योजना और उसके चार अंग

क्रान्तिकारी को सबसे पहले अपने कार्य की योजना तैयार करनी

---

२. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० ५५।

पड़ती है। यद्यपि जिस-जिस प्रकार से कार्य का विस्तार होता जाता है, उस-उस प्रकार से उस योजना को सफलीभूत बनाने के हेतु उसके विवरण (details) में यथावश्यक संशोधन और परिवर्तन करते जाते हैं, तथापि उसकी रूपरेखा पहले से ही बना लेना आवश्यक होता है। अन्य क्रान्तिकारी योजनाओं के समान तुलसी की योजना को भी चार विभागों में विभक्त कर सकते है, यथा—(१) उद्देश्य (२) आदर्श (३) नारा और (४) पथ। इन चारों की रूप-रेखा सूत्र रूप में हमें निम्न प्रकार की दिखाई देती है—

(१) क्रान्ति का उद्देश्य—जनकल्याण
(२) क्रान्ति का आदर्श (ध्वजा-चिन्ह)—सीताराम
(३) क्रान्ति का नारा—राम-राज्य
(४) क्रान्ति का पथ-निर्धारण
(क) पथ प्रदर्शक (Guide)
(ख) आत्म-वृत्त(Vows)
(ग) भयावहस्थल (Danger-spots)

जिस प्रकार हर योजना का स्पष्टीकरण किया जाता है, उसी प्रकार तुलसी की उक्त योजना का भी स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। इस अध्याय में केवल उद्देश्य और आदर्श इन्ही अंगों का स्पष्टीकरण किया जायगा।

(१) क्रान्ति का उद्देश्य—जन-कल्याण

गत पाठों में कतिपय बातों को लेकर यह बताया जा चुका है कि तुलसी साम्प्रदायिकता से परे थे। उन्होंने अपना सम्बन्ध जन-समुदाय के किसी भाग विशेष से सीमित करके नहीं रखा था। सारा जन-समुदाय उनके लिए एक समान था। वे सब के एक समान हितेच्छुक थे। वे सीताराम के परम भक्त थे, और उन्होंने सारे जगत् को ही अपना सीताराम माना था—'सियाराम मय सब जग जानी'। उनकी यह कोरी कल्पना नहीं

थी। उनका राम केवल दशरथ-नन्दन नहीं था। दशरथ-नन्दन तो उनके यथार्थ राम का प्रातरूप था। यथार्थ राम तो सर्व-व्याप्त सर्व-शक्तिमान् सत्ता थी, जिसकी अनुभूति उन्हें निर्गुण और सगुण रूप में होती थी। उस सर्व-व्याप्त सत्ता का प्रकृति के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध है। जब प्रकृति उसी में समाई हुई निष्क्रिय रहती है, तब उसे अव्यक्त प्रकृति और सत्ता को निर्गुण कहते है, और जब वह उसके साथ रहती हुई सक्रिय रहती है, तब उसे व्याप्त प्रकृति और सत्ता को सगुण कहते हैं। इसी सर्व व्याप्त प्रकृति की प्रतिच्छाया जनक-नन्दिनी सीता हैं। जब मानस में यह कहा जाता है कि सीता 'अग्नि में समा गईं' अथवा 'अग्नि में प्रवेश कर अपने धाम आकाश में उड़ गईं' तब उसका व्यक्त से अव्यक्त होना अथवा मूल-सत्ता में समा जाने का भाव समझना चाहिए। गरज यह है कि यह सारी सृष्टि इस मूल सत्ता और व्यक्त प्रकृति का रूप है, और चूँकि तुलसी ने मूल सत्ता को राम तथा प्रकृति को सीता की संज्ञा दी है; इसलिए वे 'सियाराम मय सब जग जानी' कहते है।

चूँकि तुलसी स्वयं तथा सब मानव इस सगुण स्वरूप 'सिया राम मय सब जग' के अंश हैं; इसलिए हर एक को कर्म करना ही पड़ता है, क्यो कि सगुण शरीरी का निर्गुण होकर रहना असम्भव है—निर्गुणत्व की कल्पना अथवा अल्पकालीन अनुभूति चाहे भले ही हो जाये। इस सगुणता में निर्गुणत्व का आरोप करनेवालों ने कर्म करने की एक थ्योरी (सिद्धान्त) निकाली है। उसे वे लोग 'निष्काम कर्म' कहते है, अर्थात् किसी इच्छा, अर्थ या फलाकांक्षा के बिना ही कर्म किया जाय। कोई-कोई इसी बात को यह कहकर दर्शाते है कि कर्म कर्म के लिए (duty for duty's sake) ही करना चाहिए; परन्तु तुलसी को सगुण-जीव अर्थात् सशरीर जगत् के लिए इस सिद्धान्त में कोई व्यावहारिकता नहीं जँची। इसलिए, उन्होंने अपना एक ऐसा नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया; जिसमें एक ओर तो सगुण शरीरी के लिए व्यावहारिकता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर निर्गुणोपासकों के लिए भी उसी में निष्कामत्व की प्रतीत हो जाती है। इसे जानने

के लिए हमें कर्मोत्पादक प्रचलित भावनाओं की ओर दृष्टि फेंकनी होगी। एक भावना तो है 'स्वार्थ' की, जो अति हेय मानी जाती है। इस प्रकार के लोग केवल अपनी लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करते है। दुनिया चाहे मरे या जिये, उन्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं और न उन्हें इसकी परवाह रहती है कि उनका अन्तःस्थित 'स्व' बिगड़ता है या बनता है। दूसरे प्रकार के लोग वे होते है, जो अपने लौकिक स्वार्थ के साथ अपने नैतिक उद्धार की ओर भी ध्यान रखते हैं। ऐसे लोगों के कर्म 'पुरुषार्थ' की भावना से प्रेरित होते हैं ; परन्तु तीसरे प्रकार के लोगों का कहना है कि कर्म चाहे निरा लौकिक-लाभ (स्वार्थ=outerself) के लिए किया जाय या आत्म लाभ (पुरुषार्थ=(innerself) के लिए, वह आखिर है तो स्वार्थ के लिए ही ; इसलिए उनका कहना है कि कर्म परार्थ या परमार्थ के लिए ही करना चाहिए। लेकिन चौथे प्रकार के लोगों ने यह कहा कि कर्म चाहे जिस हेतु या अर्थ में किया जाय, उसमें दूषित मनोवृत्तियों के कारण बुराइयाँ उत्पन्न हो ही जाया करती हैं। इसलिए उन्होंने यह कहना प्रारम्भ किया कि कर्म किसी भी अर्थ से न किया जाय—वह निष्काम अथवा निष्प्रयोजनीय रहे ; परन्तु तुलसी ने कहा कि ऐसा हो ही नहीं सकता। जब तक हम शरीरधारी है, तब तक हम में कुछ-न-कुछ प्रेरणा, भावना या इच्छा उठे बिना नहीं रह सकती ; इसलिए उन्होंने कहा कि 'सियाराम मय सब जग' को एक कुटुम्ब समझकर प्रेम-भावना से कर्म करने पर सब अर्थ सिद्ध हो जाते है, अर्थात् लौकिक स्वार्थ नैतिक स्वार्थ अर्थात् पुरुषार्थ तथा परमार्थ सभी सहज ही सुलभ हो जाते हैं, और इस सुलभ-सिद्धि में निष्काम-भावना की अनुभूति भी उसी तरह से होने लगती है, जिस प्रकार हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब के किसी सदस्य को किसी कौटुम्बिक कर्म को करते समय होती है। तुलसी ने अपनी क्रान्ति का उद्देश्य यही रक्खा था कि समस्त जन-समुदाय एक कुटुम्ब है, क्यों कि सब 'सियाराम मय' हैं। जन-समुदाय के कुटुम्ब (वसुधैव कुटुम्बकम्) मान लेने पर जब प्रेम से प्रेरित हो, उसके कल्याणार्थ कर्म किये जायें, तब हर एक को स्वार्थ पुरुषार्थ

परमार्थ या निरार्थ सभी की अनुभूतियुक्त प्रसन्नता अवश्य प्राप्त हो सकेगी। यह था तुलसी की क्रान्ति का उद्देश्य, जो उन्होने जनता के सम्मुख प्रकट किया। प्रमाणस्वरूप दोहावली में कथित निम्न दोहों को देखिए—

स्वारथ सीताराम सों, परमारथ सियराम।
तुलसी तेरो दूसरे, द्वार कहाँ कहु काम॥
स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर॥

अर्थात्—जब सीताराम-रूप सर्व जगत् कुटुम्बवत् हो जाय, तब उससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों एक साथ सध जाते हैं (क्योंकि कुटुम्ब में जो जिस योग्य होता है, वह उसी के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक कार्य-भार सँभालने और सम्मान देने या पाने के लिए तत्पर रहता है, जिससे सामूहिक लाभ के रूप में वैयक्तिक स्वार्थ और परमार्थ भी प्राप्त होते जाते है)। इस तरह जब सब जगत् को अपना लिया जाता है, तब दूसरा रहा ही कहाँ, जिसके दरवाजे को खटखटाया जाय। इसलिए, तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे विचारशील कर्मयोगी को स्वार्थ, परमार्थ और पुरुषार्थ तीनों एक साथ य लग जाते हैं—

पुरुषारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी, सुमिरत सीताराम॥[४]

यहाँ तक कहकर तो तुलसी ने उन लोगों को समझाया, जो सकाम अथवा फलेच्छा से कर्म करने की बात करते हैं; परन्तु इसके आगे उन्होंने निष्काम-भावनाओं के समर्थकों के लिए भी यह कह दिया कि यदि आपको किसी अर्थ अर्थात् स्वार्थ-परमार्थ से कोई मतलब नहीं है, तो आप उन्हें

३. दोहावली, ५३–५४।
४. दोहावली, ५७०।

तिलाजलि देकर केवल 'सिया राम मय सब जग' से स्नेह कर कर्म करिये, तो आपको अर्थ धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों फलों का एक मात्र फल 'स्नेह' ही सन्तोष देनेवाला हो जाता है अर्थात् आपको किसी फल की इच्छा नहीं रहती—

स्वारथ-परमारथ रहित, सीताराम सनेह।
तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एह।।[५]

हम यह पहले देख चुके है कि तुलसी का आदर्श मूलतः वह निर्गुण राम है, जिसमें प्रकृति अव्यक्त रहती है। इस दृष्टि से उन्होंने सर्व जगत् को 'सियाराम मय' न कह केवल 'राम मय' कहकर सम्बोधित किया है— 'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जान।' इसलिए उन्होंने उसी दोहावली में अन्यत्र उक्त स्वारथ-परमारथ-विषयक भाव को 'सिया राम' से सम्बन्धित न कर केवल 'राम' से संबंधित करके बताया है; जैसे—

मीठो अरु कठवति भरो, रौ ताई अरु क्षेम।
स्वारथ, परमारथ सुलभ, रामनाम के प्रेम।।[६]
स्वारथ सुख सपने हैं अगम, परमारथन प्रवेस।
रामनाम सुमिरत मिटहिं, तुलसी कठिन कलेस।।[७]

इस तरह पाठक यह अवश्य ध्यान में रखें कि तुलसी ने अपनी योजना का उद्देश्य वही व्यापक-जन-कल्याण रखा था, जो अन्य महापुरुषों के सम्मुख रहा है तथा रहता है। तुलसी का 'राम' या 'सीताराम' अभेद भाव से जन-समुदाय का द्योतक है, यह न भुलाया जाय।

(२) क्रान्ति का आदर्श (ध्वजा-चिन्ह)—सीताराम

जिस प्रकार हर क्रान्ति का कुछ-न-कुछ उद्देश्य रहता है, उसी प्रकार

---

५. दोहावली, ६०।
६. दोहावली १५।
७. दोहावली १७।

उसका कोई-न-कोई ऐसा आदर्श भी रहता है, जिसका पालन करने से उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके, और जिसके प्रदर्शन करने से अन्य लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित भी हो सके तथा वे उससे आकर्षित होकर क्रान्ति में भाग ले उसे सफल बना सकें। उदाहरण-स्वरूप सोवियट रूस में कम्यूनिस्टों ने 'हथौड़ा-हँसिया' और भारतीय कांग्रेस पार्टी ने गांधी के जमाने में 'चर्खा' को अपना आदर्श बनाया और अपने-अपने अनुकूल अपनी योजनाओं को प्रदर्शित करने के लिए ध्वजा बनाकर उनमें अपने उक्त आदर्शों का चिन्ह प्रदर्शित किया। इन दोनों क्रान्तियों का उद्देश्य था, आर्थिक समता लाने का। रूस में श्रमिकों को ऊँचा उठाना चाहते थे, इसलिए वहाँ पर उन्होंने उन श्रमिकों के पारिश्रमिक-जीविका का प्रदर्शन 'हथौड़ा-हँसिया' के द्वारा किया; और गाधी ने भुखमरी मिटाने के लिए वस्त्र-भोजन-प्राप्ति का एक व्यापक मूल-साधन चर्खा कातने में देखा। इसलिए, कांग्रेस ने हिन्दू-मुसलिम तथा अन्य शेष जातियों के प्रतीक तिरंगे झंडे को अपनाकर उस पर 'चर्खे' का चिन्ह अंकित किया; परन्तु अपने समय की परिस्थितियों को देख तुलसी ने अपनी क्रान्ति का उद्देश्य उक्त क्रान्तियों से अधिक व्यापक बनाया। उनका उद्देश्य समाज के किसी अङ्ग-विशेष या क्षेत्र-विशेष से नहीं था। उनके समय में चहुँ ओर से मानवता का ह्रास हो रहा था। उनका ध्यान था कि यदि जनता में मानवता आ जाय, तो वह शारीरिक, सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में समृद्ध या सुखी हो सकेगी, अतः उन्होंने 'जन-कल्याण' का एक विशाल उद्देश्य अपनी योजना का रखा। चूँकि मानवता का यथार्थ प्रदर्शन किसी प्रत्यक्ष पदार्थवाची चित्र के द्वारा करना सम्भव नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने अपना आदर्श मानवता से युक्त मानव को ही ढूँढा और उसी का अपनी क्रान्ति के ध्वजा पर चित्रांकन किया। हम कह आये है कि उनका आदर्श 'सीताराम'; था इसलिए उन्होंने 'सीताराम' का चित्राकन किया। परन्तु, यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् उन्होंने अपने मनोभावों को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए न केवल 'सीता-राम' का, वरन् हनुमान् समेत 'राम-सीता-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न' रूप पंचायतन

का ही ध्वजा-चिन्ह अपनाया हो, जैसा कि आज भी हमें कहीं-कही देवालयों तथा चित्रों में देखने को मिलता है। यह हो तो सकता है, पर उसके होने में हमें सन्देह होता है, क्यों कि ध्वजा-चिन्ह सर्वदा, सर्वत्र सूक्ष्म और सरल होते है, न कि विस्तृत और क्लिष्ट। जो भी हो, एक बात विशेष स्मरणीय है और वह यह है कि 'सीताराम' के चित्रांकन में सीता और राम, ये दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं रहते थे, बल्कि अर्द्धांगिनी, सीता को राम की वामांगी बताकर दोनों में एकत्व की स्थापना की जाती थी। दूसरे शब्दों में सीता और राम इकाई के रूप में चित्रित किये जाते थे। यह कारण है कि राम-पंचायतन में यद्यपि हनुमान् समेत छः व्यक्ति होते है; पर राम-सीता को एक गिनने से वे पाँच ही रह जाते है।

तुलसी का आदर्श था केवल 'राम' अथवा 'सीताराम', जैसा कि हम पहले कह आये हैं। सीता और राम काल्पनिक है या ऐतिहासिक व्यक्ति, इस पर भी हम अपने विचार प्रकट कर चुके है। हमने काल्पनिक मतवाले लोगों के तर्कों का खण्डन करके सातवें अध्याय में उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर जोर दिया है; पर सच क्या है, इस पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। मानस में अथवा अन्यत्र वर्णित राम-कथा में कुछ ऐसी अद्भुत बातें पढने को मिलती है कि उनसे हमारी कौन कहे, अच्छे-अच्छे धुरन्धर विद्वानों को भी सीता और राम की ऐतिहासिकता पर सन्देह हो उठता है। इसलिए, संम्भव है कि वे काल्पनिक भी हों। विनोबा भावें को भी इस प्रकार का सन्देह कौरव-पांडव के युद्ध के विषय में उठा था और उस समय का उनके द्वारा कहा हुआ कथन यहाँ कह दिया जाय, तो उससे यह पता लग जायगा कि प्राचीन बातों के बारे में कोई कुछ निश्चयपूर्वक नही कह सकता। वे क[illegible] [illegible] प्राचीन [illegible] से मानवीय मन में सद्सत प्रवृत्तियों का जो झगड़ा चलता है, उसका रूपात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड़ गई है। वेद में इन्द्र तथा वृत्र, पुराणों में देव तथा दानव, वैसे ही राम तथा रावण, पारसियों के धर्म-ग्रन्थों में अहुर मज्द और अहरिमान, ईसाई मजहब में प्रभु तथा शैतान, इस्लाम में अल्लाह और इब्लीस—इस तरह के झगड़े सभी

धर्म-ग्रन्थों में आते है। काव्य में स्थूल विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों के द्वारा किया जाता है, तो धर्म-ग्रन्थों में सूक्ष्म मनोभावनाओं का वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है।"[८]

परन्तु यदि सीता और राम काल्पनिक स्त्री-पुरुष ही हों, तो जहाँ तक उन्हें आदर्श के रूप में अंगीकार करने का प्रश्न है, वहाँ तक उनसे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठ सकती और न हानि भी हो सकती है। आदर्श, सच पूछा जाय तो काल्पनिक ही होता है, जैसा हम सातवें अध्याय के अंत में कह आये हैं। 'हथौड़ा-हँसिया' अथवा 'चर्खा' अथवा अन्य चिन्हांकन भी तो आखिर किन्हीं भावनाओं के द्योतक होते हैं।

तुलसी का क्रान्तिकारी राम

प्रश्न अब यह उठता है कि यदि तुलसी क्रान्तिकारी थे, तो उनका आदर्श भी क्रान्तिकारी होना चाहिए, अन्यथा उनका क्रान्तिकारी कहा जाना ऐसा ही होगा, जैसे बिना नींव के दीवार खड़ी करना। दूसरे शब्दों में जब तक यह सिद्ध न हो कि राम स्वयं क्रान्तिकारी थे, तब तक तुलसी को क्रान्तिकारी मानना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। यों तो राम के विषय में जिस साहित्य से या जिन प्रचलित भावनाओं से हम परम्परा से परिचित होते चले आ रहे हैं उनसे, तथा जिस भक्ति-भाव से तुलसीदास नें राम-कथा का उल्लेख किया है, उसके पढ़ने से हमें यही प्रतीत होता है कि राम क्रान्तिकारी नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्होंने केवल कौटुम्बिक स्नेह, सत्य-व्रत, त्याग, तप, पतित्व, गुरु-सम्मान धैर्य, पराक्रम, प्रजा-वात्सल्य आदि गुणों को चरितार्थ कर मनुष्यों में साधुता का बीज भर बोया है। क्रान्ति से, जिसमें भीषण उथल-पुथल की चक-चक रहती है, उन्हें क्या प्रयोजन था? परन्तु मानस ही में वर्णित राम-कथा का विचार-पूर्वक अध्ययन करने से, अथवा उसे वाल्मीकि रामायण आदि तत्सम्बन्धी

---

८. गीता-प्रवचन, पृ० २३१।

ग्रन्थों से यथासंभव सहायता लेकर पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम-चन्द्रजी अपने युग के महा क्रान्तिकारी पुरुष थे, जिनमें धर्म और [illegible] के साथ-साथ कुनीतियों, कुरीतियों और अत्याचारों का विरोध करने का अद्वितीय साहस और पराक्रम था। जो कुछ उन्होंने कहा, उसे उन्होंने अपने जीवन में घटित कर बताया, तथा समाज को भी उस ओर अग्रसर किया। गरज यह कि 'सिद्धान्त की अपेक्षा स्वकीय दृष्टान्त बेहतर होता है' (example is better than precept) इस उक्ति के अनुसार वे अवतार रूप से इस संसार में रहे और मानवोद्धार के लिए अपने पथ-चिह्न छोड़ गये। उन पथ-चिह्नों को जिन्होंने ठीक प्रकार से नहीं पहचाना, वे ही राम को क्रान्तिकारी कहने में संकोच करते हैं, और इसीलिए उन्हें तुलसी को भी क्रान्तिकारी कहने का साहस नहीं होता।

तुलसी का राम त्रिभावात्मक है, यह हम इस पुस्तक में प्रवेश करते समय ही प्रथम अध्याय में जान चुके हैं। चूँकि वही उसका आदर्श है, इसलिए हमें देखना चाहिये कि क्या वह त्रिभावात्मक राम ही क्रान्तिकारी है, या नहीं। यदि एक भी भाववाला राम क्रान्तिकारी सिद्ध नहीं हुआ, तो तुलसी को क्रान्तिकारी मानने में आपत्ति उठाना अनुचित नहीं कहा जा सकेगा।

यदि आप अपना दृष्टिकोण पाश्चात्यदेशीय उस संकीर्ण अमर्यादित क्रान्ति से हटा लें, जो राजकीय क्षेत्र में बर्ती जातो रही है, और यह समझ लें कि क्रान्ति यथार्थ में "सौम्य प्रगतिशील शक्ति" (harmonius dynamic force) को कहते हैं, तो आप को निःसन्देह यह विदित हो जायगा कि तुलसी का निर्गुण राम, सगुण राम और दशरथनन्दन राम तीनों क्रान्तिकारी हैं।

(अ) निर्गुण और सगुण राम की क्रान्ति का रूप

सृष्टि त्रिगुणात्मक है। ब्रह्म त्रिगुणातीत है, इसलिए वह निर्गुण भी कहाता है। उसमें प्रकृति सुषुप्त, लय या अव्यक्त रहती है, अतएव वह

सशक्त-शून्यवत् रहता है। इस स्थिति पर विशेष विस्तार से न कहकर केवल इतना ही पाठकों को स्मरण दिलाना है कि जिस शून्य में इस अनन्त सृष्टि को रचने, संयमित रखने तथा आवश्यकतानुसार पुनः अपने-आप में विलीन करने की क्षमता हो वह भला क्रान्तिकारी क्यों न कहा जाय! इसी तरह जब हम इस महान् विस्तृत और क्लिष्ट सृष्टि को देख उसके व्यक्त अथवा सगुणरूप पर विचार करके उसकी उस अद्भुत और अद्वितीय गति का लेखा लगाने बैठते हैं, जिसके द्वारा वह उसका नियमबद्ध या समृद्ध संचालन कर रहा है, तो उसमें हमें क्रान्ति ही नहीं, बल्कि महा और अद्वितीय क्रान्ति ही दिखाई देती है। धर्म-ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न तर्कों, दृष्टान्तों तथा आख्यानों द्वारा विस्मित कर देनेवाला इसी क्रान्ति का चित्र खिंचा हुआ हमें मिलता है। धर्म-ग्रन्थों से यदि चिढ़ हो, तो सृष्टि-विकास के वैज्ञानिकों अथवा भौगोलिक विशारदों आदि के कथनों को ही देख लीजिए, वे क्या कहते हैं। सृष्टि की रचना कैसे हुई——पहले इसी पर विचारिए। कहा जाता है कि सर्व-प्रथम सूर्य-जैसा सर्व-व्याप्त एक महान् उष्ण द्रव पदार्थ था। उसमें जब ज्यों कहीं-कहीं शीतलता आई, तब त्यों वह खंडहरों के रूप में इधर-उधर बिखरता गया। कहीं गड्ढे होकर समुद्र बन गये। कहीं पर्वत होकर गिर पड़े। कोई भू-भाग बन वहाँ उड़कर गिरा और कोई यहाँ। गरज यह कि सभी अपने-अपने अनुमान लगाकर इस सर्व-व्यापक सगुण रूप राम की अद्भुत क्रान्तिकारी करतूतों का उल्लेख करते-करते थक जाते हैं। वैज्ञानिकों के इस पिघले हुए, पदार्थ (molten mass) को धर्म-ग्रन्थों में कथित 'हिरण्यगर्भ' का द्योतक समझकर पढ़ने से दोनों की विचार-धाराओं में विषमता नहीं दिखाई देती। यह तो दिग्दर्शन हुआ, सृष्टि की आदि उत्पत्ति का। बाद में भी उत्पत्ति-नियमित संचालन और विधिपूर्वक विनाशात्मक कार्यों का ताँता नहीं टूटता; क्योंकि सृष्टि अनन्त है। इस सगुणात्मक राम की नित्य चलती हुई क्रान्तिमय इसी प्रगति को, हमारे विचारानुसार गीता में 'प्रवर्तित' चक्र कहा है। इस तरह हस्तस्थ विषय को सीमाबद्ध रखने के अभिप्राय से निर्गुण राम और सगुण राम—दोनों की क्रान्तियों पर इतने

स्वल्प रूप से ही विचार कर लेना पर्याप्त है। यह सुनकर अब सम्भव है आप इस निर्गुण और सगुण राम की इस तात्त्विक चर्चा की तत्त्ववेत्ताओं की निरी बकवाद कहकर उस पर अव्यावहारिकता की छाप लगा दें और यह कहने लगें कि उस दशरथनन्दन राम पर आइए, जिसे हम जीता-जागता आदर्श मान सकते है, कि उसने अपने जीवन में ऐसे कौन-से काम किये, जिन्हे हम क्रान्तिकारी कह सकते है।

(ब) दशरथ-नन्दन राम की क्रान्ति का रूप

ठीक है, हम भी यही समझते हैं कि अब दशरथ-नन्दन राम के चरित्रों को विचार कर देखा जाय कि उन्होंने कौन-से क्रान्ति रूपी कार्य किये। इनका अनुसंधान मानस वा वाल्मीकि रामायण में कथित बातों ही के आधार पर किया जा सकता है। राम का जन्म जिस समय हुआ, उस समय भारत की क्या स्थिति थी—इसे जानने के लिए उनके जन्म के पूर्व में सुर-नर-मुनि तथा गौ-भूमि आदि की कारुणिक वन्दनाओं को पढिए। चूँकि उक्त ग्रन्थ, विशेषकर मानस, धर्म-दृष्टि से लिखे गये है, इसलिए उन वन्दनाओं आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी, जैसा कि सभी देश तथा काल के सभी दुर्व्यवस्थित समाजों में होता है, धर्म का ह्रास और अधर्म का प्रवाह हो रहा था, अर्थात् सुरवृत्ति का लोप तथा असुरवृत्ति का बोल-बाला चल रहा था। जब-जब जहाँ-जहाँ ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है, तब-तब इसका एक मात्र कारण यही होता है कि उस समाज की राज्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई रहती है। वह कभी सशक्त होने, और कभी अशक्त होने के कारण अधर्म-मार्ग को अपनाती हुई उत्तरोत्तर अधोगति को पहुँचती जाती है। परशुराम द्वारा इक्कीस बार क्षत्रीय-राजाओं का पराजय, धनुष-यज्ञ में अनेक राजाओं का एकत्र होकर काम के वशीभूत होकर लड़ना-भिड़ना तथा राम के तपोवन के समय दक्षिण भारत में राम का बहुत-से बलवान् राजाओं से मुकाबला करना, इन बातों से स्पष्ट है कि भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न हो रहा था। कोई

ऐसा शक्तिशाली या प्रभावशाली राजा नहीं था, जो अपने सदाचारों से बल-पराक्रम के द्वारा सब पर अपनी धाक जमा सके, एवं आसुरी वृत्ति के स्थान में दैवी वृत्ति की स्थापना कर सके, जिसके फलस्वरूप सारा जन-समुदाय हर प्रकार से सुरक्षित रह आर्थिक-धार्मिक आदि लाभ यथाविधि प्राप्त करके सुख-चैन से जीवन व्यतीत कर सके। इसलिए जिस प्रकार कृष्ण ने धर्म-राज्य की स्थापना के लिए प्राण-पण से प्रयत्न किया था, उसी प्रकार राम ने धर्म-राज्य की—जिसे मानस में राम-राज्य कहा गया है—स्थापना की। यह उन्होंने अपने उस यथार्थ क्षत्रित्व को बरतकर किया, जिसमें केवल वीरत्व ही निहित नहीं रहता, जैसा लोग बहुधा समझा करते है, वरन् सुनीति तथा विनीति और दया का भाव भी लबालब भरा रहता है। राम के निम्न कार्यों के देखने से कोई भी यह कह सकता है कि उनके वे कार्य उच्चकोटि के क्रान्तिकारी थे।

(अ) कौटुम्बिक स्नेह

राजा दशरथ की तीन रानियाँ, तीनों के अलग-अलग पुत्र, राम के राज्याभिषेक होने का पल उपस्थित, सौतेली माँ कैकेयी की ताना-बाजी, पिता का मृत्यु-शय्या पर व्याकुल रहना, और फिर भी सहर्ष तपस्वी-वेश को धारण कर एक चक्रवर्ती राजा का यह सुकुमार युवक राम अपनी एक सरल-हृदय नवयौवना पत्नी के साथ राज्य को छोड़ चल देता है, और, कभी भी आगे-पीछे अपनी सौतेली माताओं या भाइयों से स्वप्न में भी द्वेष-भाव मन में नहीं लाता। क्या कम क्रान्ति है, उन लोगों के लिए जो एक माता-पिता के भी होकर धन-दौलत के पीछे मर-मर पड़ते है, पारस्परिक रक्त-प्रवाह कर डालते हैं, सगे-सौतेले माँ-बाप को गाली-गलौज कर मारने-पीटने तक की नौबत ले आते है।

(ब) उत्तराधिकारित्व

प्रतीत होता है कि उत्तरीय भारत में बसे हुए आर्य राजाओं में मृत राजाओं का उत्तराधिकरी उसका ज्येष्ठ पुत्र हुआ करता था और दक्षिण-

वासी अनार्य राजाओं में उत्तराधिकारी मृत राजा का भाई होता था, जैसे बाली का सुग्रीव या रावण का विभीषण हुआ था। दूसरे राज्यों की, इस उत्तराधिकारित्व की प्रचलित प्रथा में, रामजी ने हस्ताक्षेप नहीं किया। परन्तु अपने निजीवंश की उच्चता पर विचार करते हुए उन्होंने इसका विरोध किया और कहा 'विमल-वंश यह अनुचित एकू, अनुज बिहाय बड़ेहि अभिषेकू।' शंका हो सकती है कि फिर उन्होंने वन से लौटने पर क्यों राज्य ग्रहण किया? कारण यह था कि यह एक ऐसी प्रथा थी, जो सभी क्षत्रिय वंशों में प्रचलित थी तथा अवधराज्य की प्रजा के सम्मुख उसका पालन किया जाना आवश्यक भी था, इसलिए उसकी अवहेलना करना राजनीतिक मूर्खता होती। इसके अतिरिक्त, राम के द्वारा स्वीकृत इस उत्तराधिकारत्व के साथ व्यक्तिगत सत्ता या वैभव आदि का प्रश्न नहीं था—उसके साथ था, प्रधानतः न केवल प्रजा के प्रति, वरन् समस्त कुटुम्ब के प्रति कर्तव्य-भार अर्थात् राज्य का एक प्रकार से इन सब की ओर से ट्रस्टी (Trustee) बनकर राज्य चलाना। इस प्रकार प्रचलित राज-सत्ता के स्थान में ट्रस्टी-पन का भाव उत्पन्न कर राज्य को सम्हालना क्या क्रान्ति का रूप नहीं? सम्पत्तिवालों, राज्याधिकारियों आदि को ट्रस्टी की भावना लेकर समाज में वास करने के महत्त्व को गांधी ने भलीभाँति समझा था। इसलिए, उनके द्वारा उत्पन्न की गई क्रान्ति में उन्होंने उसे विशेष स्थान देकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को प्रकट करके बताया था। इस समय भी विनोबा जी उसी को भू-दान, श्रम-दान, सम्पत्ति-दान आदि द्वारा आगे बढ़ा रहे हैं।

(स) स्त्री-सम्मान और दाम्पत्य

सामाजिक क्षेत्र में, विशेषकर राजाओं के जीवन में, तहलका मचा देने वाली यदि कोई सबसे अधिक महत्वशालिनी क्रान्ति थी, तो वह हमारी समझ में थी—बहुविवाह अथवा बहुपत्नियों की प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाना। यों तो दाम्पत्य-विकास के ज्ञाताओं को यह ज्ञात होगा कि समाज

के प्रारम्भ काल में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध पशुओं जैसा अस्थिर रहता था। एक स्त्री अनेक पुरुषों को वरण कर सकती थी तथा एक पुरुष अनेक स्त्रियों को वरण कर सकता था। स्त्रियों द्वारा एक ही समय पर अनेक पुरुषों को वरण कर लेने की प्रथा तो प्रायः समाप्त थी; परन्तु पुरुषों द्वारा एक ही समय पर अनेक स्त्रियों को पत्नियाँ या दासियाँ बनाकर रखने की—विशेषकर धनी लोगों में और उनसे भी अधिक धन-बल या बाहुबलवालों में, राम के समय में प्रचलित थी। राजाओं का तो अनेक स्त्रियों को रखना मानो धन्धा ही हो रहा था। और वह धंधा भी ऐसा कि मानो वे उनकी संख्या बढाने में एक दूसरे के प्रति स्पर्धा करते हों। यद्यपि पौराणिक काल राम-काल से बहुत पीछे का है, तथापि पुराणों में वर्णित राजाओं के वृत्तान्तों से यह पता लगता है कि राजा लोग सहस्रों स्त्रियों को अपने भोग-विलास की सामग्री बनाकर रखते थे। एक पत्नी-व्रत का मार्ग देखना, तो स्वप्न हो रहा था। इतिहास काल को भी देखिए तो यह विदित हो जाता है कि समाज को कलंकित करने वाली यह पैशाचिकी प्रथा न केवल इधर भारतवर्ष में ही, वरन् सारी पृथ्वी पर प्रचलित रही। अब उसका क्या, कितना और किस रूप में अस्तित्व है, इस पर विचार करना हमारे विषय के बाहर की बात है। हमें तो इतना ही बताना अभिप्रेत है कि राम ने अत्यन्त बलशाली राजा होते हुए भी इस पुरानी प्रचलित प्रथा को, जिसके चक्कर में उनके पिता दशरथ को भी उन्होंने फँसा हुआ पाया था, ठुकराकर जन्मपर्यन्त एक पत्नी-व्रत को इस तरह निबाहा कि उन्होंने स्वप्न में भी कभी पर स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखा। वे चाहते थे कि समाज में हर पुरुष पर-स्त्री को बहन या माता के समान माने तथा एक पत्नी से अधिक पत्नियाँ या दासियाँ किसी के पास न रहें। सीताजी जब विभीषण आदि के द्वारा लंका से राम के पास राजघरानों में प्रचलित प्रथा के अनुसार पर्दे में पालकी पर लाई जाती हैं, तब रामजी उन लोगों को दुतकार कर कहते है कि तुम लोगों ने यह सब क्या लगाया है। सीता को खुली तरह से पैदल लाने दो, ताकि सब सैनिक आदि एकत्रित जन-समुदाय उन्हें माता के रूप में देखकर प्रसन्न

हो। यह महाक्रान्ति का स्वरूप नहीं तो और क्या है? स्त्रियों के प्रति इससे अधिक उच्च क्रान्तिकारी भावना और क्या हो सकती है कि राम के छोटे सौतेले भाई लक्ष्मण अपनी भौजाई के, मार्ग में उछरे हुए पद-चिह्नों तक को इतना पूज्य मानते थे कि कहीं भूल से चलते समय उनके पद-तल उन पर न पड़ जायँ, अथवा जिन्होंने उनके नूपुर को छोड़ अन्य आभूषणों को इसलिए नहीं देख पाया था, कि उन्होंने माता-सीता के अङ्गों की ओर कभी दृष्टि ही नहीं डाली थी। यदि राम की स्त्री-सम्मान-सम्बन्धी दृष्टि इतनी क्रान्तिमय न होती, तो 'अनुज बधू भगिनी सुत नारी, सुनु शठ ये कन्या सम चारी' कहकर बालि को आहत करने का कदाचित् अवसर ही न आता।

(ड) राजनीतिक

उक्त क्रान्तियों से अधिकतम रोमांच उठाने वाली क्रान्ति हमें उस समय देखने को मिलती है, जब हम तत्कालीन इक्ष्वाकुवंशीय राज-शक्ति-क्षीणता के स्थान में राम की पराक्रमिक, यौद्धिक और राजनीतिक कुशलता के फल-स्वरूप उनकी विजय-पताका फहराने के पश्चात् उत्तर भारत से लेकर दक्षिण में लंका तक 'राम-राज्य' की स्थापना का दिग्दर्शन करते हैं। इसका जो संक्षिप्त रूप आप के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, उसे पढ़कर सम्भवतः पाश्चात्य-देशीय पूर्वोक्त क्रान्ति की व्याख्या से प्रभावित हो जाने वाले आधुनिक पाठक भी राम को महान् क्रान्तिकारी स्वीकार करने में आगा-पीछा न करेंगे।

इसे जानने के लिए सब से पहले हमें भारत के उस नक्शे को ध्यान में लाना होगा, जो उस समय की तत्सम्बन्धी भौगोलिक और राजनीतिक स्थितियों पर प्रकाश डाल सके। घटना सहस्र वर्ष पूर्व की है। तब से नाम, रूप या स्थानों में अनेक परिवर्तन हो चुके है। इन परिवर्तनों की जानकारी के लिए हमारे पास कोई प्रामाणिक इतिहास-साहित्य का साधन भी नहीं है। इसलिए, उक्त स्थितियों का पूर्ण शुद्ध रूप जानना कठिन है। फिर भी

रामायण के आधार पर ही आवश्यक ज्ञान कर लेना कोई कठिन नही, इस हेतु हमने पाठकों के लाभार्थ तत्कालीन हिन्दुस्तान (भारत) का एक नकशा पुस्तक के अन्त में दिया है।

उन दिनों भारत का बहुत अधिक भाग वन-प्रधान था। अपने विषय की दृष्टि से उसको दो भागों में देखिए। एक उत्तरीय भाग, जो नर्मदा-ताप्ती नदी के उत्तर में पड़ता है और पूर्व की ओर सरयू-गंगा के संगम के आगे गंगा के निकटवर्ती स्थानों में कुछ दूर तक इस तरह बढ़ता जाता है कि उसके अन्तर्गत तत्कालीन मिथिला-राज्य आ जाता है, जिस पर राजा जनक राज करते थे। उसी राज्य के अन्तर्गत अथवा उसके बाहर कुछ अन्तर से दक्षिण-पूर्व में एक वन-प्रदेश था, जो ताटका (ताड़का) वन के नाम से उस समय प्रसिद्ध था। उसकी स्वामिनी ताड़का राक्षसी थी। ताड़का का पुत्र मारीच था। उसी वन में कुछ भाग पर अथवा उसके समीप सुबाहु नाम के राक्षस का भी आधिपत्य था। सरयू-गंगा के संगम पर शिव के उपासक ऋषि-मुनियों का एक आश्रम था, जो उसके पूर्व से ही 'शियाश्रम' कहाता था, जिसका संकेत उक्त नक्शे में (१) से किया है। इस 'शिवाश्रम' से प्राय: दक्षिण की ओर वर्तमान बक्सर[१] के समीपस्थ सोन नदी के दक्षिण में नकशा (२) के सांकेतिक स्थान पर 'विश्वामित्र का सिद्धाश्रम' था, जहाँ उनके साथ सम्भवत: विष्णु के उपासक कुछ ऋषि-मुनि रहते थे। जनक-राज्य के दक्षिण-पश्चिम में अवध "कौशल" का राज्य था, जिस पर राजा दशरथ राज करते थे। इस तरह उत्तरीय भाग में सिंध आदि पंच-नदियों के प्रदेश, पंजाब से लेकर गंगा-जमुना आदि के कछारों या मिथिला राज्य तक आर्य जाति के राजाओं का, अर्थात् उन लोगों का राज्य था, जो आधुनिक इतिहासज्ञो के मतानुसार मध्य एशिया से आकर भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में धँसते हुए पूर्व की ओर बसते गये। इन समस्त आर्य-राजाओं में से उस समय केवल अवध-राज्य और मिथिला-राज्य—ये ही दो

---

१. मर्यादा पुरुषोत्तम राम (माधव पुस्तकालय, देहली), पृ० ३६।

राज्य प्रधान थे। दोनों के आदि पुरुष इक्ष्वाकु थे, जैसा कि पिछले सातवें अध्याय में कह आये है।

नर्मदा-ताप्ती के दक्षिणीय भाग में अनार्यो का, अर्थात् वहाँ के आदिवासियों का राज्य था। रामायण से विदित होता है कि इन आदिवासियों में गृद्ध, वानर और ऋक्ष नामक जातियाँ भी थीं। इनमें से गृद्ध और वानर जाति वालों के दो अलग-अलग राज्य भी थे। गृद्ध-राज्य का अधिपति जटायु था, और वानर-राज्य का बालि। गृद्ध-राज्य के विस्तार या प्रभाव की अपेक्षा वानर-राज्य अधिक विस्तृत और प्रभावशाली था। बालि-राज्य की राजधानी किष्किन्धा थी, जो एक लेखक के अनुसार वर्तमान विजयानगर के पास थी,[१०] हालाँकि हमारी समझ में वह उससे अधिक दूर दक्षिण-पश्चिम ओर वानर-राज्य की उस 'मधुवन' वाटिका से कुछ दूरी पर—जैसा कि मानचित्र में दर्शाया गया है—रही होगी, जिसके फलादि वानरों ने लंका से हनुमान् के लौटने पर खाये थे। यह 'मधुवन' महेन्द्र पर्वत के निकट कहीं रहा होगा, और यह महेन्द्राचल समुद्र के उत्तरीय किनारे पर होना चाहिए, क्यो कि लंका जाते समय हनुमान् उसी पर से आकाशगामी हुए थे और वहाँ से लौटते समय भी वे उसी पर उतरे थे, जहाँ अन्य वानर उनकी बाट देख रहे थे। किष्किन्धा नगर जहाँ भी रहा हो, पर यह निश्चय रूप से प्रतीत होता है कि बालि-राज्य गोदावरी नदी के उत्तरीय भाग से लेकर दक्षिण में समुद्र तक काफी लम्बा-चौड़ा रहा होगा। उसके उत्तर में नर्मदा-ताप्ती तक धँसा हुआ जटायु का राज्य रहा होगा। प्रतीत होता है कि दशरथ के पहले उनके किसी चक्रवर्ती पूर्वज के समय इक्ष्वाकुवंशीय राज्य की छत्रछाया (Supremacy) भारत के दक्षिणी भाग तक फैल चुकी थी, जैसा कि लक्ष्मण और राम के द्वारा सूर्पनखा और बालि को दण्ड देते समय की वार्ताओं से विदित होता है; परन्तु दशरथ के समय तक अवध-राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी, जिसके फलस्वरूप बालि का वानर-राज्य स्वतंत्र हो

---

१०. " " , पृ० ३४।

गया था। चूँकि जटायु ने सीता को रावण से छुड़ाने के अभिप्राय से रावण से युद्ध किया था, और चूँकि राम ने उसे अपने पिता का मित्र कहकर उसके अन्त्यसंस्कार किये थे, इससे सिद्ध होता है कि केवल गृद्ध-राज्य तक अवध-राज्य की छत्र-छाया शेष रह गई थी।

उत्तरीय भाग के आर्य लोगों में नैतिकता (morals) और संस्कृति (culture) का विकास तो बढ़ता गया था, परन्तु अर्थप्रद साधनों की सुलभता तथा पारस्परिक कलह आदि के कारणों से पदार्थत्व (materialism) के विकास में कमी होती गई। इसके विपरीत वन-प्रधान दक्षिणी भाग के अनार्यों में यद्यपि नैतिकता और संस्कृति का विकास कम था, तथापि वे शारीरिक तथा पदार्थ-वैज्ञानिक कलाओं में आर्यों की अपेक्षा अधिक बलवान् और निपुण थे। बालि का बल इतना चढ़ा-बढ़ा था कि तत्कालीन महाबली लंकाधिपति रावण को भी उससे संधि करनी पड़ी थी।[११] कहावत तो यहाँ तक है कि बालि ने रावण को छः मास तक अपनी कोख में चपेट कर रखा था।

वह रावण कोई ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नही था। वह था, राक्षस-जाति लंकाधिपति। चहुँ ओर से प्रकृतिदत्त समुद्र-द्वारा रक्षित रहने के कारण उसे अपने राज्य को उन्नत करने एवं लौकिक शक्ति को बढ़ाने में पर्याप्त योग प्राप्त था।[१२] अतएव, वैभवशालिनी लौकिक दक्षता में उसके समान उस समय कोई नहीं था। पदार्थ-विज्ञान की कुशलता तो मानो उसके घर की दासी थी; पर उसके वैभव और सफलता ने उसे क्रोधी-लोभी और कामी भी खूब बना रखा था। देश-विदेश में उसके भय से लोग थर्राते थे। उसके चिल्लाने से स्त्रियो के गर्भ तक गिर जाते थे। इतना ही

---

११. वालमी० रा० उ० कां० ३४।४०–४२।

१२. कुछ लोग वर्तमान लंका को प्राचीन लंका नहीं कहते। कुछ भी हो, पर इतना निश्चय है कि वह भारत के दक्षिण में थी और उसके चहुँ-ओर समुद्र था।

नहीं उसने भारत पर भी आक्रमण करना और विविध प्रकार से आतंक फैलाना प्रारम्भ कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसने भारत के दक्षिणीय उस जंगली भाग में, जिसे दण्डकवन कहते थे और जो सम्भवतः वेनगंगा के पूर्व या किष्किन्धा राज्य के उत्तर में था, अपना आधिपत्य जमा लिया, जिस पर उसके भाई खर और दूषण अपनी फौज-पलटनों के साथ उसकी ओर से राज्य करने लगे। पड़ोसी बालि से संधि कर दण्डकवन में स्थित उसने अपने इस उपनिवेश को सुरक्षित भी कर लिया था। गंगा से लेकर गोदावरी तक का भाग दण्डकवन कहाता था।[13] इसके अतिरिक्त उसने अपनी ओर से अथवा अपने सहयोग से इसी देश के उत्तरीय, अथवा भारत के उत्तर पूर्वीय भाग में ताड़का-मारीच और सुबाहु के अधिकार में एक दूसरा उप-

---

१३. चार्ल्स जोपिन ने अपने द्वारा निर्मित हिन्दुस्थान के ऐतिहासिक एटलस में प्राचीन आर्य भारत की स्थिति बताने के लिए नकशा दिया है तथा तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण करने के लिए एक वक्तव्य भी लिखा है। वह यह है—

"Part at least of the story of the Ramayana was acted in the land of Kosala, on the banks of the Gomti, Saryu and Airavati, with its capital Ayodhya, and in the Kingdom of mithila with their chief town Janakpur. South of the Ganga as far as the Godavari stretched Dandak, the great forest. The other countries mentioned in the epic can not be determined......Some of Kosala had wandered to the South and settled south of the Vindhya and on the banks of the Narbada and Vena (Wainganga). Other Aryans settled on the Godavari, on the Payoshni (Tapti) and in the coast land south of the Payoshni, which was called Prabhasa."

निवेश बसा दिया था, जिसके विषय में अभी ऊपर कहा जा चुका है। इन दोनों उपनिवेशों के राक्षस शासक, सैनिक तथा जनता भारतीय जनों, ऋषि-मुनियों, तपस्वियों एवं निकटवर्ती या दूरवर्ती राजाओं आदि पर न केवल कर आदि वसूली करने में, बल्कि और भी नाना प्रकार से अत्याचार ढाते थे। रावण जनक के दरबार तक धावा कर आया था, और सम्भवत. सीता को वरण करने के लोभ-वश सीय-स्वयम्बर के हेतु किये गये धनुष-यज्ञ के पहले ही शिव-धनुष को उठाने के हेतु अपनी ताकत आजमा आया था। उधर चक्रवर्ती अवध-राज्य के राजा अनरण्य से भी युद्ध कर उसे दिग्विजय के समय मार आया था।

आनार्यो की दक्षिण में स्वच्छन्दता और राक्षसों का प्राय: पूरे दण्डक-वन में प्रसार एवं उनके अत्याचार और आक्रमण क्यों हो रहे थे, उनका एक मात्र कारण यही था कि आर्य राजाओं की शक्ति क्षीण हो रही थी। एक ओर मिथिला के राजा लोग, एक के बाद एक चिरकाल से अध्यात्म-वादी (विदेह) होते गये, इसलिए उनकी सैनिक शक्ति यहाँ तक क्षीण होती गई कि ताड़का-मारीच या सुबाहु ने मिथिला-राज्य ही के दरवाजे खटखटाना शुरू कर दिये। दूसरी ओर, अवध के राजा अधिकतर नाम मात्र के चक्रवर्ती रह गये। यद्यपि बीच-बीच में सगर, हरिश्चन्द्र या रघु आदि कुछ चार-छः राजा योग्य अवश्य हुए, तथापि राजा मान्धाता के पौत्र अनरण्य के समय से साधारणतया अवध-राज्य के सूर्यवंशीय राजाओं की वैभवशालनी गति का ह्रास होता ही गया। सगर का पुत्र असमंजस और असमंजस के सौतेले साठ हजार भाई सब-के-सब निकम्मे या दुराचारी निकले। कल्माषपाद गौ-ब्राह्मण तथा धर्म के प्रति इतना श्रद्धाहीन हो गया कि उसने गोवध-जैसे नीच कर्म पर रोक न लगाई। मूलक नारी-कवच बन गया। रघु ने यद्यपि खोये हुए वैभव को फिर से एक बार उठाने का प्रयास किया, तथापि राज्य-कोष खाली हो जाने से उसको अपने जीवन के अन्तिम दिन निर्धनता में व्यतीत करने पड़े। रहे रघु के पौत्र राम के पिता, जो राजा दशरथ थे, सो उनका हाल कुछ न पूछिये।

राम-लक्ष्मण आदि जैसे सुपुत्र होने के कारण उनके भाग्य की प्रशंसा चाहे जितनी कर ली जाय; पर यथार्थ में उनमें अपने पूर्वजों-जैसा सूर्यवंशीय शौर्य नहीं था। विलासी आप इतने थे कि वाल्मीकि के कथनानुसार तीन पट-रानियों के अतिरिक्त आपने साढ़े तीन सौ रानियाँ और बना रखी थीं। क्षत्रियत्व आप में इतना था कि देवासुर-संग्राम में अपनी रानी कैकेयी की सहायता लेकर लड़े। रावण के नाम से आप इतने थर्राते थे कि जब विश्वामित्रजी राम-लक्ष्मण को माँगने के लिए आए, तो उक्त ऋषि से बड़ी कातरता से कहने लगे कि हे मुने, जिस रावण की आज्ञा से मारीच-सुबाहु आदि राक्षस उत्पात मचाते हैं, उसे तो देव, दानव गन्धर्व, यक्ष, पक्षी और साँप भी युद्ध में नहीं जीत सकते, तब भला मनुष्य की क्या गिनती है।

देव दानव गन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि॥"[१४]

जिस राजा ने किसी अत्याचारी व्यक्ति के प्रति यह धारणा बना ली हो, वह भला उसके आश्रितों तथा अधीनस्थ लोगों के विरुद्ध कैसे चूँ कर सकता है? और जब चूँ करने का साहस नहीं, तो फिर उसकी बाढ़ को कौन रोक सकता है। तभी तो दशरथ ने विश्वामित्रजी से खुले शब्दों में कह दिया कि न तो मैं युद्ध में उस दुरात्मा के सामने टिक सकता हूँ (नहि शक्तोस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः)[१५] और न मैं उसकी सेना के विरुद्ध ही लड़ सकता हूँ (तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः)।[१६]

चक्रवर्ती राजा का जब यह हाल था, तो दूसरे छोटे-छोटे राजाओं से क्या आशा की जा सकती थी। एक ओर तो उनमें परस्पर विरोध था, और

---

१४. बालमी० रामा०, बा० कांड, २०।२२।
१५. बालमी० रामा०, बा० कां० २०।२२।
१६. बालमी० रामा०, बा० कां०, २०।२३।

कुछ अत्याचारी भी थे। कई एक इतने पापाचारी हो गये कि गौ-ब्राह्मणों की रक्षा करना तो दूर रहा, उन्हीं पर अपना बल या क्रोध प्रकट करने लगे। सहस्रबाहु ने परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि का सिर ही काट लिया। इस तरह जब धर्म की हानि हुई और क्षत्रियों के हाथ से क्षत्रित्व गिर गया, तो उसे सम्भालने का भार ब्राह्मण ही को सौंपा गया। भृगुपति परशुराम ने यह भार लिया; परन्तु उन्होंने इतना क्रोध किया कि इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओं पर आक्रमण कर उन्हें इस तरह तहस-नहस कर दिया कि वे उनको देखते ही ऐसे छिप जाते थे, जैसे 'बाज झपट जनु लवा लुकाने' हों। परशुराम की इस नीति से देश को कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टी हानि ही हुई। उनके हाथ में यह कार्य जाने से एक तो अवध-राज्य की चक्रवर्तीपन की, जो परम्परा से प्राप्त धाक शेष थी, वह मटियामेट हो गई, जिससे केन्द्रीय शक्ति अत्यन्त निर्बल पड़ गई। दूसरे भयभीत राजागण न तो स्वयं संगठन की ओर कदम उठा सके, और न परशुरामजी ने स्वयं उस ओर कुछ लक्ष्य दिया। तीसरे, इस असंगठन और निर्बलता का लाभ उठाकर न केवल वानर-राज्य स्वतंत्र हो गया, वरन् राक्षसों को अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए पर्याप्त अवकाश हाथ लगा।

देश पर जब इस प्रकार की नौबत आ पहुँचती है, तब स्वाभाविकतः कुछ विचारशील देशवासियों के मन में उसे मुक्त करने की धुन सवार हो जाती है, और फिर वे एक मत से उस सम्बन्ध में कुछ योजना तैयार करते हैं। ऐसे महापुरुषों में हमें विश्वामित्र का स्थान सर्वप्रथम दिखता है।

विश्वामित्र एक बड़े तेज तर्रार क्षत्रिय राजा थे। उन्हें अपने मान-मर्यादा की रक्षा का विशेष-ध्यान था। उन्हें शस्त्र-अस्त्रों का अद्वितीय ज्ञान था, और इसलिए प्रतीत होता है कि वे युद्ध-विद्या में भी अवश्य निपुण रहे होंगे। क्षत्रिय-गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे राजर्षि कहलाते थे। परन्तु वे क्रोधी भी अधिक थे; इसलिए कारणवश उनकी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से, जो पहले मित्र थे, ठन गई थी। दोनों में लड़ाई भी खूब चली। उसमें उनकी हार हुई। तब उन्होंने उक्त युद्ध में बचे हुए अपने एक-मात्र पुत्र

को राज्य सौंप दिया और वन में जा उग्र तप किया, जिससे उन्होंने क्रोध पर विजय प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उनमें अपने सामने परोसे हुए अन्न को अतिथि को दे देने की क्षमता भी आ गई। इन दो गुणों के आ जाने पर वे ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी हुए, जिसका अनुमोदन वशिष्ठजी ने स्वयं सहर्ष किया। इस तरह विश्वामित्र और वशिष्ठ दोनों ब्रह्मर्षियों की पुनः मित्रता हुई।[१७]

विश्वामित्र जब राजा थे, तभी उनको राक्षसों और अनार्यों की बाढ़ खल रही होगी, इसमें सन्देह नहीं—विशेषकर इसलिये कि उनके पिता गाधि को भी दुष्यन्त, सुरथ, गय और पुरूरवा आर्य नृपतियों के समान रावण के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा था।[१७] (अ) परन्तु वशिष्ठ के साथ लड़ाई में कई दिनों तक उलझे रहने के कारण उनके विरुद्ध कोई सक्रिय कदम उठाना उनके लिए सम्भव न था। उसके बाद वे तपस्या में लग गये। परन्तु तपस्या के समय भी उन आततायियों ने उन्हे सताया। वे सिद्धाश्रम में कोई ऐसा यज्ञ सम्पन्न करना चाहते थे, जिसमें लगातार शान्तियुक्त मौन रहने की आवश्यकता थी। परन्तु ताड़का, मारीच, सुबाहु तथा उनके साथी अन्य राक्षस गुप्तरूप से मांस-रक्त आदि बरसा कर यज्ञ में विघ्न डाल दिया करते थे। उनका यह दुराचार अन्य आश्रमवासियों के साथ भी हुआ करता था। ऐसे समय पर जब कि परशुरामजी बागडोर सम्हालने में असफल सिद्ध हुए तथा और कोई उसे सम्हालने वाला नहीं दिखा, तब धर्म के रक्षण और देश के उद्धार के लिए उनका ध्यान इस बात पर गया कि अवधराज्य को ही पुनः ऐसा शक्तिवान् बनाया जाय कि वही उन दुराचारियों से युद्ध कर यश का भागी हो। वे राम के गुण-गान

---

१७. बालमी० रामा०, बा० कां० सर्ग ५५ से ६५ तक (विशेषकर ५५, ६४, ६५)।

१७(अ). रामायणकालीन समाज (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली), अ० ३, पृ० २८।

सुन चुके थे। इसलिए उनके द्वारा उन्हें न केवल अपने यज्ञ-रक्षण में, वरन् देशोद्धार में सफलता मिलती नजर आई ; अतः वे राम-लक्ष्मण को लाने के लिए दशरथ के दरबार में पहुँचे। दशरथ ने राम-लक्ष्मण को उनकी कुमारावस्था के कारण ताड़का, मारीच आदि राक्षसों से लड़ने को असमर्थ समझ विश्वमित्रजी को उन्हें देना अस्वीकार कर दिया। परन्तु, बाद में अपने कुलगुरु एवं मुख्यमंत्री वशिष्ठजी के समझाने पर राजी हो गये। वशिष्ठजी ने यह क्यों किया, इसमें हमें यह रहस्य प्रतीत होता है। विश्वामित्र ने वसिष्ठजी के साथ या तो अवध में पहुँचने के बाद अथवा उसके पहले किसी दूसरे समय पर देश की पतित दशा पर मन्त्रणा की होगी और राम की योग्यता देख दोनों की सम्मति यही रही होगी कि राम के द्वारा अवध-राज्य को फिर से उठाया जाय और भारत अनार्यो या राक्षसों के पंजे से छुड़ाया जाय ; ताकि आर्य-संस्कृति का लोप न हो सके। इसी गहरी धारणा से प्रभावित होकर न कि केवल विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षण के लिए, उन्होंने राजा दशरथ को उनके प्राण-प्रिय किशोर पुत्रों को दे देने के लिए मन्त्रणा दी होगी। गुरु वशिष्ठ की आज्ञा को स्वीकार कर दशरथ ने राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र को सौप दिया। तब तीनों 'शिवा-श्रम' पर पहुँचे। स्वभावतः वहाँ के आश्रमवासियों ने राक्षसी-अत्याचारों का वर्णन दोनों राजकुमारों को सुनाया। तत्पश्चात् उन्हें विश्वामित्र ने दण्डकवनवासी ताड़का, मारीच आदि के वास या दुराचारों का परिचय कराया। ताड़का को मार्ग में ही राम ने जा गिराया। तत्पश्चात् 'सिद्धा-श्रम' में पहुँच विश्वामित्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया तथा राम ने सुबाहु और अन्य विघ्नकर्ता राक्षसों का अन्त किया एवं मारीच को ऐसा तीर मारा कि वह सौ योजन दूर समुद्र के किनारे जा गिरा। इसका अभिप्राय हमारी समझ में यह है कि अन्य राक्षस तो मारे गये, पर मारीच मार-खाकर भाग गया। इस तरह यज्ञ विधिपूर्वक निर्धारित अवधि के भीतर निर्विघ्न समाप्त हुआ। विश्वामित्र प्रसन्न हुए और राम-लक्ष्मण को एक-से-एक बढ़कर शस्त्र-अस्त्र की विद्याएँ सिखाईं तथा अपने संचित शस्त्रास्त्र

भी सौप दिये । इसके बाद सिद्धाश्रमवासी राम-लक्ष्मण-विश्वामित्र समेत जनकपुर सीता-स्वयंवर के हेतु किये जाने वाले धनुष-यज्ञ को देखने गये। वे सोन नदी को और फिर गंगा को पार कर वैशाली (विशालपुरी) से होते हुए मिथिला-राज्य के निकट मानचित्र में (३) से बताये स्थान पर जनक-राज्य के राजगुरु सतानन्द के पिता गौतम ऋषि के आश्रम पर पहुँचे, जहाँ गौतम की पत्नी अहिल्या का उद्धार किया । तत्पश्चात् जनकपुर गये, और यथासमय राम द्वारा धनुष तोड़े जाने पर सीता ने राम को जयमाल पहनाई । इस यशस्वी कार्य के संपन्न होने पर एक प्रमुख घटना आती है, और वह यह है कि ब्राह्मण परशुरामजी ने क्षत्रित्व की बाग-डोर अपने हाथ से पुनः सूर्यवंशीय युवक क्षत्रिय राम के हाथ सौंपी । देश के धन-धर्म की बागडोर एक युवक के हाथ में सौपा जाना कोई साधारण बात नहीं थी । जिस दिन परशुराम ने अपना धनुष राम को सौप उस पर रोदा चढ़ाने के लिए कहा, अर्थात् जब उन्होंने अपने काम का भार राम पर छोड़ा, उसी दिन से राम पर भारी उत्तरदायित्व आ पड़ा। और, क्या आपने सोचा कि यह भार किन की अनुमति से राम के सिर पर रखा गया। यह रखा गया उस समय के तीन महाव्यक्तियों की अनुमति से, जिन्होंने राम के बाल्य-काल से लेकर अभी तक के उनके कार्यों को देखकर उन्हें उक्त उत्तरदायित्व को भली-भाँति निबाहने के योग्य समझ लिया था । वे तीन व्यक्ति थे—वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम । तीनों की अनुमति से यह कार्य सम्पन्न हुआ । इससे यह अभिप्राय नहीं कि धनुष सौपते समय तीनों एकत्र थे। वाल्मीकि विश्वामित्र को बिदा बरात की बिदा के पहले ही जनकपुरी में कर देते हैं और बरात के लौटते समय मार्ग में जब परशुराम का पहुँचना और धनुष देना बताते है, तब केवल दशरथ, वशिष्ठ और अन्य बराती उपस्थित थे । तुलसीदास बरात के आने के पहले ही धनुर्भंग-स्थल पर परशुराम का पहुँचना या लौट जाना कहते है । इस तरह उनके कथनानुसार धनुष विश्वा-मित्र, जनक तथा अन्य एकत्रित राजागण एवं ऋषि-मुनि आदि अतिथियों के सम्मुख सौपा जाता है । तुलसी विश्वामित्र की बिदा बरात लौटकर पहुँ-

चने के बाद अयोध्या से करते है । अध्यात्म रामायण यह कुछ कहती ही नहीं कि विश्वामित्र की बिदा कब और कहाँ से हुई । जो भी हो, इतना निश्चय है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र तो राम की योग्यता को पहले ही परख चुके थे । केवल परशुराम को सन्देह रहा था, सो उन्होंने जनकपुर में स्थित धनुष के भंग की बात सुन और अपने धनुष पर रोदा चढाते हुए देख राम को अक्षयसुरोत्तम आदि समझकर अपने सिर पर चढाये हुए सेहरे को राम के सिर पर इसलिए चढ़ा दिया कि उन्हें उनकी कार्य-कुशलता में कोई सन्देह नहीं रहा । तभी तो वे रामजी से कहने लगे 'धनुषोऽस्य परामर्शाव अक्षयं जानामि त्वांसुरोत्तमम्'[१८] यही भाव उन्होंने, तुलसी के शब्दों में, यह कहकर दर्शाया—'राम रमापति कर धनु लेहू । खेंचहु चाप मिटहि सन्देहू' ।[१९]

कुछ लोगों का कहना है कि तुलसीदास ने परशुराम वाली उक्त घटना को स्थानान्तरित इसलिए कर दिया है कि जिससे पाठकों का मनोरंजन हो । परन्तु हमारी समझ में, उन्होंने उसे सब से अधिक महत्त्व देना चाहा है । वह न केवल राम के जीवन का, बल्कि चक्रवर्ती सूर्यवंशीय अवध-राज्य एवं भारत भाग्य के निर्माता अथवा परिवर्तनकारी चिह्न (turning point) होने वाला था । ऐसा महत्त्व का पद राजाओं, विद्वानों, ऋषि-मुनियों एवं अधिक-से-अधिक जन-संख्या के सामने सौंपा जाता है । वही तुलसी ने किया । वे विश्वामित्र को, जिनके कारण न केवल रामादि यशस्वी और विवाहित हुए, बल्कि दो प्रधान राज-घरानों का सम्बन्ध जुड़ा, अयोध्या तक बरात के साथ ले जाते है और वहाँ से अत्यन्त प्रेम तथा सम्मानपूर्वक राजा दशरथ के द्वारा यह कहलवाते हुए उनको बिदा कराते हैं—

'करब सदा लरिकन पर छोहू, दरसनु देत रहब मुनि मोहू ।'[२०]

---

१८. वाल्मी० रामा० बा० कां०, ७६।१७।

१९. मानस, बा० कां० २८, ३।७।

२०. " " ३५९।७।

बरात लौटने पर विश्वामित्र कुछ दिन अयोध्या में रहे। उन दिनों उन्होंने वशिष्ठजी से पूर्व में निश्चित की गई योजना के भावी क्रम पर परामर्श किया और फिर अपने स्थान पर चले गये। दशरथ के उपर्युक्त चौपाई में कथित प्रेम को देखकर, सम्भव है वे फिर अयोध्या में एकाधबार और आये हों, और वशिष्ठजी से पुन: उस योजना के सम्बन्ध में बात-चीत की हो। उक्त योजना का उद्देश्य था—राम के द्वारा अवध-राज्य का पुनरुत्थान करना, और उसी के बल पर भारत का उद्धार करना। पर यह कैसे हो? अवध में न इतना सैन्य-बल था, न कोष-बल, जिससे वह कुछ जोर मारता, और न कहीं से कोई संगठित प्रबल सहयोग की ही आशा थी। वशिष्ठ और राम के मन में कदाचित् यही चिन्ता चल रही थी कि राजा दशरथ ने राम का अभिषेक करना चाहा। अभिषेक मात्र से क्या होगा, वशिष्ठजी ने सोचा? इसलिए उन्होंने राजा से तो यही कहा कि 'हाँ, अभिषेक अविलम्ब किया जाय; परन्तु उसकी उपयोगिता में संदिग्धता बनी ही रही, जिसके कारण उन्होंने 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब, राम होंहि युवराजु' कह हीं डाला। इधर राम को जब गुरु ने कहा—'राम करहु सब संजम आजू, जौं विधि कुशल निवाहै काजू' तो गुरु के जाने पर राम के हृदय में विस्मय हो उठा कि इस अभिषेक से क्या लाभ होगा? यदि मुझ अकेले को राज्य मिला, तो सम्भव है, भाइयों में, अतिशय स्नेह होने पर भी पारस्परिक ईर्षा या विद्रोह हो उठे, जिसके परिणाम-स्वरूप अवध-राज्य की स्थिति और भी अधिक डाँवाडोल हो जाय और अपने उत्तरदायित्व को पूरा न कर सकूँ। इसलिए विचारशील राम ने अपने मन में यही सोचा कि अपने भार को यथा विधि निबाहने के लिए एक तो राज्य का त्याग करना और दूसरे सैन्य-दल की अपेक्षा शत्रुओं के विरुद्ध जनमत को तैयार करना आवश्यक होगा। शत्रुओं की सैनिक, आर्थिक और संगठित शक्ति के सामने अयोध्या की शक्ति इतनी निर्बल थी कि उसके द्वारा शत्रुओं से पार पाना अतिदुर्गम था। इसी उधेड़बुन में राम चिन्तित हो रहे थे, कि संयोगवश उनके अनुकूल एक समस्या उठ खड़ी हुई। यह समस्या चाहे दैवयोग से आ खड़ी हो, चाहे

विश्वामित्र-वशिष्ठ के परामर्श का परिणाम हो। जो भी हो, कैकेयी के मायके से उसके साथ आई हुई मंथरा दासी ने एक ऐसा, राजनीतिक जाल फैलाया कि राम का मन्तव्य सिद्ध हो गया। मंथरा ने जिस तरह कैकेयी को फोड़ लिया, उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह न केवल असाधारण बुद्धिवाली ही थी, वरन् उसे राजनीति का भी अच्छा ज्ञान था। उसकी योग्यता तो थी कोई अच्छी रानी होने की, पर उसका कुबड़ी होना ही उसके मार्ग में रोड़ा बनकर आ बैठा था। तभी तो वह कहती है—'करि कुरूप विधि पर बस कीन्हा।' भक्त तुलसीदासजी ने अपने स्वामी के नाते यदि मंथरा को कुबुद्धि, पापिनि साँपिनि आदि कहा है, पो कुछ अनुचित नहीं है; पर यदि कोई राजनीतिज्ञ उसकी परख करे, तो वह वाल्मीकि के समान उसे 'वाक्य विशारदा'[२१] और कैकेयी के समान बुद्धि-प्रवीणा तथा माया और विद्यायुक्त राजनीति-निपुण (मतय: क्षत्र विद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते)[२२] कहे बिना नहीं रहेगा। जिस चातुर्यपूर्ण तर्क के साथ उसने राम को सदा के लिए राज्य से च्युत रखने तथा भरत को राज्य-भोक्ता बनाये रखने की बात कैकेयी के मन में भर दी, उससे उसकी राजनीतिक-बुद्धि का पता बड़ी आसानी से लग जाता है। १४ वर्ष तक राम के वन में रहने से, वह कहती है—राम के प्रति प्रजा आदि स्नेहियों का प्रेम घट जायेगा तथा भरत के प्रति बढ़ जायेगा, जिससे भरत अबाधित और शत्रुहीन राज्याधिकारी बने रहेंगे।[२३] यह था उसका सुझाव, फिर उसने यह भी तो सुझाया होगा कि वन में इतनी लम्बी अवधि तक रहने से न जाने राम के जीवन पर क्या-क्या खतरे गुजरेंगे—बचेंगे या नहीं; परन्तु मंथरा की इन सब बातों से हमारे विषय का प्रयोजन केवल इतना ही है कि एक राज घराने में बचपन से पालीपोसी मंथरा, यदि राजनीतिक

---

२१. वाल्मी० रा०, अयोध्या कां० ७।१८।
२२. " " " " ९।४७।
२३. वाल्मी० रा० अयोध्या कां० ९।३१, ३२।

बातों या तत्कालीन देश की परिस्थितियों से परिचित हो गई हो तथा दासी होने के कारण उसको गुरु वशिष्ठ और ऋषि विश्वामित्र से तत्सम्बन्धी सम्पर्क रहा हो एवं उसके फलस्वरूप उसने यह राजनैतिक जाल कैकेयी पर इसलिए फेका हो कि जिससे रामचन्द्रजी को भारतोद्धार करने का निश्चिन्त होकर अवकाश प्राप्त हो सके, तो कोई असम्भव बात नहीं है। इतिहास में आपको ऐसे गुप्त मन्त्रणाओं से भरे एक-दो नहीं, अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। मंथरा की प्रत्यक्ष निर्दय, और घातक दिखने वाली इस कठोर मंत्रणा में रघुकुल की सदा भलाई चाहने वाले वशिष्ठ का किसी प्रकार हाथ कहना, मानो अपने-आप को अनेक धर्म-प्रेमी पाठकों के कोप का भाजन बनाना है; पर यदि यह बात सच है कि अवध-नरेशों पर चक्रवर्ती कहलाये जाने का उत्तरदायित्व था, अवध का सैन्य, कोष वा संगठन-बल बुरी तरह से गिरा हुआ था, रघुवंश के प्रति हृदय से शुभकामना रखने वाले विश्वामित्र या वशिष्ठ अवध के पुनरुत्थान के लिए चिन्तित थे तथा परशुराम ने राम को अपना धनुष सौंपकर उन्हें अपना सर्वोत्तम उत्तराधिकारी चुना था, तो यह समझना कि मंथरा के द्वारा उत्पन्न की गई उक्त परिस्थिति में वशिष्ठ का भी हाथ रहा होगा, राजनैतिक दृष्टि से न तो आश्चर्यजनक ही कहा जा सकता है और न असम्भव ही। अच्छा, अब यदि इस विचार से कि दैव-प्रधानवाली आपकी धार्मिक भावना को ठेस न पहुँचे, यही मान लिया जाय कि मंथरा ने उक्त परिस्थिति दैववश उत्पन्न कर दी, तब भी वशिष्ठ को खुशी ही हुई होगी, क्योंकि उन्हें अपने अभीष्ट को पूरा करने के लिए संयोग प्राप्त हो गया।

भारतोद्धारक उक्त योजना के तैयार करने वालों में हमने विश्वामित्र-वशिष्ठ-परशुराम के साथ केवल राम और मंथरा का ही नाम जोड़ा है, परन्तु एक विद्वान् लेखक ने तो अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यहाँ तक कह डाला है कि उसमें कैकेयी और सीता का भी हाथ था। उक्त महाशय ने अपनी 'मर्यादा पुरुषोतम राम' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक में 'क्रान्तिकारी राम' शीर्षक एक आलोचनात्मक लेख लिखा है, जो पठनीय है। उसमें

उन्होंने राम की इसी राजनीतिक क्रान्ति के पहलू पर विचार प्रकट किये उनका कहना है कि उस समय की गंभीर परिस्थितियों को देख अन सम्राज्यों को भस्मकर आर्यों की विजय-पताका फहराने तथा राष्ट्र संगठित या उन्नत करने की भावना सर्वत्र फैल रही थी और इसी लिए क्रान्ति को सुलझाने का कार्य ऋषियों आदि ने राजनीति-कुशल विश्वा को सौंपा। वशिष्ठ ने उन्हें सहयोग दिया। परशुराम ने भगवान् का प्र स्वीकार कर समस्त राजाओं पर अयोध्या के सिंहासन का सिक्का बैठाय राज्याभिषेक के समय राम इस चिन्ता में व्यस्त थे कि सम्पूर्ण भारत से आर्य-संस्कृति के पवित्र झण्डे के नीचे कैसे आये और सूर्यवंश फि चक्रवर्ती सम्राट् के सिंहासन पर कैसे बैठे। मंथरा ने राष्ट्र की भलाई लिए स्वयं को राष्ट्र-घातक होने के कलंक से लांछित कर लेने का महान् त्याग किया। यहाँ तक तो हम उक्त लेखक, श्रीकण्ठ शा व्याकरणाचार्यजी के विचारों से साधारणतया सहमत है, परन्तु इ अतिरिक्त आपने कुछ ऐसी बातें भी लिख मारी है, जिनसे स्वाभावि व्यावहारिक एवं लौकिक घटना-चक्रों पर अलौकिकता और अस्वाभाविक अन्तर्यामित्व आदि की छाप लग जाने से रूढ़िवादिता प्रदर्शित होने लग है। उनमें से उदाहरण-स्वरूप यह देखिए। आप लिखते हैं कि कैकेयी विचार "भरत को राज्य दिलाना नहीं था, (वरन्) उसने ऋषियों क्रान्ति-आयोजना में सम्मिलित होकर अथवा पार्ट अदा करने को राम वन-गमन की माँग आग्रह-पूर्वक की"[२४] तथा "सीता ने अपशब्द बोल भी लक्ष्मण को पंचवटी से (इसलिए) दूर भेजा और लक्ष्मण की रेखा अन्दर रावण का प्रवेश असम्भव जानकर देव-मुनि-कार्यार्थ वे स्वयं बाहर (इसलिए) आ गई"[२५] कि जिससे रावण उन्हें उठा ले जाय और र का उससे युद्ध छिड़ जाय। कितनी असंगत और लोक-विपरीत बातें

---

२४. मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पृ० ५५।

२५. मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पृ० ५६।

थे ! यदि क्रान्ति-आयोजना में कैकेयी का हाथ था, तो भरत के साथ चित्र-कूट पहुँचने पर जब कि अभी क्रान्ति का श्रीगणेश भी नहीं हो पाया था। वह अपने मन में अपने-आप को कुटिल समझ कर क्यों अत्यन्त पछताती और पृथ्वी, यम या विधाता से क्यों अपनी मौत माँगती, जैसा नीचे की पंक्तियों में कवि ने व्यक्त किया है—

'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई, कुटिल-रानि पछितानि अघाहीं।
अवनि जमहिं जाँचति कैकेई, महिन बीच विधि मीचुन न देई।'[२६]

यदि कैकेयी को यही अभीष्ट था, तो क्या जरूरत थी कि वह उसी मंथरा के साथ, जो ऋषियों की क्रान्ति-आयोजना में सम्मिलित होकर उसकी सहयोगिनी थी, राजा से वरदान माँगने के बारे में एक पर्याप्त लम्बा-चौड़ा वार्तालाप करने तथा बड़ी कठिनाई के पश्चात् तत्सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार करने का स्वांग रचती, जब कि उस समय पास में उन दोनों के सिवा तीसरा कोई व्यक्ति नहीं था। यह बात ठीक है कि कैकेयी ने राम को चौदह वर्ष दण्डक वन में ही रहने के लिए राजा से वरदान माँगा—"नवपंच च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः"[२७] परन्तु यह सूझ कि राम को दण्डक वन में ही भेजा जाय, कैकेयी खुद की नहीं हो सकती। वह हो सकती है उसी मंथरा की, जिसने कैकेयी को ग्रामोफोन का रिकार्ड जैसा भर दिया था। यह सत्य है कि मंथरा और कैकेयी के वार्तालाप में केवल वन भेजने की—न कि दण्डक-वन भेजने की—बात आई है; पर इस का यह अर्थ नहीं कि वाल्मीकिजी ने उक्त वार्त्तालाप का एक-एक शब्द लिख दिया है, उसमें से कुछ छूट जाना भी सम्भव है; अतः कैकेयी-दशरथ के वार्त्तालाप में 'दण्डकारण्यमाश्रितः' आ जाने मात्र से उक्त विद्वान् लेखक का यह निदान निकालना कि कैकेयी का भाग क्रान्ति की आयोजना में था, प्रामाणिक और युक्ति-संगत नहीं है।

---

२६. मानस, अयोध्या कां० २५१।५०६।

२७. मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पृ० ३८, (वा० रा० अयो० कां० १२।२६)।

यह भी सत्य माना जा सकता है कि रानी कैकेयी को अवध-राज्य के अशक्त सैन्यबल तथा संकुचित कोष-स्थिति का ज्ञान होगा, परन्तु उसके कारण यह कहना कि उसकी यह इच्छा थी कि राम के भावी संग्रामों में अवध-राज्य पर कोई आँच न आने पाये, और इसलिए उसने भरत को राज्य देने और राम को वन जाने की बात को स्थान देकर क्रान्ति की योजना तैयार की, उतना ही गलत है जितना कि दण्डक वन-सम्बन्धी उपरोक्त विचार। ये विचार ऋषियों और मंथरा के ही हो सकते हैं। उन्ही से प्रभावित होकर तथा मूल भाव को छिपाकर मंथरा ने कैकेयी को उल्टी पट्टी पढाई और उससे दो प्रधान बातें करनेवाली, एक भरत को राज्य और दूसरे राम को १४ वर्ष तक दण्डकवन में वास। राम ने स्वयं वशिष्ठ और विश्वामित्र के सम्मुख यही इच्छा प्रकट भी की होगी, क्यों कि जैसा हम पहले कह आये है, विना त्याग तथा शत्रु अधिकृत-विभाग में जन-शक्ति-संगठन के, उनका अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता। श्रीकण्ठ शास्त्री ने जिस प्रकार कैकेयी को अस्वाभाविक आधार पर क्रान्ति में समेट मारा है, उससे कहीं अधिक अस्वाभाविकता उन्होंने सीता को समेटने में बताई है। रावण के पास चले जाने का विचार सीता के मन में कब उठा, अपने-आप उठा या राम ने उठाया, लक्ष्मण को विदित हुआ या नहीं, यदि लक्ष्मण को नहीं बताया, तो क्यों नहीं बताया, हरे जाते समय रावण को खल आदि कहकर क्यों डाँटा और विविध विलाप क्यों किये आदि-आदि अनेक ऐसे प्रश्न उठते हैं, जिन का उत्तर देना कठिन है। यदि यह कहा जाय कि सीता पहले से सब जानती थी और राम भी पहले से सब जानते थे, जैसा कि उन्हें ईश्वर-रूप माननेवाले कहते हैं, तो राम-कथा में वर्णित मानव-चरित्र नाम के इस विस्तृत ढकोसले को कहने की आवश्यकता ही क्या थी? राम और सीता घर बैठे-बैठे जादू-मंत्र फूँकते जाते या चुटकियाँ बजाते जाते और सारे काम का तमाशा ही एक पल में करके दिखा देते। यदि लीला का यही अर्थ है, तो घर बैठे ही सब क्यों नहीं कर डाला? यह सब वनवास आदि का ढोंग ही क्यों रचा? अयोध्या से वन के लिए प्रस्थान करते समय सीता का राम

के साथ जाने का मान-मनौआ क्यों कराया, एक बार नहीं दो बार। अग्नि में प्रवेश ही क्यों कराया? लक्ष्मण से रेखा ही क्यों खिचाई? इत्यादि। कहना और बताना कुछ, और करना कुछ और ही, ये ही क्या ईश्वरावतार के लक्षण है? यह तो ढोंग (hypocracy) ही हुआ न? इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है कि आदर्श पतिव्रता माहेश्वरी के विषय में यह कहा जाय कि वह स्वयं रावण की झोली में पहुँचने के लिए लालायित थी। यदि राम को यह मालूम हो जाता, तो वह बेचारा ऐसी पत्नी के लिए कदाचित् ही लड़ता। यदि शरम-संकोचवश, अथवा सीता की करतूति की अनभिज्ञतावश लड़ता भी, तो उस धोबी को तानाबाजी करने का अवकाश ही न आता, जिसके कारण राम ने सीता को त्यागा था, क्यों कि राम शायद उसे अपने साथ अयोध्या को लाते ही नहीं, वहीं कहीं छोड़ आते!

इसलिए हमारा निष्कर्ष तो यही है कि विश्वामित्र को कुछ दिनों के चिंतन के बाद अपनी बहन के पौत्र परशुरामजी के सुयोग से राम को धनुष सौंपे जाने के रूप में क्रान्ति का जो बीज प्राप्त हो सका था, वही उन्होंने वशिष्ठ के सुपुर्द किया, और वशिष्ठ की मंत्रणा से उसी को गरीब, पर चतुर और परिश्रमशील कृषक के समान मंथरा ने कैकेयी-रूपी भूमि में बोया। प्रश्न यह है कि क्या राम का भी मंथरा के द्वारा किये गये इस बीजारोपण में हाथ था? नही, नही था। दण्डकवन जाकर क्रान्ति करने की चिन्ता राम के सिर पर अवश्य नाच रही थी और गुरु वशिष्ठ के सम्मुख उन्होंने उसे एक से अधिक बार प्रकट भी की होगी, इसमें सन्देह नहीं। दण्डकवन पहुँचने के हेतु उनके सामने केवल तीन ही मार्ग थे। एक तो यह कि अवध के राजा बन सेना आदि लेकर वहाँ जायें; परन्तु ऐसा करने में उन्हें भारी राजनैतिक भूल और खतरा दिखाई दे रहा था, क्यों कि एक तो राज्य-शक्ति निर्बल थी, दूसरे कार्य इतना बड़ा था कि कई वर्षो तक राज्य छोड़कर बाहर शत्रुओं के बीच में रहे बिना उसका सिद्ध होना असम्भव था। इस लम्बे काल में राज्य की परिस्थिति में क्या-क्या आपत्तियाँ उस ज़माने में

आना सम्भव था, यह राम-जैसे कुशाग्र बुद्धिवाले राजकुमार को जानना कठिन नहीं था; अतः यह मार्ग उचित नहीं ठहरा। दूसरा मार्ग था, राज्य छोड़कर ही चले जाना। ऐसा करने में मर्यादा-प्रेमी राम-जैसे पुत्र के लिए पिता की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था; परन्तु, पिता पुत्र से इतने आसक्त थे कि उनका पुत्र के बिना जीना (जीवन मोर राम बिनु नाहीं) असम्भव था। इस अतिशय मोह के कारण पिता की आज्ञा मिलना असम्भव थी; अत. इस मार्ग का ग्रहण करना भी नहीं हो सकता था। तब तीसरा मार्ग यह था कि पितादि की परवाह न कर चले जाना। ऐसी स्थिति में पिता का प्राणान्त हो जाना प्रायः निश्चित था। ऐसी दशा में पिता-घातक होने का पाप लगता; इसलिए यह भी उचित न समझा गया। राम की इन कठिनाइयों पर वशिष्ठ का ध्यान अवश्य आकर्षित किया गया होगा। अतएव, देश की आवश्यकता तथा राम की दण्डकवन जाने की आतुरता एवं उक्त कठिनाइयों से प्रभावित होने पर वशिष्ठजी ने 'साँप मरे न लाठी टूटे' वाली उक्ति के अनुसार ऐसा उपाय सोचा कि राम अलग के अलग रहें, और राज्य छोड़ वन जाने के लिए उन्हें पिता की सम्मति भी मिल जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर वशिष्ठ और मंथरा ने उक्त दो वरदानवाली राजनैतिक चाल खेली। चूँकि मामला बड़ा गम्भीर था, इस-लिए दोनों ने यह निश्चय कर लिया कि वह इतना गुप्त रखा जाय कि वह किसी तीसरे को विदित न होने पाये, तथा उसके सम्पन्न करने में विलम्ब भी न किया जाय, क्यों कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि विलम्ब के कारण राजनीतिक गुप्त मन्त्रणाओं का भंडाफोड़ हो जाने से अनेक आयोजित कार्य निष्फल हो जाया करते हैं। तभी आप देखते है कि राजा-द्वारा राम के अभिषेक की बात कही जाने पर वशिष्ठजी ने भरत-शत्रुहन को बुलाने तथा अन्य सम्बन्धियों आदि को आमन्त्रित करने वगैरह का कोई प्रस्ताव राजा के सामने नहीं रखा, बल्कि 'बेगि विलम्ब न करिय नृप, साजिय सबुइ समाज' कहकर उसे जल्दी से सम्पन्न कर डालने का सुझाव प्रस्तुत कर दिया और राजा ने भी उसे स्वीकार कर सचिवों को 'बेगि करहु सोइ सोइ'

का आदेश दिया। यहाँ तो राजा को यह कहा कि अभिषेक करने में विलंब न किया जाय, और वहाँ मंथरा के कानों में यह भर दिया कि जो कुछ होना हो, सो आज ही की रात में हो जाना चाहिए; ताकि राम को दूसरे दिन सुबह होने वाला राज्य-तिलक न हो पाये। मंथरा ने वही किया। उसने कैकेयी को 'होइ अकाजु आज निशि बीते, वचन मोर प्रिय मानहु जीते' कहकर ऐसे रंग पर चढा दिया कि वह टस से मस नहीं हुई और रात-भर में सारा पासा पलट दिया।

यह गुप्त रहस्य वशिष्ठ और मंथरा के अतिरिक्त किसी तीसरे ने नहीं जाना और रात-भर में कार्य सम्पन्न हो गया। सुबह होते ही नगर-भर में कोलाहल मच गया कि यह क्या हो गया—राज्य-ग्रहण करने के बदले राम वनवास को जाएँगे, यह बात घड़ी भर में फैल गई। सब के मुखों का रंग आश्चर्य और क्रोध के वश कुछ-का-कुछ हो गया। कैकेयी पर गालियों या धिक्कारों की जगह-जगह पर बौछारें होने लगीं; पर राम के हृदय में हर्ष न समाया। राज्य-भर से मुक्त रहकर अब उन्हें पिता की आज्ञा से दण्डक वन में चौदह वर्ष रहने को मिलेगा, यह जानकर उन्हें अति आनन्द हुआ। वे कैकेयी, राजा दशरथ तथा माता कौशल्या से मिले और तीनों के सामने उन्होंने वन का जाना मंगलमय बताया; क्यों कि वहाँ मुनियों आदि का सत्संग तो होगा ही; पर देशोद्धार से संबंधित पूर्व में निश्चित उत्तरदायित्व पूरा करने का योग भी मिल सकेगा।

कैकेयी से उन्होंने कहा—

मुनि गन मिलनु विशेषि वन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥
'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू, विधि सब विधि मोहि सन्मुख आजू।
जो न जाऊँ वन ऐसेहु काजा, प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥'[२८]

---

२८. मानस, अयोध्या कां० ४१; ४१।१–२

राजा से वे कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस, सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हिय, कहि पुलके प्रभुगात॥[२९]

कौशल्या से उन्होंने कहा—

'आयसु देहु मुदित मन माता, जेहिं मुद मंगल कानन जाता।'[३०]

तथा

'बरषि चारि दस विपिन बसि, करि पितु वचन प्रमान।
आय पाय पुनि देखिहहुँ, मनु जनि करसि मलान॥'[३१]

रामचन्द्र को दण्डकवन जाने के लिए कितनी आतुरता थी, इसका पता इसी से लग सकता है कि जब वे पिता के पास सर्वप्रथम पहुँचते है, तब उनके मन में यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि वे रोकने लगें। जब पिता कुछ न बोले और माता कैकेयी ने ही वरदानों की सब बातें अपने-आप कह डालीं, तो राम को ऐसा आनन्द आया, मानो किसी नये हाथी को बन्धन से मुक्त कर वन में जाने के लिए छोड़ दिया हो। पिता के पास से होकर जब राम माता कौशल्या से आज्ञा लेने जा रहे थे, उस समय उन्हें जो आनन्द हो रहा था, उसका कवि ने यों वर्णन किया है—

'मुख प्रसन्नचित्त चौगन चाऊ, मिटा सोच जनि राखैं राऊ।'[३२]

'नव गयन्द रघुवीर मनु, राजु अलान समान।
छूटजगनि वन गमन सुनि, उर आनन्द अधिकान॥'[३३]

---

२९. मानस, अयो० कां० ४२।

३०. मानस, अयो० कां० ५२।७।

३१. मानस, अयो० कां० ५३।

३२. मानस, अयो० कां० ५०।८।

३३. मानस, अयो० कां० ५१ (रघुवीर मनु के स्थान में "रघुवंश मनि" भी पाठ मिलता है।)

इन पंक्तियों को कहकर कवि यह निर्विवाद सिद्ध कर देता है कि राम पूर्व में आयोजित क्रान्ति के विचार से प्रभावित हो जाने के कारण वन जाने के लिए छटपटा रहे थे। उर मे अत्यानन्द, मन में चौगुना चाव, उत्साह ओर मुख पर प्रसन्नता उसी समय होती है, जब किसी को अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक बात और विशेष विचारणीय यह है कि राज्य तथा राज्य-कुल से सम्बन्धित इस महान् महत्त्वपूर्ण अवसर पर गुरु वशिष्ठ का कोई विशेष भाग न लिया जाना, इस तात्पर्य पर पहुँचाता है कि राम और वशिष्ठ दोनों पहले ही से एक दूसरे के मन की बात जानते थे। केवल इतना ही हुआ कि राम वन जाते समय गुरु के द्वार के सामने से निकले और वहाँ कुछ देर खड़े हुए, तब उन्होंने लोगों को विरह में देखा और सब को प्रिय वचनों के द्वारा समझाया, दास-दासियों को बुला कर गुरु को सौपते हुए उनसे कहा—"सब कर सार सँभार गुसाईं। करब जनक जननी की नाईं।" गुरुजी कुछ नहीं कहते और राम सब को समझाकर तथा गुरु के चरण-कमलों पर सिर नवाकर हर्षपूर्वक रवाना हो जाते हैं। चूँकि क्रान्ति से वशिष्ठजी का सम्बन्ध था, इसलिए उन्होंने राम से उन के वन गमन के विषय में कुछ कहना आवश्यक नहीं समझा।

इस तरह हमने क्रान्ति का बीज बोया जाना देख लिया, और उस का वह अंकुर भी देख लिया, जिसे पाकर राम ने आनन्दमग्न हो वन के लिए प्रस्थान किया। अब हमें उन का वह रूप देखना है, जो प्रत्यक्ष रूप से चौदह वर्ष तक क्रमशः विकसित होता गया। इस प्रत्यक्ष रूप को समझने में उतनी कठिनाई न होगी, जितनी हमें उसके अप्रत्यक्ष बीज रूप के जानने में उठानी पड़ी, क्यों कि अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष की अपेक्षा सामान्यतः दुर्गम होता है।

अब एक बार फिर से कुछ अधिक विवरण के साथ आप तत्कालीन भारत के भौगोलिक और राज्यकीय विभागों को ध्यान में लाइए। इस हेतु, जैसा कि मैं अभी पहले कह आया हूँ, मैंने उपलब्ध सामग्री तथा अंशतः अपने आवश्यक अनुमान के आधार पर भारतवर्ष का एक रफ-सा नकशा दिया है। उसके तैयार करने में मैंने वाल्मीकि रामायण और विष्णु-पुराण

की तथा डॉ० ताराचन्द कृत 'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास' (सन् १९५२) पृ० ३२, तथा उसमें उनके द्वारा दिये हुए 'वैदिक तथा बौद्ध-कालीन भारत का नकशा', एवं चार्ल्स जोपेन द्वारा निर्मित भारत के ऐतिहासिक एटलस (Historical Atlas) में दिये हुए नक्शे नं० २ (प्राचीन आर्य-कालीन भारत) से सहायता ली है।

इनके अतिरिक्त 'कल्याण' के 'रामायणाङ्क' में प्रकाशित श्री बड़ेर के दो लेख एवं तत्सम्बन्धी मानचित्र (१९८७), 'कल्याण' का 'स्कन्द पुराणाङ्क' (पृ० ७६४–७६५), 'कल्याण' का (भाग ब्रह्म पुराणाङ्क), मानस संघ, रामवन, सतना से प्रकाशित माह नवम्बर सन् १९५५ की 'मानसमणि' नामक मासिक-पत्रिका, एवं ज्ञान मण्डल, काशी से प्रकाशित 'भारतवर्ष का इतिहास' में दिया हुआ रामायण-महाभारत कालीन मानचित्र (सं० १९७९) का भी आवश्यक आश्रय लिया गया है। इस प्रकार निर्मित किये गये हमारे मानचित्र की सहायता से, हमें विश्वास है, रामकथा-सम्बन्धी प्रायः सभी प्रधान ऐतिहासिक विवरणों, राम के दोनों समय के प्रवास-मार्गों एवं घटना-स्थलो की यथासंभव शुद्ध भौगोलिक स्थितियों के प्रत्यक्षीकरण में पर्याप्त योग मिलेगा। इसी हेतु हमने कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य से समन्वित एक स्पष्टीकरण-पत्र को उक्त मानचित्र से संलग्न कर दिया है।

जोपेन सा० ने अपने नक्शे के स्पष्टीकरण के लिए एक टिप्पणी दी है, जिसका आवश्यक अंग हमने इस अध्याय के फुटनोट नं० १३ में उद्धरित किया है। उसका हम यहाँ हिन्दी-अनुवाद लिख देना आवश्यक समझते है; ताकि हमारे नक्शे का जितना भाग उनके नक्शे पर आधारित है, वह सही-सही समझ में आ जाय। उन्होंने कहा है कि—

"राम-कथा का कम-से-कम कुछ भाग गोमती, सरयू और ऐरावती के किनारे, कौशल देश में, जिसकी राजधानी अयोध्या थी और मिथिला-राज्य में, जिसकी राजधानी जनकपुर थी, कार्यान्वित हुआ। गंगा के दक्षिण से लेकर गोदावरी तक, दण्डक नाम का एक बड़ा भारी वन था। अन्य

और दूसरे विभागों (Countries) के विषय में जिनका उल्लेख महाकाव्य में हुआ है, निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता ।... ..कुछ कौशल लोग दक्षिण की ओर भ्रमण करते गये और विन्ध्या के दक्षिण एवं नर्मदा तथा वेन (वेनगंगा) के किनारे पर बस गये । दूसरे आर्य लोग गोदावरी, पयोषिनी (ताप्ती) पर, तथा पयोषिनी के दक्षिण में प्रभास नामक समुद्री किनारे पर बसे ।''

इस तरह हमने अपने नक्शे में जोपेन साहब के एटलस के आधार पर गंगा और गोदावरी के बीच में उन्हीं दो स्थानों पर 'कौशल' बताया है, जहा उन्होंने उसे अपने नक्शे में दर्शाया है । इससे सिद्ध होता है कि अवध-राज्य का आधिपत्य कम-से-कम नर्मदा और गोदावरी के उत्तर तक था । जोपेन साहब के लेखानुसार आर्य लोग पश्चिमी किनारे की घाटियों (प्रभास) में भी फैल गये थे, जिससे प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती अवध-राज्य का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आश्रित या मित्र राजाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ तक अवश्य ही किसी-न-किसी मात्रा में रहा होगा । और अब हमें वाल्मीकि रामायण में यह पढ़ने को मिलता है कि बालि की राज्य-भूमि इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के अधीनस्थ थी, तथा अब हम यह अनुसन्धान लगाते है कि इस बालि-राज्य की सीमा उत्तर में गोदावरी, पश्चिम मे प्रभास की घाटियाँ, दक्षिण में समुद्री तट पर महेन्द्राचल, जो तत्कालीन अन्तरीप (अब कन्याकुमारी) तक छुआ होगा और पूर्व में बंगाल समुद्र था, तब हमें यह निश्चय-सा प्रतीत होने लगता है कि रामचन्द्रजी के किन्हीं पूर्वजों के समय कौशल-राज्य की छत्र-छाया अवध से लेकर कन्याकुमारी तक फैल चुकी थी । फिर यह कैसे, क्यों और कब-कब घटती गई, और अब वह पुन: पूर्ववत् कैसे बने, यही समस्या राम के सम्मुख उस समय उपस्थित हुई, जब वे अयोध्या को छोड़ दक्षिण की ओर वन को चले । उन्हें विदित हुआ कि इस सब गड़बड़ी का मूलकारण है रावण । रावण ने जब से भारत-भूमि पर आँख गड़ाई और इधर-उधर आक्रमण करना प्रारम्भ किया, तब से अवसर पाकर अवध के चक्रवर्तान्तर्गत आश्रित राज्याधिकारी स्वतंत्र होते गये और

रावण स्वयं यत्र-तत्र अपने अड्डे (उपनिवेश) जमाता गया। उसके वे अड्डे वही ताड़िका (मारीच) और सुबाहुवाले तथा खर और दूषणवाले थे, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है, और जिनका स्थान हमने अपने पूर्व कथित नक्शे में तत्सम्बन्धी विवरणों को ध्यान में रखते हुए, अपने अनुमान से बताया है। प्रतीत होता है कि जब रावण ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किया, उस समय वानर जाति का कोई सरदार अथवा बालि स्वयं भारत के अत्यन्तिक दक्षिण में किसी छोटे-मोटे भू-भाग पर अवध नरेश का आधिपत्य स्वीकार कर राज्य करता था; परन्तु जब से रावण के उत्पात शुरू हुए और कौशल-राज्य की सुदूर राजधानी अयोध्या की शक्ति का ढीला पड़ना प्रारम्भ हुआ, तभी से बालि ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और क्रमशः अपना राज्य उत्तर की ओर गोदावरी तक बढ़ाता गया। ऐसे अच्छे अवसर को पाकर रावण ने यही लाभदायक समझा कि निकटवर्ती बलवान बालि से न जूझा जाय, बल्कि जहाँ अवध की सैनिक शक्ति निर्बल हो, वहीं घुसकर अपने अड्डे जमाना प्रारम्भ कर दिये जायँ। यही उसने किया और क्रमशः उक्त उपनिवेश स्थापित कर लिये। केन्द्रीय शक्ति के इस ह्रास के कारण, जो अराजकता फैली, उसी का लाभ उठाकर जब उपनिवेश जमा लिये गये, तब रावण ने स्वयं तथा उक्त निवेशाधिकारियों के द्वारा प्रजा तथा अन्य भारतीय निवासियों या राजाओं को व्यथित करना प्रारम्भ कर दिया; यहाँ तक कि उसने बालि पर ही धावा बोल दिया। परन्तु, बालि से वह जीत न सका और उससे संधि करनी पड़ी, जैसा पहले कह आये है। इसके विपरीत यदि यह माना जाता है कि खर-दूषणादि के अड्डे जमने के पूर्व से ही बालि रावण से अधिक बलवान् था और उसका राज्य गोदावरी तक विस्तृत था, तो उस को पार करके उत्तरीय विभाग में उक्त अड्डों का जमाया जाना तर्क-क्षेत्र के बाहर की बात हो जाती है। हमारे उक्त तर्क को यदि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित करने की आवश्यकता समझी जाय, तो उस 'देवासुर-संग्राम' का स्मरण कीजिए, जिस में दशरथ ने कैकेयी के साथ भाग लिया था। आर्य लोग अपने-आप को देव या सुर संज्ञा से विभूषित करते

थे और अनार्यो या राक्षसों को असुर-दस्यु आदि कहते थे; इसलिए जब उक्त कारणों से बालि का राज्य स्वतंत्र होकर गोदावरी तक विस्तृत हो गया और रावण के काफी विस्तृत उपनिवेश स्थापित हो गये, तब अनार्यों या राक्षसों ने अथवा दोनों ने कंधे से कंधा मिलाकर अवध-राज्य को गोदावरी के उत्तरीय भाग पर से भी पीछे भगाना चाहा; अतः दोनों पक्षों के बीच युद्ध छिड़ा, जो देवासुर-संग्राम' नाम से विख्यात है। यह युद्ध दण्डक वन के बाहर, पर उसके समीप वैजयन्त[३४] नामक पुर के ईद-गिर्द हुआ था। इस स्थान पर एक अनार्य राजा निमिध्वज (जो शम्बर भी कहलाता था) ने अपना अधिकार जमा रखा था। राक्षसगण उसके सहायक थे। अपने-अपने स्थायित्व के हेतु उनमें और आर्यो (अर्थात् देवताओं) में युद्ध छिड़ गया। राजा दशरथ चक्रवर्ती के नाते आर्यो की ओर से युद्ध में लड़ने के लिये बुलाये गये। वे कैकेयी को साथ लेकर युद्ध-क्षेत्र में पहुँचे; परन्तु उनका सारा शरीर छेद डाला गया और वे रण-क्षेत्र से भाग उठे। फिर भी शत्रुओं ने पीछा किया और कैकेयी बड़ी कठिनाई वा चतुरता से उन्हें बचाकर घर ला सकी।[३५] यह घटना इस बात को सिद्ध करती है कि इस युद्ध के पश्चात् अवध-राज्य का बचा-खुचा राजनैतिक महत्त्व नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। अनार्यों या राक्षसों द्वारा दशरथ का इस प्रकार घायल किया जाना तथा उन को मुश्किल से मृत्यु से बचा पाना—ये बातें राम के हृदय में तीर-जैसी चुभ गई थीं।

यद्यपि बालि-राज्य के विस्तार, खरादि के निवेशों तथा उक्त युद्ध ने उत्तर की ओर प्रायः जमुना तक आर्यो की जड़ हिला दी थी, तथापि भारत के उस पश्चिमी भाग पर जो नर्मदा के उत्तर में पड़ता है, अभी भी आर्यों की कुछ सत्ता शेष थी। यदुवंश के राजा महिष्मान ने माहिष्मती[३६] (उज्जैनी या

---

३४. पृ० पर वैजयन्त सम्बन्धी टिप्पणी देखिए।

३५. वा० रा० अयोध्या कां० ९।१२–१६ के आधार पर।

३६. पृ० पर माहिष्मती सम्बन्धी टिप्पणी देखिए।

उज्जैन) नाम की राजधानी बसाई थी। महिष्मान के बाद की छठवीं पीढ़ी में अर्जुन नाम का राजा हुआ, वह तपस्यावश सहस्रबाहु कहाया। इसलिए वह सहस्रार्जुन नाम से भी विख्यात है। वह महाबली था। पूर्वोक्त युद्ध में जब राजा दशरथ की धाक का खातमा हो गया, तब रावण ने सहस्रार्जुन की राजधानी पर उस समय आक्रमण किया, जब वह अपनी रानियों के साथ नर्मदा में जल-विहार कर रहा था। सहस्रार्जुन ने उसे अच्छा पाठ पढाया और पशु के समान बाँधकर उसे निर्जन वन में रख छोड़ा (कोई कहते हैं, उसे अपने घुड़साल में ही बाँध रखा), बँधे रहने के कुछ दिनों बाद अन्य बड़ों की मिन्नत करने पर वहीं छोड़ दिया गया; परन्तु उस महाबली सहस्रबाहु को भी अन्ततः अपने दुष्कर्मों के कारण परशुराम के फरसा के द्वारा मौत के घाट उतरना पड़ा।[३७] परिणाम यह हुआ कि सहस्रबाहु के मर जाने पर भारत का यह भू-भाग भी अनार्यों या राक्षसों के अत्याचारों के लिए खुल गया। केवल एक छोटा-सा भाग गृद्ध-राज्य का रह गया था, जहाँ कौशलपुर के राजा का सम्मान कुछ शेष था; परन्तु उक्त परिस्थितियों में वह चहुँ ओर से इस खतरे में घिरा हुआ था कि न जाने कब इस सम्मान को यहाँ से भी कूच करना पड़े।

इस तरह आपने देखा कि राक्षसों या अनार्यों का यह प्रबल प्रवाह किस तेजी के साथ उत्तर की ओर बढ़ता जा रहा था? यदि यह कहा जाय

---

३७. नारद-विष्णु पुराणांक (कल्याण), पृ० ७२६, ७२७।

टिप्पणी—सहस्रबाहु का अर्थ लोग हजार भुजाओं का उसी तरह लगाते हैं, जैसे रावण को बीस भुजाओं का बताते हैं। हमारी समझ में इसका अर्थ उसी प्रकार लगाना चाहिए, जिस प्रकार आधुनिक किसी मशीन (यन्त्र) की ताकत हम घोड़ों के मान ((horse power) से बताते हैं। इस दृष्टि से रावण का बाहुबल दस पुरुषों के बराबर और सहस्रबाहु का पाँच सौ पुरुषों के बराबर था, जब कि एक पुरुष (unit) की ताकत किसी सर्वमान्य नियम ((standard)) के अनुसार हो।

कि ए-क और उसके धक्कों ने जमुना के दक्षिणी किनारे तक अपना प्रभाव बताना प्रारम्भ कर दिया था तथा दूसरी ओर, सहस्रार्जुन के मारे जाने पर पंच-नद (पंजाब) की ओर भी उसका बढ़ना सम्भव हो रहा था, तो सत्य ही होगा। देश की इस भयावह स्थिति में आप नवयुवक राम को केवल धनुष और बाण को साथ में लेकर उसी ओर प्रस्थान करते देखते हैं, जहाँ से यह प्रलयकारी प्रवाह बढता हुआ चला आ रहा था।

सीता और लक्ष्मण न माने, इसलिए उन्हें साथ लेकर राम राजमहल से निकल नगर के बाहर आ पहुँचे। राजा के आज्ञानुसार सुमन्त ने उन्हें रथ पर बैठाया। नगरवासी प्रेम-वश रथ के पीछे-पीछे हो लिये। प्रथम रात्रि को तमसा नदी के तीर-पर वास किया। चूँ कि नगर-निवासी प्रेमवश साथ नहीं छोड़ना चाहते थे; इसलिए अर्द्धरात्रि के समय उन्हे सोते हुए छोड़ रथ के चिह्न मारकर आगे बढ गये, और गंगा के किनारे शृंगवेरपुर पहुँचे। निषाद (गुह) ने वहाँ उनका स्वागत किया, और दूसरी रात्रि वहीं सिंसुपा वृक्ष के नीचे घास-पात का बिछौना डाल विश्राम किया। तीसरे दिन सबेरे गंगा-स्नान किया और वट-क्षीर मँगाकर-"अनुज सहित सिर जटा बनाये।" सुमन्त ने, राजा के आदेशानुसार राम को लौट चलने अथवा सीता को वापिस भेजने के लिए बड़ा आग्रह किया; पर उसके सब प्रयत्न अमफल हुए। तब सुमंत निराश होकर रथ लौटाता है, और इधर रामादि निषाद-राज की नौका पर सवार होकर गंगा के उस पार पहुँच जाते हैं। निषाद साथ हो लेता है, और उस दिन वट-वृक्ष के नीचे वास किया जाता है। चौथे दिन तीर्थराज (प्रयाग) को देखते है और त्रिवेणी में स्नान कर मानचित्र में दर्शाये (× ४) स्थान पर, भारद्वाज आश्रम में पहुँच रात्रि को वहीं विश्राम करते है। पाँचवें दिन उक्त आश्रम के चार वटुओं (शिष्यों) को मार्ग दिखाने के लिए साथ लेकर जमुना को पार किया और उन शिष्यों को लौटा दिया। इसके बाद जैसे-जैमे राम मार्ग से बढते जाते है और वन में प्रवेश करते जाते है, तैसे-तैसे गाँव-गाँव के पुरुष-स्त्री रामादि से वार्तालाप करते तथा उनका स्वागत करते जाते हैं। इस तरह जमुना पार करने के

बाद चलते-चलते वे एक 'शीतल पानी' से भरे स्थान पर रात को टिक जाते हैं। प्रतीत होता है कि वह यात्रा की पाँचवीं ही रात है। छठवें दिन मानचित्र में बनाये (× ५) स्थान पर, वाल्मीकिजी के आश्रम पहुँचते है और सम्भवत. सातवें दिन वाल्मीकिजी के बताये जाने पर वे मंदाकिनी नदी के निकट चित्रकूट गिरि पर जहाँ अत्रि आदि बहुत से मुनिवर बसते थे, निवास जमा लेते है। वहाँ तापस, मुनि, कोल, किरातादि जंगलवासी नित्य प्रति राम की पर्णकुटी पर आने-जाने लगे और धार्मिक बातों से सनी हुई कथा-कहानी तथा आवश्यक वार्ता-चर्चाएँ होने लगीं। चित्रकूट से निषाद जब लौटता है, तो सुमन्त को अति व्याकुल दशा में वहीं पाता है, जहाँ उसे छोड़ा था। वह उसे धीरज बँधाकर तमसा के किनारे तक पहुँचा आता है। वहाँ से सुमन्त अयोध्या पहुँचते है, तथा उनके पहुँचने के बाद राजा दशरथ का प्राणान्त हो जाता है। राजा के देहान्त के पश्चात् भरत-शत्रुघ्न अयोध्या आते है और फिर राम से भेंट करने तथा उन्हें लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँच जाते है। मातादि के अतिरिक्त गुरु वशिष्ठ भी साथ में गये। उधर कुछ दिन बाद जनकपुर से रानी आदि समेत राजा जनक भी कौशिक (विश्वामित्र) आदि मुनियों के साथ पहुँच जाते है। चित्रकूट में हुए संवाद को विचारपूर्वक पढ़ने से ज्ञात हो जाता है कि भरतजी को किसी प्रकार जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, राम का वन आने का रहस्य प्रकट होता है। तभी तो आप देखते है कि उन को जो प्रबल इच्छा थी कि राम लौट जायें या राज्य ग्रहण कर लें, इसे वे स्वयं त्याग देते है, और कुछ वार्तालापों के बाद अपने-आप ऐसा निर्णय कर रामादि के सम्मुख प्रस्तुत कर देते है, जिससे राम को वन से न लौटना पड़े और खुद को भी राज्याधिकारी न बनना पड़े। यह निर्णय सब को सहर्ष स्वीकार हो जाता है और भरतजी चरण-पादुकाएँ ले अयोध्या लौट राम की ओर से एक तपस्वी सेवक के समान राज्य को सम्हालने में लगते हैं। नंगे पैर चलनेवाले राम के पास भरत को देने के लिए पादुकाएँ कहाँ से आ गईं, तथा भरत को सौंपने के अन्तर्गत उनका आख्यानिक और भावात्मक क्या-क्या रहस्य है,

एवं इस प्रसंग में तुलसीदासजी ने स्वार्थ-परमार्थ, पुरुषार्थ, सेवक-स्वामी तथा राजधर्म का तत्त्वानुसन्धान जिस उत्तमता से किया है, ये सब विषय बड़े गंभीर सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं। परन्तु, हस्तस्थ विषय से असम्बन्धित होने के कारण उन पर कुछ कहकर विस्तार बढ़ाना अनुचित होगा। प्रसंग से सम्बन्धित एक बात ध्यान देने योग्य यह अवश्य है कि राम का भरत पर असीम स्नेह था, यहाँ तक कि देवताओं तक को भय हो उठा था कि कहीं ऐसा न हो कि राम भरत के आग्रहवश वन से लौट जायँ और पूर्व परिचित क्रान्ति का सारा खेल ही मिट जाये। इसी संभावना के वशीभूत हो, हमारी समझ में, राजा जनक के साथ विश्वामित्रजी भी दौड़े हुए चित्रकूट पहुँच जाते हैं, हालाँकि वे जानते थे कि उक्तसंभावना को न घटने देने के लिए भरत के साथ वशिष्ठजी पहुँच ही चुके थे। फिर भी 'एक से दो अच्छे होते है' यह सोच कर वे आ ही गये और उनका आना अच्छा ही हुआ। उनके आने के पहले वातावरण यहाँ तक आ गया था कि राम ने वशिष्ठजी से भरत और सब समाज के सामने यह कह दिया कि आप जैसा कहें वही किया जाय। यह सुन वशिष्ठजी सकुचा गये और राम से बोल उठे कि आपने मुझ पर इस सिर-सौप करने के पहले यह नहीं विचारा कि भरत का स्नेह कितना प्रभावक है, 'भरत सनेह विचार न राखा'; मेरी मति तो उनकी भक्ति के वश होकर कुछ काम ही नहीं कर रही है, इसलिए भरत जो कहें वही आप कीजिए। तब राम ने भरत से ही पूछना शुरू कर दिया और कहने लगे—'जो तुम कहो वही करूँ।' भरतजी ने यह सुन रामजी के सामने उन्हें तिलक साजने के तथा उनके वापिस लौटने के कुछ ऐसे प्रस्ताव रख दिये, जिनसे उनका रुख स्पष्ट ज्ञात हो गया कि वे चाहते हैं कि राम राजा बनें और घर लौट जायँ, हालाँकि इस का अन्तिम निर्णय करना भरत ने राम पर ही छोड़ दिया। परन्तु, अपने ही ऊपर इस सिर-सौंप को देख राम बड़े संकोच में पड़ चुप रह गये—'चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची, प्रभु गति देखि सभा सब सोची।'

इस दुविधा में राम हो ही रहे थे कि राजा जनक के आने की खबर

दूत लाये। मामले ने पलटा खाया। राजा जनक के साथ विश्वामित्र भी आ पहुँचे। फिर अयोध्या और जनकपुर दोनों के समाज स्नान करने के बाद वट वृक्ष के नीचे बैठे। वहीं पर वशिष्ठ, सतानन्द आदि उन लोगों के 'जिन्ह जगमग्रु परमारथ सोधा', था 'सहित धरमनय बिरति बिबेका' वाले उपदेश होने लगे। विश्वामित्र भी वहाँ थे ही, उन्होंने भी अपने ढंग से परमार्थ-मार्ग वाली कथाओं को सुनाया—

"कौसिक कहि कहि कथा पुरानी, समुझाई सब सभा सुबानी"[३८]

उस समय वहीं पर भारत भी उपस्थित थे। इस प्रकर की पुरानी-पुरानी कथाएँ कहते समय अन्य उक्त उपदेशकों—विशेषतः विश्वामित्र—ने देश की तत्कालीन शोचनीय परिस्थितियों से मुक्त होने के हेतु कर्त्तव्य-परायणता पर कुछ न कहा हो, यह सम्भव नहीं। उक्त चौपाई में 'कहि-कहि' और 'समुझाई' शब्दों को लाकर कवि ने, प्रतीत होता है, कौशिक के इसी भाव की विशिष्टता पर जोर दिया है। यह भी सम्भव है कि उक्त सभा के विसर्जन होने के पश्चात् भी समय पाकर भरत से एकान्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र या राम ने स्वयं देश के प्रति जो राजधर्म निबाहना आवश्यक हो रहा था, उसे एक-दो बार और कहा हो। गरज यह है कि कौशिक के आने के पूर्व जो स्थिति असमञ्जस में पड़ बैठी थी, वह सुलझ गई। सब को, विशेष कर भरतजी को, राम का 'परमार्थ' अथवा 'सर्व-हित' के हेतु उस वन-विभाग में रहना जँच गया, क्यों कि आखिरकार भरत भी तो एक लोकोपकारी विद्वान् राजकुमार थे। अकलमन्द को इशारा काफी होता है, इस लोकोक्ति के अनुसार भरत के ध्यान में शीघ्र ही आ गया कि राम का अयोध्या त्याग कर वन में रहना ही श्रेयस्कर है; इसलिए ज्यों ही राम के वन में आने का रहस्य प्रकाश में आया, त्यों ही भरत की विचार-धारा का रुख बदल पड़ा और वे राजा जनक से कहने लगे—

---

३८. मानस, अयोध्या कां० २७७।४।

"प्रभु प्रिय, पूज्य पिता सम आपू, कुल गुरु सम हित माय न बापू।
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू, ज्ञान अम्बु निधि आपुन आजू॥[३९]

× × ×

राखि रामरुख धरम वृत्त, पराधीन मोहि जानि।
सब के संमत सर्वहित, करिय प्रेम पहिचान॥[४०]

'सर्वहित' की भावना से प्रेरित जब स्वयं भरतजी का उक्त प्रस्ताव रामजी के सामने प्रस्तुत किया जाता है, तो वे प्रसन्न होकर भरतजी से कह उठते हैं कि बस, इसी में हमारा, तुम्हारा सब का कल्याण है, क्यों कि—

"माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू, हमहिं तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू।
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ, स्वारथ सुजसु धरम परमारथ॥[४१]

इस प्रकार राम का वन में रहने का रहस्य दोनों समाज के लोगों को प्रकट हो गया। भरत को पाँव की (पादुकाएँ) मिलने पर जीवन का आधार मिल गया—उन्हें सन्तोष तथा शान्ति हो गई। सब लोगों को कैकेई की जो कुचाल दिखती थी, या जिसके कारण सब बड़े व्याकुल हो रहे थे, वही नीकी लगने लगी और सब आशामय होकर अपने घर लौट गये—

"सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी, अवधि आस सम जीवनि जी की।
नतरु लखन सिय राम वियोगा, हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥[४२]

---

३९. मानस, अयोध्या कां० २९२।२.३।

४०. मानस, अयोध्या कां० २९३ (नोट—'पराधीन मोहि जानि' का अर्थ है 'राम का सेवक'। इसी प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि 'स्वामी-धर्म और स्वार्थ में विरोध है' (२९२।८) अर्थात् सेवकाई वाले को न स्वार्थ से प्रयोजन न परमार्थ से। उसे तो स्वामी की आज्ञा से मतलब है, क्योंकि वही स्वामी अपने-आप इन सब बातों पर विचार कर लेता है।

४१. मानस, अयोध्या कां० ३१४।२–३ (नोट—गुरु वशिष्ठ; मुनि विश्वामित्र)।

४२. मानस, अयोध्या कां० ३१६।१–२।

इधर सब के लौट जाने पर राम-सीता-लक्ष्मण कुछ दिनों तक चित्रकूट में ओर रहे और जब उन्होंने देखा कि लोगो से परिचय बढता जाता है और भीड़ बढ़ती जाने की सम्भावना हो रही है, तो स्थानीय मुनियो आदि से बिदा होकर वे वहाँ से दक्षिण की ओर आगे के बन में चले। पहले अत्रि-आश्रम में पहुँचे, जहाँ अत्रि मुनि और उनकी पत्नी अनुसुइया के दर्शन प्राप्त किये। इसके बाद विराध असुर को मारा। तत्पश्चात् क्रमशः मुनि सरभंग, सुतीक्ष्ण और फिर उनके गुरु कुंभज (अगस्त) ऋषि के आश्रमों में होते हुए दण्डक वन में गोदावरी के निकट पंचवटी पहुँचे। वहीं कहीं पास में गीधराज जटायु से भेंट हुई और दोनों के बीच में प्रीति बढी। वहीं 'पंचवटी' के पास गोदावरी के निकट पर्णकुटी बनाकर राम रहने लगे। चित्रकूट से पंचवटी आने तक राम को अनेक बनवासी या आश्रम-वासी ऋषि-मुनियों एवं उनके शिष्यों से तथा अन्य ऋषि-मुनि-वृन्दों से भेंट होती गई, जिससे उन्हे उनके कष्टों का ज्ञान बढता गया। सरभंग मुनि से भेंट होने के पश्चात् एक स्थान पर उन्होंने जब एक अस्थि-समूह को देखा, तो मुनियों से उसका कारण पूछा। उन्होंने स्वभावतः करुणापूर्ण शब्दों में कहा—'जानत हूँ पूछिय कस स्वामी'—'निसिचर निकर सकल मुनि खाए।' तब यह सुन 'रघुवीर नयन जल छांए', और उसी समय उन्होंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर घोषित कर दिया कि मैं पृथ्वी पर राक्षसों का नामोनिशान नहीं रहने दूँगा तथा वे सब के आश्रमों पर जा-जा कर उन्हें निर्भीक और प्रसन्न करने लगे।

'निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'[४३]

क्रान्ति का यह चौथा गुरिया है; प्रथम परशुराम का धनुष सौपना, दूसरा मंथरा आदि का गुप्त उपाय तथा राम का वन को प्रस्थान करना,

---

४३. मानस, अरण्य कां० ९।

तीसरा चित्रकूट में सब को रहस्य का प्रकट होना, और चौथा निसिचर हीन करने का प्रण ठानना। बहुत सम्भव है, पाठक इस बात पर हम से कुपित हो उठें कि हमने उनका बहुमूल्य समय राम की यात्रा को चर्चा ही में व्यर्थ खो दिया। यहाँ गये वहाँ गये, इस मुनि से मिले, उससे मिले, इन सब छोटी-छोटी बातों को कहने की क्या आवश्यकता थी, आप पूछेंगे। यदि इस युग में भी, जब सम्पर्क, प्रचार और यात्रा के साधन शीघ्रगामी यंत्र हो गये है, महात्मा गाँधी ने स्वराज्य की क्रान्ति मचाने के लिए दक्षिण अफ्रिका में या 'डाडी मार्च' जैसी हिन्दुस्तान मे सैकड़ो मीलो की पद-यात्रा करना लाभदायक समझा था तथा विनोबा भावे आज भी मनोवृत्तिक दैवी क्रान्ति मचाने के लिए सहस्रों कोसों की पद-यात्रा को लाभदायक सिद्ध कर रहे है, तो उस प्राचीन युग में, विशेषकर उस भू-भाग मे, वन-प्रधान होने के कारण सुलभ मार्गी नही था, उस राम के लिए जो जन-मत-संग्रह करके 'निसिचरहीन महि करने वाली' क्रान्ति मचाने के हेतु तपस्वी हो घर से बाहर निकला था, पद-यात्रा करना उतना ही आवश्यक था जितना कि भूखे को भोजन। उसे वही समझ सकता है, जिसने अपना तन-मन-धन लोक-कल्याण के लिए दे रखा हो। आज के रेलों, मोटरों या वायुयानों में पल इधर, पल उधर छछूंदर जैसी दौड़ लगाकर सभा-सोसाइटियों में लम्बे-चौड़े-थोथे व्याख्यान देनेवाले जन-सम्पर्की नामधारी लोग क्रान्ति के इस प्रारम्भिक, परन्तु आवश्यक अंग को क्या समझें।

अत्याचारों के प्रति जब तक जनता की मृतात्मा में चेतना या निर्भीकता जाग्रत नहीं की जाती, तब तक किसी क्रान्ति का श्रीगणेश नही किया जा सकता, और यदि किसी ने कर भी दिया, तो वह अल्प काल ही में निष्फल होकर समाप्त हो जाती है। यह जागृति केवल वक्ताओं द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। उसे वही जगा सकता है, जो चलते-फिरते अथवा उठते-उठते नित्य प्रति साधारण जन के सम्पर्क में अपने सदाचार-प्रधान जीवन का उज्ज्वल दृष्टांत जनता के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यही राम की पद-यात्रा का रहस्य है। उन्होंने अपनी इस पद-यात्रा के कारण

ही वनके कोने-कोने में वनवासियों, तथा क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व के संयोग को भुलाकर केवल ब्राह्मणत्व को पकड़कर रह जाने वाले ऋषि-मुनियों में निर्भीकता का संचार किया । इस तरह राम ने आततायियों के विरुद्ध जन-मत का एक ऐसा तूफान उठा दिया कि उसका शोर चहुँ ओर मच गया और जहाँ देखो वहाँ राम के प्रताप या पवित्र जीवन की चर्चा फैल उठी ।

जब किसी प्रतापी पुरुष के यश-गान की प्रशंसात्मक ध्वनि इस तरह फैलने लगती है, तब उसके भिन्न-भिन्न श्रोताओं पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ने लगता है । दूर-दूर के श्रोता उसके विषय में अपनी-अपनी भावनाओं अथवा मनोवृत्तियों की दृष्टि से कल्पनाएँ बाँधने लगते है । एक ओर, अत्याचारी उसे शत्रु के रूप में देखते हैं, तो दूसरी ओर साधु-सज्जन अथवा धर्मानुरागी उसको धर्म-रक्षक स्वामी के रूप में पूजते हैं । सती-साध्वी नारियाँ उसे पुत्र-भाई आदि के रूप में पाती है, तो कामतृप्ता के मन में उसके साथ बुरी भोग-विलास की लालसा तड़फड़ाने लगती है । यही कारण है कि कहीं कुछ दूरी पर अपने भाइयों—खर-दूषण—के साथ जन-स्थान में रहनेवाली स्वच्छन्द और कामतप्ता सूर्पखणा पंचवटी के पास रामाश्रम में राम के पास अपनी दुर्भावना को लेकर पहुँची थी । पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चरित्रवान राम को उसकी दुर्भावना न डिगा सकी । उसके नाक-कान काटे जाने पर खर-दूषण और उसके सैनिक सरदार त्रिशिरा का युद्ध होता है, जिसमें वे और उनकी चौदह सहस्र सेना मारी जाती है तथा गोदावरी के पास का वह जनस्थान-भाग निशिचरहीन हो जाता है, जिस पर खर-दूषण ने अपना सिक्का जमा लिया था । इसके पश्चात् जैसा कि पाठकों को विदित है, सूर्पणखा रावण के पास पहुँचती है और उसको अपनी दुर्गति का वृत्तान्त सुनाती है तथा यह भी बताती है कि जनस्थान राम के द्वारा निशिचर-हीन कर दिया गया, तब रावण मारीच से सीता-हरण के षड्यंत्र की सलाह करता है । मारीच राम के बौद्धिक और बाहुबल को जान चुका था । उसने रावण को बहुत रोका, पर वह न माना । अन्त में मारीच कपटमृग बना और रावण ने सीता का हरण किया । इसके पश्चात्

सीता की खोज के लिए राम की पुनः पद-यात्रा हुई और अपनी आपत्ति के बहाने रावण के अत्याचारों का ऐसा भंडाफोड़ किया कि कवि की कल्पना-नुसार उन्होंने जंगल में पशु, पक्षी, वृक्षों आदि तक को हिला दिया। आखिर अपने समान आपत्तिग्रस्त सुग्रीव से मित्रता हुई, बालि का हनन हुआ, सुग्रीव को किष्किन्धा राज्य की गद्दी सौंपी, और फिर वानर-सेना के योग से लंका-युद्ध हुआ। लंका-युद्ध में राक्षस मारे गये और राम ने 'निश्चिर-हीन करउँ महि' वाला अपना प्रण पूरा किया। प्रण पूर्ण हो जाने के बाद वे अयोध्या लौटते हैं और फिर अयोध्यापति के नाते प्रजा का पलन-पोषण आदि करते रहने में अपना शेष जीवन व्यतीत करते है।

इस तरह उनके राजनीतिक जीवन के दो विभाग हो जाते हैं—एक चौदहवर्षीय वनवास के समय का और दूसरा उसके पश्चात् का। दूसरे विभाग के समय की राजनीति का निष्कर्ष जानने के लिए हमें राम के उस आदेश को ही देख लेना पर्याप्त होगा, जो उन्होंने भरत को चित्रकूट से लौटते समय दिया था। उन्होंने कहा—

"मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक।"

'राज धरम सरबस इतनोई, जिमि मन माहँ मनोरथ गोई।'[४४]

मुख और अंगों का तथा मन और मनोरथ का पारस्परिक सम्बन्ध बताकर, और यह कहकर कि सर्वस्व राजधर्म इतना ही है, कवि ने राम के द्वारा राज-धर्म विषयक विस्तार को इतने लघु रूप में कह डाला है, मानो अगस्त्य मुनि ने सारे समुद्र को एक चुल्लू में भरकर पी डाला है। यह थी राम की राजनीति और तदनुकूल उनका प्रजा-वात्सल्य, जो परम्परा से उचित रूप में 'राम-राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे राजनीति न कहकर 'राजधर्म'

---

४४. मानस, अयोध्या कां० ३१५ व ३१५।१।

कहा है, क्यों कि हमारे सांस्कृतिक तत्त्व-विज्ञान में नीति की अपेक्षा धर्म को ही श्रेष्ठता दी गई है और इसीलिए कवि ने उसे 'सर्वस्व' कहकर बताया है।

इस 'सर्वस्व' के सिद्धान्त पर ही राम की उक्त चौदह वर्षीय वनवास के समय की राजनीति आधारित थी। द्विवरदान या सीता-हरण आदि घटनाओं को देखकर जो पाठक मानस का पठन-श्रवण कौटुम्बिक-कलह अथवा व्यक्तिगत विरोध के रूप में सीमित रखकर करते है, वे राम के इस 'राज-धर्म' और 'सर्वस्व' के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। जब मनुष्य किसी वस्तु को सर्वस्व मान लेता है, तब उसके हेतु वह सब कुछ का त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। राम का यह चौदहवर्षीय काल संकट-ग्रस्त असाधारण काल था। प्रजा या देश के लिए उन्होंने लौकिक सुख को छोड़ा, नंगे पैर कठिन-से-कठिन भूमि पर सहस्रों मीलों की पद-यात्रा की, वस्त्रादि की परवाह न कर कुश-किशलय की साथरियों से काम चलाया, राजशाही भोजन को छोड़ कन्द-मूल-फल खाये, राजमहलों को त्याग पर्ण-कुटियों में रहे, तथा भयंकर से भयंकर शत्रुओं से एकहत्थे अथवा अन्य सैनिकों के सहयोग से, जब जैसा अवसर आया तब तैसे लड़े। ग़रज़ यह कि दूसरों की सम्पत्ति या नारियों को चोरी से या बलपूर्वक हड़पने वाले, धर्म को बलात्कार द्वारा नष्ट करने वाले एवं शान्तिमय जीवन को भंग करनेवाले आततायियों को सीधे तो सीधे, नहीं तो टेढ़े होकर निकाल बाहर करने के लिए कटिबद्ध राम ने अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी थी। मनुष्य का मोह सब से अधिक अपने शरीर और प्राण पर रहता है। इसीलिए मृत्यु-भय सबसे बड़ा भय कहाता है। मृत्यु-भय का पर्यायवाची काल भी होता है। राम ने राज-धर्म को सर्वस्व समझकर ही समय-समय पर शत्रुओं के गर्व को दहलाने वाले, अथवा मुनि आदि भयभीतों को निःशंक करनेवाले कई एक ऐसे वाक्य कहे हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कर्त्तव्यरूप धर्म के रक्षार्थ काल से भी नहीं डरते थे। उदाहरण-स्वरूप, देखिये वे कहते हैं—

'हम क्षत्री मृगया वन करहीं, तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं।
रिपु बलवन्त देख नहिं डरहीं, एक बार कालहु सन लरहीं।'[४५]

राम की यह निर्भीकता केवल गीदड़-भभकी नहीं थी। उसमें खलों के प्रति ठोस बल या पराक्रम, श्रेष्ठ जनों के सम्मुख विनम्रता तथा सर्वसाधारण के प्रति प्रेममय सेवा की वास्तविकता सदा लहराती रहती थी, जो मानस के विभिन्न प्रसंगों में हमें देखने में मिलती है। इन सब गुणों के कारण यदि राम अपने जीवन-काल ही में मर्यादा-पुरुषोत्तम अथवा भगवान् के अवतार के रूप में पूजे जाने लगे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। राम-कथा में उन के कुछ कार्य ऐसे अवश्य पढने को मिलते है, जिन में हम मानवों को, जो ईश्वरावतारी शक्ति में विश्वास नहीं करते, ऐतिहासिक सत्यता की कमी खटकने लगती है; जैसे जैसे—खर-दूषण की चौदह हजार सेना के साथ एक अकेले का लड़ना और सब को मार डालना। फिर भी राम-कथा से इतना तो स्पष्ट है कि राम की राजनीति में वह क्रान्ति थी, जिसने प्रचलित आक्रमणकारिणी, सम्पत्तिहारिणी, एवं अन्य प्रकार की अत्याचारकारिणी नीतियों का न केवल विरोध ही किया, वरन् उन्हें समूल नष्ट कर दिया। यदि हम यह भी कहें कि उनकी राजनीति में हिंसा को स्थान नही था, तो कदाचित् आप ठट्ठा करने लगेंगे, क्योंकि राम-कथा में, आप कहेंगे, राम ने सिवाय दूसरों के वध के और किया ही क्या है? हम पहले कह आये हैं कि जब कोई अत्याचारी मन करने अथवा चेतावनी पाने पर भी समाज को हानि पहुँचाने वाला अपना अत्याचार करना न छोड़े, और उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए कोई दूसरा चारा न रहे, तब उसका वध कर डालना नीति-शास्त्रों में हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा की परिभाषा के अन्तर्गत माना जाता है, क्यों कि वह शत्रु-रूप हो, समाज-सामञ्जस्य का विनाशक होता है।

---

४५. मानस, अ० कां० १८।९-१०।

(E) सांस्कृतिक अथवा धार्मिक

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि राम के जीवन में धर्मोद्धार और जन-सेवा के हेतु निर्भीकतापूर्ण सर्वस्व-त्याग की भावना आदि से अन्त तक ओत-प्रोत थी। संस्कृति (culture) का इससे अधिक ऊँचा स्तर आप को कदाचित् ही कहीं मिले। यही सब धर्मों का मूल है। उसका प्रत्यक्षीकरण विविध शाखा-प्रशाखाओं में हुआ करता है; परन्तु उनके उल्लेख से पुनरावृत्ति का दोष आ जाने का भय है, तथा पुस्तक के बृहदाकार का भी। एक बात अवश्य विशेष रूप से विचारणीय है और वह यह है—आपको विदित हुआ होगा कि राम के समय में एक ओर तो राजा लोग थे, जो क्षत्रियत्व के नाम पर पाशविक बल का प्रयोग कर ब्राह्मणत्व अर्थात् ईश्वरत्व को भुलाकर धर्मच्युत हो रहे थे, और दूसरी ओर ऋषि-मुनि आदि थे, जो घर-बाहर अथवा वनों में आश्रमवासी बनकर यज्ञ-तपादि-में रत रहकर क्षात्रधर्म अर्थात् वीरता से विमुख हो रहे थे, जिसके फल स्वरूप राक्षसी वृत्ति के लोगों की खूब बन आई थी। इस तरह दोनों ओर से यथार्थ धार्मिक जीवन की ग्लानि हो रही थी; अतएव किसी ऐसे क्रान्तिकारी की आवश्यकता थी, जिसमें क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व अर्थात् वीरत्व और ईश्वरत्व दोनों का यथोचित समन्वय हो। इसी कमी की पूर्ति हमें रामजी के जीवनचरित्र में मिलती है, जिन्होंने राज-विद्या और ब्रह्म-विद्या—इस द्विविधा शिक्षा को निपुण विश्वामित्र से प्राप्त की और फिर अपने उद्देश्य (mission) में असफल परशुराम से देश का कार्य-भार अपने सिर पर लिया तथा उसे [illegible] निबाहा।

: १० :

तुलसी की क्रान्ति-योजना

(द्वितीय खण्ड)

क्रान्ति का नारा और पथ-निर्धारण

(३) क्रान्ति का नारा—राम-राज्य। राम-राज्य का ही नारा क्यों? राम का क्यों नहीं?

जब हम यह जानते हैं कि तुलसी की 'राम-रटन' चातक-स्वाति की रटन-जैसी जगत-प्रसिद्ध है, तब क्या कारण है,आप पूछेंगे, कि उनकी क्रान्ति का नारा 'राम' ही न कहा जाकर 'राम-राज्य' कहा जा रहा है? कारण यह है कि यद्यपि राम-नाम के जप-स्मरण-कीर्तन-श्रवण से हमारे वैयक्तिक लौकिक जीवन में शुद्धता आती है, तथापि इस वैयक्तिक शोधन-मात्र से हमारा काम नहीं चलता। सृष्टि, हम सब को ज्ञात है, व्यक्तियों का एक समुदाय है, और उस समस्त समुदाय को व्यवस्थित रखना आवश्यक होता है। व्यवस्था-हीन समुदाय में अराजकता (choas) फैलने के कारण शुद्ध व्यक्ति-विशेष को भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। इस स्वाभाविक नियम के अनुसार सृष्टि में स्थित मानव-समुदाय को भी व्यवस्थित रखना आवश्यक रहता है। हर समुदाय की, विशेषकर मानव-समुदाय की, इस व्यवस्था का ही नाम राज्य है। चूँकि 'राज्य' के नाम पर सुखप्रद व्यवस्था के स्थान में दुःखप्रद व्यवस्थाएँ मानव-समाज में देखी जाती हैं, इसलिए तुलसी ने उसके साथ 'राम' शब्द जोड़कर यह प्रकट किया है कि यदि सुख-समृद्धि चाहो, तो हर राज्य को रामरूपी शोध से शुद्ध रखना चाहिए। सारांश यह है कि सारी सृष्टि में तथा उस सृष्टि के प्रत्येक समूह में व्यवस्थात्मक

स्थिति का रहना परमावश्यक है, और वह स्थिति व्यवस्थित तभी रह सकती है, जब उस समूह के प्रधान कर्ता ईश्वरवाची राम-नाम से प्रेरित रहें। राम-स्मरण (अर्थात् 'ईश्वर-चिन्तन') करते रहने से राज्याधिकारियों में प्रभुता के स्थान में विनम्रता और मदपूर्ण स्वामित्व के स्थान में विनीत सेवा-भाव आता रहता है; अत 'राम' का नारा लगाने में केवल व्यक्तिगत शुद्धता के भाव की प्रधानता रहती है, जब कि 'राम-राज्य' कहने में सामूहिक अथवा समाजिक जीवन की शुद्धता का भाव निहित रहता है। इसलिए, सामाजिक जीवन की दृष्टि से 'राम-राज्य' का ही नारा उपयुक्त है।

त्रिविध राम-राज्य

तुलसीदासजी ने इस राम-राज्य का वर्णन मानस के उत्तरकांड के पूर्वार्द्ध में किया है। वह गीता-प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित रामचरित-मानस की [illegible] के दोहा १९ (ग) की ७वी पंक्ति से प्रारम्भ होता है। साधारणतया पाठक यही समझते है कि तुलसी ने केवल दशरथ-पुत्र राम की राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया है; परन्तु यह भूल है। ध्यान-पूर्वक और सयुक्तिक विधि से पढ़ने पर विदित होता है कि उक्त वर्णन में तुलसीदासजी ने त्रिविध राम-राज्य का उल्लेख किया है। एक तो सर्वव्यापी राम का राज्य है, जो समस्त सृष्टि को व्यवस्थित रखता है। दूसरा अवध-नरेश पुरुषोत्तम राम का राज्य है, जिसने अपने आदर्श चरित्र या व्यवस्था द्वारा अवध-राज्य में सुख-साम्राज्य का प्रसार किया। और तीसरा मानस का राम-राज्य है, जो मानवों के मन-वचन-कर्म पर आरूढ होकर सर्व समाज को त्रिविध दु खों तथा ईर्षा-द्वेषादि दुर्गुणों से बचाकर सुखी और समृद्धिशाली बनाता है।

सच पूछा जाय, तो तुलसी का मूल उद्देश्य यही था कि हर मनुष्य के मन पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना हो जाय; क्योंकि उसके बिना समाज सुखी नहीं बन सकता और न मानवता आ सकती। यही कारण है कि उन्होंने उक्त तीसरे प्रकार के राम-राज्य का वर्णन सर्वप्रथम किया है। शेष दो

प्रकार के राम-राज्य उक्त उद्देश्य-प्राप्ति के अभिप्राय से अनुकरणीय दृष्टान्तों का काम करते हैं।

तुलसी की राम-राज्य-सम्बन्धी इस त्रिविध भावना को अच्छी तरह से समझने के लिए पाठक पूरे वृत्तान्त को पढें। हम यहाँ केवल आवश्यक अंशों का उद्धरण कर तथा आवश्यक टिप्पणियाँ देकर उनके विषय में संकेत मात्र कर सकते है—

(१) मानस-राज्य (मन पर राम का आधिपत्य)

इसका प्रारम्भ तुलसीदासजी ने निम्न चौपाई से किया है—

"राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका।"

और इस का अन्त वे २२ वें दोहे पर इस तरह कर देते हैं—

"दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहिं मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥"

इस प्रारम्भ की चौपाई और विश्राम के उक्त दोहा के बीच में आप को इस बात का उल्लेख मिलता है कि इस प्रकार के राम-राज्य के होने से **सब को सब प्रकार** का लाभ मिलता है और किसी को कोई दु.ख नहीं होता, क्यों कि सभी सदाचारी होकर रहते हैं। उदाहरणार्थ—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।

× × ×

चारिउ वरण धर्म जग माहीं, पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।

× × ×

राम राज कर सुख संपदा, बरनि न सकइ फनीस सारदा।

× × ×

एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन बच क्रम पति हितकारी।"

---

१. उक्त दोहे का अर्थ यह है—श्रुति आदि में यह सुना जाता है कि रामचन्द्र के राज में लोग मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, और जब सब कोई अपने-अपने मन पर विजयी हो जाते हैं, तब न तो परस्पर कोई भेद-भाव

टिप्पणी—(१) विषय प्रारम्भ करते समय तुलसी ने लिखा है—'राम राज बैठे त्रैलोका।' बहुधा आकाश, पृथ्वी और पाताल इन तीनों को त्रिलोक कहते हैं; परन्तु 'लोक' का अर्थ यथार्थ में होता है 'कोई भाग विशेष' जिसे अंग्रेजी में sphere या domain कहते हैं। मनुष्य मन, वाणी (वचन) और कर्म का संग्रहरूप होता है ; इसलिए ये तीन भाग-विशेष मानव-सृष्टि के 'त्रिलोक' हैं, जिनमें से मन-लोक सर्वप्रधान है, जिस पर हम पिछले पृष्ठों में विविध प्रसंगों के समय जोर देते आ रहे है, और जैसा कि तुलसी ने भी यह कहकर स्पष्ट कर दिया है—'तुलसी मन ते जो बने, बनी बनाई राम।' गरज यह कि जब राम का आधिपत्य मन-वचन-कर्म—इस त्रिलोक पर हो जाता है, अथवा जब रामाधिपत्य के कारण मनुष्य मन को वश में कर लेता है (जीतहिं मनहिं) तब सब समाज सुव्यवस्थित हो जाता है। चूँकि प्रसंग मानव-समाज की व्यवस्था से सम्बन्धित है, जैसा कि आगे की पंक्तियों में 'वयरू न कर काहू सन कोई' तथा 'वरणाश्रम निज निज धरम-रत' आदि बातों के आने से स्पष्ट है, इसलिए त्रिलोक का अर्थ मानव-क्षेत्रीय उक्त मन-वच-कर्म लेना ही उपयुक्त है, न कि आकाश-पृथ्वी-पाताल। यदि यही सर्वव्यापक अर्थ मान लिया जाय और यह समझा जाय कि तुलसी ने आकाश-पृथ्वी पाताल नामक त्रिलोकीय व्यापकता के द्वारा ही त्रिविध राम-राज्य के वर्णन का प्रारम्भ किया है, तब भी उस व्यापकता में मन-वच-कर्म नामक विशिष्टार्थी त्रिलोक का समावेश भी अपने-आप हो जाता है। यदि कवि का यह भाव न होता, तो वह २२वें दोहे में 'जीतहि मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज' न कहता, और न 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहि व्यापा' ही कहता। उक्त त्रितापों से वे ही सन्तप्त

रहता और न कोई अपराधी बनता, जिसे दण्ड देने की जरूरत पड़े—भेद केवल ऊपरी वेश (स्वरूपादि) में इस प्रकार का दिखता है, जैसे नृत्य-समाज में नर्तकों के वेश में रहता है, और दण्ड (डंडा) केवल संन्यासियों-यतियों के हाथ में टेक देने के लिए रह जाता है।

नहीं होते, जो मन को जीतकर वश में कर लेते है। राजा की अच्छाई तो केवल अच्छे बनने के साधनों में सुगमता लाने का काम कर सकती है; पर अच्छा बनना तो अपने स्वयं के मन-वच-कर्म पर निर्भर रहता है।

टिप्पणी—(२) इस मानस-राज्य के प्रसंग को पढ़ते समय २१ वें दोहे के बाद की प्रथम छः पंक्तियों के आने से पाठक के मन में यह भ्रम हो जाना सम्भव है कि कवि ने मानस-राज्य का वर्णन नहीं किया, जैसा हमने बताया है, बल्कि समस्त सृष्टि के राज्य का वर्णन किया है। परन्तु, बात ऐसी नहीं है। ये पंक्तियाँ उन पाठकों के लिए दृष्टान्त के रूप में कही गई हैं, जिन्हें राम के मानस-राज्य की सर्वश्रेष्ठ उपयुक्तता के विषय में सन्देह हो। पहले तो २१वें दोहे में कवि ने कहा है कि राम के इस मानस-राज्य में किसी को भी काल, कर्म, स्वभाव या गुणों से होने वाले दुख नहीं होते। सिद्धान्तवादी कहा करते हैं कि मनुष्य को उक्त चार कारणों में से किसी-न किसी एक के द्वारा दुःख की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। परन्तु, तुलसी के मतानुसार उक्त राम-राज्य में उक्त कारणों से भी दुख नहीं हो पाता। यदि इस सिद्धान्त में किसी को सन्देह हो, तो उसे कवि यह कहकर समझाता है कि जो राम सप्त-सागर से घिरी हुई भूमि का स्वामी है, एवं जिसके रोम-रोम में अनेक भुवन बसे हैं, उस की प्रभुता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं—

"भुवन अनेक रोम प्रतिजासू, यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।"

इस तरह के उदाहरण देकर समझाने के उपरान्त तुलसी पुनः अपने मूल विषय, मानस-राज्य की महानता पर यह कहते हुए आ पहुँचते हैं—

"सब उदार सब पर उपकारी, विप्रचरन सेवक नरनारी।
एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन वच क्रम पति हितकारी॥"

और फिर उपर्युक्त २२वें दोहे में 'रामचन्द्र के राज्य' कहकर उक्त मानस-राज्य के प्रसंग को समाप्त कर देते हैं।

(२) सृष्टि-राज्य (सृष्टि पर राम का आधिपत्य)

जब हम सृष्टि के विस्तार पर विचार करते है, तब हमें अनेक अण्ड-ब्रह्मण्ड तथा उनकी गति-विधियाँ देखने में आती है। सूर्य-चन्द्रमा, वर्षा-शरद्, पशु-पक्षी, पर्वत-नदी आदि-आदि पर हमारा विचार दौड़ता है। फिर इस महान् विश्व का नियम-बद्ध सचालन हमारी नज़रों में झूल उठता है। तब हम किसी अदृश्य महान् सचालक शक्ति की कल्पना करने लगते है। इसी सचालक शक्ति का नाम राम है, और उसका यह नियम-बद्ध सचालन ही उसका उस सृष्टि पर राज्य है। इसी राम-राज्य का चित्रण तुलसी नें यह कहकर प्रारम्भ किया है—

"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पंचानन।"

इसके बाद कुछ और प्राकृतिक पदार्थो का वर्णन करने के उपरान्त वे इस प्रसंग को २३-वें दोहे में यह कह कर समाप्त कर देते हैं—

**"विधु महिपूर मयूखन्हि रवितप जितनेहि काज।
मागें वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥"**

(३) अवध-समाज-राज्य (अवध-समाज पर राम का आधिपत्य)

सृष्टि-राज्य के पश्चात् कवि ने दशरथ-नन्दन राम के राज्य की रूपरेखा खींची है, जिस मे हमें राम के स्वकीय यज्ञ, दान, वेद-पथ, धर्म-निरति तथा त्रिगुणातीत लक्षणों का बोध कराया गया है, उन की पत्नी, माता, भाई, सेवक आदि का एक सम्मिलित आदर्श-कुटुम्ब का परिचय दिया है एवं प्रजा में स्नानादि नित्य क्रियाओं, सत्यसगति, भजन-पूजन कथा-पुराणादि की रुचि-विषयक चर्चा की गई है, और फिर २६वें दोहे में यह कहकर अवधवासियों के सुख-संपदा का उल्लेख किया है—

**"अवधपुरी वासिन्ह कर, सुख सम्पदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम विराज॥"**

इसके बाद २९वें दोहे तक कवि ने अवधनगर का वर्णन दिया है और उसके विषय मे कहा है––

"रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख सम्पदा, रही अवध सब छाइ ॥"

फिर ३०वें दोहे तक राम की सानुकूलता, धर्म-परायणता तथा नर-नारियो द्वारा उनके गुण-गान आदि का वर्णन कर सब के अन्त में ३१वें दोहे तक कवि ने अवध-नरेश राम के, अथवा यह कहिए, राम-राज्य के उस प्रताप का उल्लेख किया है, जो रवि के समान उदित होकर 'तिहुँ लोका' (अर्थात् मन-वच-कर्म) को प्रकाशमान कर रहा था, या जिसके फलस्वरूप सद्‌वृत्तियाँ सुखी हो बढ रही थी और कुवृत्तियाँ दुखी हो नष्ट हो रही थी। इन्हीं के विषय में कवि ने कहा है––'बहुतन सुख बहुतन मन शोका' था। अन्त मे उन्होंने ३१ वें दोहे में यह कहकर इस तृतीय राम-राज्य का प्रसंग समाप्त कर दिया है––

"यह प्रताप रबि जासु उर, जब प्रभु करहिं प्रकाश।
पाछिल बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नाश॥"[२]

अर्थात्––जब सर्वव्यापक प्रभु किसी समाज के मनुष्यों के हृदय मे अपना विभूतिपूर्ण रवि-जैसा प्रतापमय प्रकाश कर देते है, तब इस दोहे के पूर्व में पीछे कही हुई धर्म-ज्ञान-विज्ञान-सुख-सन्तोषादि सद्‌वृत्तियों की वृद्धि ही होती है। और पहले कही हुई मत्सर-मान-मोह-मदादि दुष्वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

इस दोहा में 'उर' (हृदय) के आने से हमारा किया हुआ 'मन-

---

२. गीता प्रेस की रामचरित-मानस में इस दोहे की प्रथम पंक्ति इस तरह है––'यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकाश।' इसके प्रथम चरण में तेरह मात्राएँ न होकर केवल बारह हैं; इसलिए 'मञ्जु-संस्करण' का पाठ शुद्ध तथा पूर्ण समझ कर उसी को यहाँ दिया है।

बचन-कर्म' वाला वह 'त्रिलोक' का अर्थ प्रमाणित हो जाता है, जिसे कह कर कवि ने प्रसंग का प्रारम्भ किया था ।

इस तरह क्रान्ति के नारे की बात यहीं समाप्त करके अब हम तत्सम्बन्धी पथ-निर्धारण की बात पर आते हैं ।

(४) क्रान्ति का पथ-निर्धारण

(क) पथ-प्रदर्शक ((Guide))—शिव (आत्म-विश्वास) पथ-प्रदर्शक शिव ही क्यों ?

जब कोई मनुष्य श्रुत-लक्ष्य की ओर किसी पथ पर चलना चाहता है, तब उसे किसी ऐसे पथनायक की आवश्यकता होती है, जो अपनी अनुभूति के आधार पर उसे उस लक्ष्य तक पहुँचा सके। 'राम' जिसका आदर्श था और 'राम-राज्य' जिसका नारा था, उस तुलसी का पथनायक उस शिव के सिवाय दूसरा और कौन हो सकता था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा श्रीराम ने स्वयं अपने मुख से यह कहकर की है—"सिव समान प्रिय मोहि न दूजा" तथा—

"सिव द्रोही मम भगत कहावा, सो नर सपनहुँ मोहि न पावा।
संकर विमुख भगति चह मोरी, सो नारकी मूढ़ मति थोरी।
संकर प्रिय मम द्रोही, सिब द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्पभर, घोर नरक महुँ बास।।"[३]

राम और शिव की पारस्परिक प्रशंसा और आलोचकों पर उसकी प्रतिक्रिया

यह प्रशंसा राम ने उस समय की थी, जब सेतु-रचना के बाद उसके समीप ही उन्होंने शिव की मूर्ति की स्थापना कर उसकी पूजा की थी—'लिंग थापि विधिवत करि पूजा ।' यह प्रशंसा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। राम की दृष्टि में शिव के प्रति इतना सम्मान बढ़ता है कि वे उन्हें अपना

---

३. मानस, लंका, कां० १।६–८; २।

ही 'ईश्वर' कहने लगते है। वे कहते हैं कि यह 'रामेश्वर' है, और जो कोई इनके दर्शन करेगा, अर्थात् इन्हे अच्छी तरह समझकर इनके आचरणानुकूल चलेगा, वह 'तनु तजि' अर्थात् शारीरिक जीवन (material life) मे लिप्त न रहकर त्याग-मूर्ति (self sacrificing) हो, मेरे समान निर्गुणी-निर्विकारी क्षेत्र मे पहुँच सकेगा—

"जे रामेश्वर दरसनु करिहहिं, ते तनु तजि ममलोक सिधरहहिं।"

इधर तो राम शिव को 'रामेश्वर' कहते है, और उधर शिव राम को अपना इष्टदेव कहकर उसका नित्य स्मरण करते हैं—

"सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।"[४]

तथा

"जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।"

इधर राम अविनाशी एवं ज्ञान-गुण-राशि भगवान् कहाते ही हैं, औ उधर शिव भी उक्त उपाधियों से विभूषित किये जाते हैं—

"राम नाम कर अमित प्रभावा, संत पुरान उपनिषद् गावा।
सतत जपत सभु अविनासी, सिव भगवान ग्यान गुनरासी।"[६]

इसी तरह "शभु सहज समरथ भगवाना।"[७] अथवा "तुम माया भगवान शिव, सकल जगत पितु मातु"[८] आदि कथनो को देखिए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि राम-संज्ञा और शिव-संज्ञा में कोई भेद नहीं है ; परन्तु वस्तुत. उनमें भेद है। वह भेद क्या आर कितना है, यह हम अपनी बुद्धि के अनुसार

---

४. मानस, बा० कां० ५०।८।

५. वही ७४।८।

६. वही ४५।२–३।

७. वही ६९।३।

८. वही ८१।

आगे बतायेंगे। अभी हमें इन पारस्परिक प्रशंसात्मक कथनों की मानस के पाठकों तथा आलोचकों पर क्या प्रतिक्रिया हुई, उसी पर विचार करना है। आलोचकों का कहना है कि भारतवर्ष मे दो मत बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं—एक वैष्णवमत ; और दूसरा—शैवमत। दोनों मतों के उपासकों के दो सम्प्रदाय—वैष्णव-सम्प्रदाय और शैव-सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, और दोनों की धार्मिक रूढ़ियों या विचार-धाराओ में इतनी अधिक विषमताएँ आ गई कि वे एक दूसरे के कट्टर विरोधी बन गये। राम-कथा में वर्णित बातों के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि राम के समय में भी यह बखेड़ा विद्यमान था। कृष्ण के समय भी उसका उल्लेख मिलता है। तुलसी के काल में भी वह मिटा नही था ; इसलिए मानस के आलोचकों ने तुलसी की मुक्तकठ से इस बात की प्रशंसा की है कि उन्होंने वैष्णव और शैव मतों मे समता अथवा एकता स्थापित करने में बड़ी कार्य-कुशलता दिखाई है। इधर विष्णु का अवतार तथा विष्णु-धनुषधारी राम जब स्वयं अपने हाथ से शिव की प्रतिमा की स्थापना कर न केवल सब के सामने उस की पूजा करते हैं, बल्कि उस की ऊँची-से-ऊँची प्रशंसा कर उसे 'रामेश्वर' कहते हैं और उधर शिव जब स्वयं राम को इष्टदेव कहकर उसका जाप सदा करते हैं, तब फिर दोनों मतावलम्बियों में एकता लाने का और अच्छा दूसरा उपाय क्या हो सकता था? अतः आलोचकों का कथन है कि जिस विरोध को अन्य कोई आचार्य नहीं मिटा सके, उसे तुलसी ने इस तरह मिटा दिया कि आज प्रायः हर हिंदू के घर में राम और शिव दोनों की उपासना और मूर्तियाँ अभेद रूप से देखी जाती है।

उक्त आलोचनाओं में तत्त्व और व्यवहार-दृष्टि की शून्यता

यह सच है ; परन्तु राम-द्वारा केवल शिव-लिंग की स्थापना या पूजा कराने मात्र से एवं राम व शिव के द्वारा पारस्परिक प्रशंसात्मक वचन-मात्र से यह निष्कर्ष निकालना कि तुलसी ने वैष्णवों या शैवों मे एकता स्थापित कर दी, हमारी समझ में, बुद्धिमान उपासकों के मन को फेरने के

लिए पर्याप्त यौक्तिक विधि नहीं मानी जा सकती मूर्ख उपासक भले ही उन ा प्रभावित होकर अपनी पूर्वार्जित धारणा को परिवर्तित कर लें। इस बात पर, हमें जहाँ तक ज्ञात है, किसी आलोचक ने ध्यान नहीं दिया। तुलसी स्वयं कुछ मूर्ख उपासक तो थे नहीं, जो इतने से ही अपना मन समझा लेते। वे थे बड़े बुद्धिमान, तत्त्वज्ञ और व्यवहार-कुशल। इसलिए, उन्होंने विष्णु और शिव संज्ञाओं में एकता बैठाने के लिए कोई-न-कोई दूसरा गहरा तात्त्विक और व्यावहारिक तर्क अवश्य ढूँढा होगा ; अतः हमें अब इसी तात्त्विक और व्यावहारिक दृष्टि से विचार कर बताना है कि राम-भक्त तुलसी ने अपने क्रान्ति-पथ का नायक राम को न चुनकर शिव को ही क्यों चुना !

पथ-नायक शिव की तात्त्विक और व्यावहारिक समीक्षा

सब से पहला प्रश्न जो उठता है, वह यह कि क्या हम राम के द्वारा स्तुत्य शिव की उसी शिला-मूर्ति को मानें, जिसकी उन्होंने सेतुबन्ध पर स्थापना पर पूजा की थी, अथवा क्या हम काशी में स्थित मूर्ति को या कैलासवासी कही जाने वाली मूर्ति ही को स्तुत्य और पूज्य कहें, जिनका उल्लेख भी हमें मानस तथा तुलसी के अन्य ग्रन्थों मे मिलता है ? यदि नहीं। तो फिर वह शिव कौन है ? क्या वह कोई ऐसा व्यक्ति-विशेष है, जो काशी में रहता हो और कैलास पर भी—एक ही व्यक्ति दो अलग-अलग स्थानों में एक साथ रहे यह विश्वसनीय है क्या ? निष्कर्ष यह है कि वह शिव, जिसकी राम ने प्रशंसा और पूजा की है, न तो निरी शिला-मूर्ति है और न कोई व्यक्ति-विशेष ही, जो काशी या कैलास में निवास करता हो, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है। मूर्ति चाहे शिला की हो या काठ की, चाहे अचल हो या चल, है तो आखिर किसी भावना की प्रतिमा। सच पूछा जाय, तो सारी सृष्टि के सारे व्यक्त पदार्थ चाहे जड़ हों या चेतन, अमूर्त भावनाओं के मूर्तरूप होते हैं। एक मूर्तियाँ तो वे होती हैं, जिन्हें ईश्वर बनाता है, अर्थात् जो विकास के नियमानुसार अपने-आप व्यक्त होती रहती

है, और दूसरी मूर्तियाँ वे होती है, जिनकी रचना मनुष्य अपने मन में उठी हुई भावनाओं के अनुरूप करता रहता है। ईश्वर अपनी कृतियों में चेतना ला सकता है, पर मनुष्य यह करने मे असमर्थ रहता है। फिर भी अच्छे कलाकारों की कलम या शलाकादि मे वह बल रहता है कि उनके द्वारा व्यक्त की गई मूर्तियो मे सजीवता की प्रतीति होने लगती है। शिव की मूर्ति भी इसी प्रकार से बनाई हुई दिखती है। कुछ मूल भावनाएँ तो ऐसी है, जिनके विषय में कलाकार या कवि, परंपरावश कुछ हेर-फेर नहीं कर सकते; और कुछ ऐसी है, जिन्हें हर कलाकार या कवि उन मूल भावनाओं के आधार पर अपनी-अपनी रुचि या बुद्धि के अनुरूप घटा-बढ़ा लेता है। तुलसी की विनय-पत्रिका के उन प्रारम्भिक भजनों को देखिए, जिन में उन्होंने शिव की स्तुति की है, तो आप को विदित होगा कि उन्होंने उनका गान परंपरा-प्राप्त भावनाओं के आधार पर सैकड़ों अन्य विशेषणों से युक्त करके किया है। परंपरा से इन भावनाओं का चित्रण इस विधि से होता आ रहा है कि उन्हे पढ़ने, सुनने या देखने से एक ऐसी सजीव मूर्ति आँखों के सामने झूलने लगती है कि मानों सचमुच ही कोई शिव या शंकर नाम का व्यक्ति रहा हो, या अभी उस बर्फ से ढँके हुए कैलास पर्वत पर रहता हो, जहाँ किसी की पहुँच नही हो सकी है; परन्तु हम यह नहीं मानते कि शिव नाम का कोई व्यक्ति हुआ था है—न हम यह ही मानते कि वह कैलास के बर्फ से ढंका हुआ समाधि लगाये बैठा है, या कि वह काशी मे बैठा हुआ मुक्ति बाँट रहा है। शिव की वह काशी या कैलास, हमारी बुद्धि के अनुसार वे नही है, जिन्हें हम आज काशी या कैलास कहते है। 'काशी' का पर्यायवाची सस्कृत भाषा में 'काशि' है। "काशी' का अर्थ सूर्य या रवि होता है।[९] 'काशी:' सम्भवत: 'काश' धातु का रूपान्तर है, और 'काश' के माने है, 'प्रकाशमान होना'[१०] (to shine,

---

९. 'शब्दार्थ-पारिजात' (चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा कृत)।
१०. 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' (व्ही० व्ही० भिड़े कृत)।

to look brilliant) इसलिए, जब यह कहा जाता है कि शिव का वास काशी है तथा काशी मुक्तिदायिनी है, तब यह समझना चाहिए कि जो मानव योगेन्द्र शिव के अनुकूल चलता है, उसका जीवन प्रकाशमान (कीर्तिमान) बन जाता है और वह मुक्ति-फल का अधिकारी हो जाता है। तुलसीदासजी ने सम्भवत: इसी कारण अथवा किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर विनय-पत्रिका के ११ वे भजन में शिव के लिए 'शेष सर्वेश आसीन आनन्दवन' कहा है, और उस 'आनन्दवन' का अर्थ टीकाकारो ने 'काशी' बताया है।[११] इससे सिद्ध होता है कि शिव से सम्बन्धित 'काशी' सर्वप्रथम गंगा के किनारे कोई 'आनन्दवन' नाम का स्थान रहा होगा जहाँ कालान्तर से क्रमश: एक नगर बस गया हो और उसी को लोग काशी कहने लगे हों। अथवा यह भी सम्भव है कि यह शिवरूपी भाववाचक संज्ञा को सम्बोधित करने वाली केवल आनन्दायिनी [illegible] ही हो

'वन' प्रत्यक्षत: 'जगल' को कहते हैं। पर उसी का प्रयोग धर्म-ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर सृष्टात्मक बाहुल्य या जटिलता प्रकट करने के हेतु किया गया पाया जाता है। इसलिए, 'आनन्दवन' से 'लोकानन्द' (Blissful wordly life) का अभिप्राय भी प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि तुलसीदासजी के मन में 'आनन्दवन' लिखते समय 'कैलास' पर दृष्टि रही हो, न कि 'काशी' पर, जैसा टीकाकार कहते है, क्यों कि 'कैलास' अभी भी वन के रूप में विद्यमान है और योगियों की दृष्टि से वह आनन्दप्रद स्थान माना भी जाता है।

चूँकि हम शिव को व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानकर भाववाचक संज्ञा मानते हैं, इसलिए उससे सम्बन्धित 'काशी' और 'कैलास' संज्ञाओं के मूलार्थ को ही महत्त्वपूर्ण समझते है। जिस प्रकार 'काशी' शब्द में मूलत: तेजोमय

---

११. देखो विनय-पत्रिका (तुलसी-ग्रन्थावली), पृ० ४६६ और वियोगी हरि की हरितोषिणी नाम्नी टीका।

कीर्तिमान जीवन की भावना निहित है, उसी प्रकार 'कैलास' शब्द में आनन्द और मोक्ष की भावनाएँ भरी है। कैसे ?

'कैलास' का संस्कृत रूप है 'कैलास.'। इसका संधिविग्रह हुआ, कैल+ आस:। 'कैल' 'केल्' धातुका रूपान्तर है। 'केल्' का अर्थ होता है 'क्रीड़ा करना, (to sport, to be frolicsome)[१२]; और 'आस:' का अर्थ है 'बैठक' (a seat)। 'आस:' 'आस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'बैठना' (to sit)। इस तरह 'कैलास:' उस स्थिति-विशेष का द्योतक है, जिसमें कर्मो की बालकों-जैसी क्रीड़ात्मक आनन्दमयी अनुभूति होती हो। परन्तु लौकिक कर्मों के विषय में 'क्रीडा' या उसके पर्यायवाची शब्द 'लीला' की उपाधि केवल ईश्वर या ईश्वरावतारों को दी जाती है, न कि किसी देव को। इसीलिए हम ईश्वरलीला, रामलीला, कृष्णलीला आदि संज्ञाओं का प्रयोग देखते है, न कि शिवलीला, ब्रह्मा-लीला या इन्द्र-लीला आदि का। देव-कर्मो मे क्रीड़ा का भाव नहीं रहता। उनमें रहता है, प्रयत्न या प्रयास का भाव—वह प्रयास, जो मुक्ति की ओर ले जाने वाला हो। यही भाव हमें 'कैलास:' शब्द में अर्न्तनिहित दिखाई देता है। किस तरह ?

'शिव' इन्द्रिय-शमन का प्रतीत है। इसीलिए वह शम्भु, शंकर, शंप्रद[१३] आदि नाम से विख्यात है। इन्द्रिय-शमन हो जाने के कारण वह शून्यवत् शेष हो तद्रूप हो जाता है, अर्थात् वह केवल-पद (Supreme oneness) का भोक्ता कहलाता है। 'केवल' से कैवल्य अथवा 'कैवल' भाववाचक संज्ञा बनती है। जो 'कैवल्य' का अधिकारी होता है, वही उसका दाता भी हो सकता है; इसीलिए तुलसीदासजी शिव की वन्दना करते समय यह कहते हैं—"यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।"[१४] इस व्याख्या

---

१२. 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' (भिड़े कृत)।

१३. 'विनय पत्रिका' १२।

१४. मानस, लं० कां० प्रारम्भिक वन्दना।

के अनुसार 'कैलासः' शब्दोच्चार के भेद से 'कैवल्यासः' (कैवलासः) का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। इसीलिए यह शिव कैलासवासी कहाता है, जिसका अर्थ है, वह स्थिति-विशेष, जिसमे केवल-पद अर्थात् मुक्तावस्था की अनुभूति होती हो।

कैलासवासी होना अथवा कैवल्य-पद का भोक्ता या दाता होना कोई नानी-दादी का खेल नहीं है। वह दुर्लभ आदर्श (कैवल्यमपि दुर्लभम्) की एक पाराकाष्ठा है। पराकाष्ठा रूप शिव पृथ्वी पर विचर कर पृथ्वीवासियों की नायकी करके उन्हें यथाविधि कर्म कराता हुआ, उक्त आदर्श की ओर बढ़ाता चलता है; ताकि वे स्वयं आत्म-बल के आधार पर अहं-शेष रूप हो कैवल्यवास को प्राप्त कर सकें। मानस में तुलसीदासजी ने शिव की जो व्यावहारिक व्याख्या दर्शाई है, वह यही है, जैसा कि निम्न दोहे से विदित होता है—

> **"चिदानन्द सुखधाम सिव, बिगत मोह मदकाम।**
> **बिचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल लोक अभिराम॥"**[१५]

उक्त दोहे में 'बिचरहिं महि' का अभिप्राय यह नहीं है कि तुलसी का यह भाववाचक शिव सदा राम-नाम जपता हुआ इधर-उधर निठल्ला फिरने वाला है। उसका अभिप्राय है, पृथ्वी पर रहकर कर्मयोगी बनने का, जिससे पृथ्वी-क्षेत्र पर बर्तने वाले मानव उसके पदानुगामी बनें। इस प्रकार का कर्म-योग कब होता है? वह तब होता है, जब एक ओर प्राकृतिक कुवृत्तियों का त्याग कर मन में उनके प्रति विराग उत्पन्न हो जाय, और दूसरी ओर, ईश्वरीय गुणों के प्रति अनुराग आ जाय। इन दोनों बातों के आने पर शिव महि पर विचर कर कर्म की साधनाएँ करते है, जैसा कि उक्त दोहे के पूर्व की दो पंक्तयों में कवि ने दर्शाया है। वे ये हैं; उन्हें उक्त दोहे के साथ पढ़िये—

---

१५. वही, बा० का० ७५

"जब तें सती जाइ तनु त्यागा, तब से सिवमन भयउ विरागा।
जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।।"
"चिदानन्द सुख धाम सिव, विगत मोह मद काम।
विचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल लोक अभिराम।।"

टिप्पणी--सती 'प्रकृति' की द्योतक है और 'तनु' 'कुवृत्तियों' का। इसलिए 'सती तन त्याग' का अभिप्राय है—'प्राकृतिक कुवृत्तियों का त्याग।[१६]

यह है, शिव नाम्नी व्यावहारिक भावना, जिसका अनुगमन कर तुलसी अपने पथ पर चलना चाहता है और दूसरों को भी उसी के अनुरूप चलाना चाहता है। जब मनुष्य इस नामक शिव के समान 'विगत मोह-मद-काम' होकर तथा 'हृदय हरि धर कर महि पर विचरता है, तभी वह अपने अन्तस्थ में 'चिदानन्द सुखधाम' की अनुभूति करता हुआ 'सकल लोक अभिराम' अर्थात् सर्व जगत् का प्यारा बन सकता है।

'सकल लोक अभिराम' बनने के मार्ग मे दो प्रबल शत्रु आड़े आते है—एक काम (Selfish desire) जो क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर का जन्मदाता रहता है। और दूसरा, कुतर्क, अर्थात् आसुरी तर्क, जो असत्य पर सत्य का रंग चढाता है। कैवल्याधिकारी शिव अपने विवेकरूपी तीसरे नयन को खोल कर काम को भस्म कर देते है और अपनी कृतकार्यता के द्वारा आसुरी तर्क को भी समाप्त कर देते है। काम को भस्म करने तथा आसुरी तर्क को समाप्त करने के विषय मे मानस मे कथाएँ आई हैं, जिनके पढने से यह भ्रम होता है कि शिव व्यक्तिरूप पुरुष थे। यथार्थ में ये दोनों कथाएँ, दो भिन्न भावों की प्रदर्शक है। एक भाव है, ईश्वर-चिन्तन में मग्न या ध्यानस्थ होकर, अथवा दूसरे शब्दों मे सद्वृत्त मे एकाग्रचित्त (concentration) होकर जो विवेकशीलता उत्पन्न होती है, उसके द्वारा काम-

---

१६. सती-तनु-त्याग का विवरणात्मक रहस्य जानने के लिए पाठक लेखक की पुस्तक 'हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूप रेखा' पृष्ठ ९० से ९३ तक पढ़ें।

रूपी शत्रु को जीतना—"तब सिव तीसरा नयन उघारा, चितवत काम भयउ जरि छारा।[१७]" इस भाव को समझने में कोई कठिनता नहीं है, क्यों कि हम कई रामायणियों को 'तृतीय नेत्र' का बहुधा यही अर्थ करते सुनते रहते है। परन्तु, 'आसुरी तर्क' से सम्बन्धित जो दूसरा भाव हम प्रकट करना चाहते हैं, उसका उत्तरदायित्व केवल हमारी अल्प बुद्धि पर है। अध्यात्म-प्रधान लोक-पथ से भ्रष्ट हो जाने वाले लोग बहुधा गलत तर्कों के द्वारा न केवल दूसरों को गुमराह करते हैं, वरन् स्वयं अपनी आत्मा की पवित्र अन्तर्ध्वनि को मंद कर लेते है। इन कुतर्कों को हम मूर्खतावश जीवन को तारने वाली विधि समझते हैं। 'तर्क' का अपभ्रंश 'तरक' है, जिसका प्रयोग अक्सर ग्रामीण लोग करते है। तुलसी ने स्वयं मानस आदि अपने ग्रन्थों मे इस प्रकार के कई शब्दों का प्रयोग किया है ; जैसे—'कर्म' के लिए 'करम'। जो तारने वाला होता है, उसे 'तारक' कहते है। इसलिए शिव से सम्बन्धित 'असुरतारक' की जो कथा मानस में आई है, वह हमारी समझ में इसी कुतर्क की प्रतीक है। इस कुतर्क (आसुरी तर्क) का अन्त अपने-आप उस समय हो जाता है, जब मनुष्य ध्यानस्थ होकर कर्तव्य-कर्म को करने मे जुटा रहे। इस प्रकार का मनुष्य कृतकार्य कहाता है। कृतकार्य करने वाली शक्ति-का यदि नाम रखा जाय, तो उसे 'कार्तकेय' कहेंगे। यही 'कार्त्तकेय' शिव-कथा मे 'शंभु-शुक्र-सुत' कहा जाता है। वही 'असुर तारक' को परास्त करने वाला कहा गया है। मानस में दी हुई तत्सम्वन्धी पक्तियों के पढ़ने से उक्त भाव प्रकट हो उठता है। उनमे से पाठकों के अवलोकनार्थ केवल निम्न पक्तियाँ देना पर्याप्त है—

"मन थिर कर शंभु सुजाना, लगे करन रघुनायक ध्याना।
तारक असुर भयउ तेहि काला, भुज प्रताप बल तेज बिसाला।
तेहि सब लोक लोकपति जीते, भए देव सुख संपति रीते।

१७. मानस, बा० कां० ८६।६।

× × ×

सब सन कहा बुझाइ विधि, दनुज निधन तब होइ।
शंभु-शुक्र-संभूत सुत, एहि जीतइ रन सोइ॥"[१८]

पथिक के लिए श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता

तथा

उन पर समीक्षात्मक दृष्टिपात

परन्तु उत्तम-से-उत्तम नायक मिल जाने पर भी, चाहे वह व्यक्ति-विशेष हो, या भाव-विशेष, उम पथिक को क्या लाभ, जो स्वय उस नायक के निर्देशों पर श्रद्धा न करे अथवा श्रद्धा करने पर आत्म-विश्वासी न हो? साधारणतया लोग श्रद्धा और विश्वास के भेद को भूल कर उनका प्रयोग अभेद रूप से करते पाये जाते हैं। वह भेद दृष्टान्त से जल्दी समझ मे आ सकता है? 'अ' अपनी अनुभूति के आधार पर क, ख, ग और घ नाम के व्यक्तियों को काश्मीर देश का प्रशंसात्मक वर्णन सुनाता है और उनसे उसे देखने के लिए आग्रह करता है। 'क' 'अ' की बात पर श्रद्धा ही नहीं करता, उसे कोरी गप अथवा सन्देहात्मक समझकर उसके लिए कोई प्रयत्न ही नहीं करता। 'ख' श्रद्धा तो करता है, पर आलसी आदि होने के कारण वहाँ जाने का विचार ही मन में नहीं लाता। 'ग' श्रद्धा करके उस ओर चल पड़ता है, परन्तु मार्ग-कठिनाइयों के कारण भयादि-वश बीच ही में जाना बन्द कर देता है। परन्तु, 'घ' श्रद्धा करता है ओर 'अ' के बताये अनुसार कठिनाइयों की परवाह न करता हुआ निरन्तर काश्मीर की ओर बढता जाता है, क्यों कि उसे अपनी आत्म-शक्ति में पूर्ण विश्वास है। 'क' मे न श्रद्धा है न विश्वास। 'ख' में श्रद्धा है; पर विश्वास नहीं 'ग' में श्रद्धा और विश्वास दोनों हैं, पर पूर्ण विश्वास नहीं। परन्तु 'घ' में श्रद्धा और पूर्ण विश्वास दोनों हैं। इस तरह 'श्रद्धा' योग्य व्यक्तियों के द्वारा कही गई बात को सत्य मानने की

---

१८. वही ८।१४–६।

तत्परता को कहते हैं और 'विश्वास अपने-आप की अचूक-अटूट आत्म-शक्ति पर श्रद्धा रखने को कहते हैं। दूसरे शब्दों में, 'विश्वास' आत्म-विश्वास का द्योतक है।

हर मानव प्रकृति और आत्मा का सयोग रूप है। देव-सज्ञाओं मे भी इन दोनों का संयोग माना जाता है। यहाँ तक कि उनका वर्णन पति-पत्नी के रूप मे किया जाता है; जैसे—लक्ष्मी-विष्णु, सरस्वती-ब्रह्मा, पार्वती-शिव आदि। मनुष्य की प्रकृति यदि ऐसी हो कि वह आप्त व्यक्तियों के निर्देशों पर श्रद्धा न करे, तो वह अपनी उन्नति नहीं कर सकता, और यदि श्रद्धा होने पर आत्मविश्वासी न हो, तब भी वह उन्नति से वंचित रहता है; अतएव इन दोनों से युक्त होना आवश्यक है। तुलसी ने मानस को प्रारम्भ करते समय ही इन दोनो की आवश्यकता की ओर वाचकवृन्द का ध्यान आर्कषित कर दिया है और उनके आदर्श रूप का आरोप करके यह बताया है कि उनके बिना कोई भी मनुष्य आत्म-स्थित ईश्वरत्व को नहीं पा सकता, अर्थात् पूर्वोक्त कैवल्य से वंचित रहता है। यह है उनकी तत्सम्बन्धी वन्दना—

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥"

यहाँ भवानी (पार्वती) को श्रद्धारूप और शंकर को, जिन्हें भव भी कहते हैं, विश्वासरूप कहा है, और बताया है कि इनके बिना सिद्धहस्त लोग भी आन्तर्यामी प्रभु के दर्शन नहीं कर पाते, अर्थात् उन्हें अपनी ईश्वरीय आत्म-शक्ति का ज्ञान नही हो सकता। भवानी को श्रद्धारूप क्यों कहा? भवानी पूर्वजन्म में सती थीं। आत्मविश्वासी शिव अपनी अनुभूति के आधार पर सती को राम-विषयक महत्त्व की बात सुनाते है। सती को उनके कथन में श्रद्धा नही हुई—उसकी सत्यता में सन्देह हुआ। श्रद्धाहीन को अपना सन्देह मिटाने के लिए केवल एक यह उपाय रहता है कि वह स्वयं तद्-विषयक अनुभव करके देख ले। इसलिए शिव श्रद्धाहीन सती से कहते हैं—

"जो तुम्हरे मन अस सन्देहू, तौ किन जाइ परीक्षा लेहू।"

सती परीक्षा करती है और अनुभव के द्वारा रघुवीर के प्रभाव को जान जाती है। तत्पश्चात् संयोग-वश अपने पिता राजा दक्ष के यज्ञ में अपना तन त्याग कर पार्वती नाम से उत्पन्न हो, शिववरण के हेतु उग्र तप करती है, जिसके फलस्वरूप उसका शिव के साथ विवाह हो जाता है। अब यह पार्वती वह सती नही रही, जिसे अनुभूति-सिद्ध शिव के वचनों में श्रद्धा नहीं थी। अब वह श्रद्धावान भवानी बन गई है और शिव से कहती है——

"तब कर अस विमोह अब नाहीं, रामकथा पर रुचि मनमाहीं।
कहहु पुनीत राम गुन गाथा, भुजगराज भूषन सुर नाथा॥"[१९]

यहाँ शिव को 'भुजगराज-भूषण' और 'सुरनाथ' कहा है। (भुजग अथवा भुजंग) सुनते ही हमारे मन मे सर्प नानक जीव की झाँकी उठ खड़ी होती है। उसके भावार्थ पर बिलकुल ध्यान नही जाता। इसके तीन कारण हैं——एक तो मनुष्य साधारणतः स्वभाव से स्थूल-द्रष्टा होता है, न कि तत्त्व द्रष्टा; दूसरे, टीकाओं आदि में तत्त्वार्थ पर क्वचित ही विचार किया जाता है; तीसरे, हम शिव की उन्हीं मूर्तियों से परिचित रहते हैं, जिनके गले में सर्प लिपटे दिखाई देते हैं। इस तरह की मूर्तियाँ बनाये जाने के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि मूर्तिकार सामान्यतः अपने द्वारा निर्मित की गई मूर्ति में स्थूल पदार्थ का ही प्रदर्शन कर सकता है—अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व का नहीं; और दूसरे कारण का सम्बन्ध है, ध्यानयोग से। ध्यान-योग की जो चरम-सीमा है, वही शिव की मूर्ति में व्यक्त की जाती है। ऐसे समाधिस्थ योगी के शरीर पर यदि दीमक की मिट्टी का ढेर चढ़ जाय, या उसके शरीर में सर्प भी लिपट जायें, तो भी उसका ध्यान विचलित नहीं होता। ध्यान-योग की इसी चरम-सीमा का प्रदर्शन कलाकार शिव की गर्दन आदि में सर्पो को लपेट कर किया करते हैं। इस प्रक्रर के प्रदर्शन के द्वारा इस मे सन्देह नहीं, वैयक्तिक उत्कृष्टता की शिक्षा निहित रहती है। पर, समाज

---

१९. मानस, बा० कां० १०८।७–८।

में रहकर कर्म करने वाले कर्मयोगी के लिए उसमे कुछ व्यावहारिक विशि-ष्टता की झलक नहीं आती। जीवन वही है, जिसमे लोक और परलोक दोनों की सिद्धि हो। इस हेतु ध्यान योग (अर्थात् ज्ञान-योग) और कर्म-योग दोनों के यथोचित प्रयोग की आवश्यकता होती है, जैसा कि गीताकार ने कहा है कि ज्ञान-योग और कर्म-योग में भेद बताने वाले लोग बालकों के समान मूर्ख होते हैं; पंडितों की दृष्टि मे उन दोनो मे कोई भेद नहीं है—"सांख्ययोगी पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:"।[20] अत: ज्ञान और कर्म दोनों की दृष्टि से 'भुजग' का भावार्थ ही महत्त्वपूर्ण है। यह भावार्थ क्या है ?

'भुजग' तथा उसके पर्यायवाची शब्द 'सर्प' के धात्वर्थ पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वे दोनों ' अथवा प्रगतिवान सृष्टि (Evolutionary or dynamic world) के प्रतीक हैं। कैसे ?

पहले 'सर्प' को लीजिए। 'सर्प' 'सृप' धातु का रूपान्तर है। 'सृ' का अर्थ है 'गतिवान होना' (to move) तथा 'सृप' का अर्थ है 'सरकना' (to crawl; to creep)। इसी कारण 'सर्प:' का अर्थ होता है 'घुमाव-दार गति' (winding motion)[21] सृष्टि के विकास के विषय मे भी वैज्ञा-निकों का कहना है कि उसकी गति उन्नत चक्र के रूप में बर्तती रहती है।

इसी तरह 'भुजग' को देखिए। 'भुजग' का प्रथक्करण तीन प्रकार से होता है—(१) भु+ज+ग; (२) भु+जग; (३) भुज+ग। 'भु' और 'ज' दोनों उत्पत्ति-सूचक वर्ण है और 'ग' गति सूचक है।[22] अत: 'भुजग' का एक अर्थ तो हुआ 'गतिवान उत्पत्ति' या 'गतिवान रचना' (dynamic

---

२०. गीता ५।४।

२१. भिड़े कृत 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश'।

२२. 'भुजंग' का अन्त्याक्षर 'ग' गति का उसी प्रकार अर्थवाची है, जिस प्रकार 'ख ग' का 'ग' है। ख=आकाश; ग=गतिवान; इसलिए खग=पक्षी।

creation or world) और दूसरा अर्थ निकलता है 'भुज+ग' से। 'भुज्' के दो मूल अर्थ हैं। एक में 'भोग' (enjoyment or suffering) का भाव है, और दूसरे मे 'शासन अथवा नियंत्रण' (to rule or to govern) का।[२३] इस दृष्टि से भी 'भुजग' से 'प्रगतिवान संसार का भोग या नियंत्रण' का बोध होता है।

'भुजग' जब प्रगतिवान संसार है, तब 'भुजगराज' कौन हुआ ? वही पूर्व मे कथित 'अशून्य शून्य कल्पितम्' स्थिति, जो अहंरूप 'शेष' कहाती है। यही 'शेष' प्रवृत्त होकर प्रवर्तित चक्राकार में रचता हुआ स्थूलाकार होता जाता है, जिसे सृष्टि कहते है, और जब इस स्थूलाकार सृष्टिरूपी वृत्तियों से निवृत्त होने का मार्ग पकड़ा जाता है, तब भी अन्त में वही 'शेष' रह जाता है। मूल भावार्थ वाला यही शेष है, जो बाद में सर्पो का राजा 'शेष' या 'शेषनाग' कहा जाने लगा और शिव के अंग का भूषण बना दिया गया। यथार्थ में शिव-संज्ञा का भूषण है—निवृत्ति-सूचक यह अहं-शेष वाली अन्तिम स्थिति। यही अहं-शेष सर्व सृष्टि का स्वामी और मानव-जीवन का आभूषण है। इसीलिए शिव को 'शेष सर्वेश आसीन आनन्दवन', एवं भुजगराज-भूषन सुरनाथ' कहकर तुलसी ने मानव-जगत् के सम्मुख शिव-संज्ञा का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया है, ताकि हर मनुष्य सृष्टि में यथाविधि बर्तता हुआ निवृत्ति-मार्ग को न भूले। इस तरह तुलसीदासजी ने काम में निष्कामिनी, अथवा प्रवृत्ति में निवृत्तिगामिनी आत्मगत प्रगति की प्रतिमा शिव-संज्ञा में प्रदर्शित की है। आत्म-विश्वसिनी यह शिव-संज्ञा तभी फलीभूत हो सकती है, जब सतीरूप सन्देहात्मक (डांवाडोल) प्रकृति-दग्ध होकर अचल पर्वत-पिता की अडिग पुत्री रूप पार्वती (भवानी) बन उसकी श्रद्धालु भक्तिन हो जाये और उससे (अपनी आत्मा से) 'पुनीत राम' की 'गुनगाथा, सुनने के लिए उत्सुक हो—'कहहु पुनीत राम गुन गाथा।' यह क्यों ? इसलिए कि उन गुणों को जानने से राम के उन कर्मो का ज्ञान होता है, जिनके फल-

---

२३. भिड़े कृत 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश'।

स्वरूप वे स्वयं संसार में यश के भोक्ता हैं और तदनुकूल कर्मशील श्रोता को भी यशस्वी बना सकते है--

'बरनहु रघुबर बिसद जसु, श्रुति सिद्धान्त निचोरि।'[२४]

प्रकृति और आत्मा का जब इस प्रकार संयोग होता है, तब शिव (व्यक्तिगत आत्मा) और ब्रह्म (सर्वव्याप्त आत्मा) अभिन्न हो जाती है। उधर से ब्रह्म कहता है—'अहं ब्रह्म', तो इधर से शिव बोलता है—'शिवोऽहं'। यह है, नर से नारायण बनाने की सामर्थ्य रखने वाला तुलसी का पथनायक शिव, जिसकी दृष्टि में अवतार-रूप भगवान् की भक्ति का पालन करना आवश्यक होता है, जैसा कि तुलसी ने शिव के मुख से ही कहलवाकर इस छन्द में व्यक्त किया है—

"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी॥
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥"[२५]

(ख) पथिक का आत्म-व्रत (vow)—व्रत की परिभाषा और उसकी अनेकता

सामान्यतः व्रत उस नियम-बद्ध साधना को कहते हैं, जो किसी लक्ष्य-वेध के हेतु की जाती हो। संसार मे दो प्रकार के मनुष्य होते है--एक दुष्वृत्ति के, और दूसरे सद्वृत्ति के। दुष्वृत्तिवालों का लक्ष्य निम्नस्तर का होता है, इसलिए उनके व्रतों की अन्तर्भावना भी निम्नस्तरीय होती है, और जो सद्वृत्तिवाले होते हैं, उनके व्रत सद्भावना-युक्त होते हैं।

तुलसी धर्मनिष्ठ थे। वे अपने तथा समाज के जीवन में पवित्रता लाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, आत्म-सुधार और समाजोद्धार ही उनका

---

२४. मानस, बा० कां० १०९।
२५. मानस, बा० कां० ५०, छन्द।

लक्ष्य था। इस प्रकार के श्रेयस्कर लक्ष्य के हेतु जो साधनाएँ की जाती हैं, उन्हें कई नामों से पुकारते हैं; जैसे--संकल्प, तप, व्रत, प्रतिज्ञा या प्रण आदि।

चूँकि मनुष्य शरीर-मन-आत्मा का सयोग रूप होता है, इसलिए उसके व्रत भी उक्त तीनों अगों से सम्बन्धित रहते है। तुलसी के व्रत इन तीनों से सम्बन्धित थे, क्यों कि हर धर्मनिष्ठ लोक-सेवक उक्त तीनों अगों को स्वस्थ और सुव्यवस्थित रखना परमावश्यक समझता है। इन तीनों को सुव्यवस्थित रखने की धर्म-शास्त्रों मे अनेक क्रियाएँ देखने को मिलती हैं। उन सब का प्रयोग, करना हर मनुष्य के लिए असम्भव होता है; इसलिए विद्वान् साधक अपने-अपने अनुरूप केवल कुछेक आवश्यक प्रयोगों से सन्तोष कर लेते हैं। इस प्रकार के नितान्त आवश्यक प्रयोगों का उल्लेख कई मान्य आचार्यों ने अपने ग्रन्थों मे पूर्वकाल ही में कर दिया है। उदाहरणार्थ--महर्षि पातञ्जलि ने अपने योग-दर्शन मे पाँच नियमों और पाँच यमों का उल्लेख किया है। हमारी समझ के अनुसार नियम वे प्रयोग है, जो हर मनुष्य को करना चाहिए, चाहे वह समाज में रहे या केवल अकेला; और यम वे प्रयोग हैं, जो समाज में रहने वाले हर एक को करना आश्यक होता है। वे नियम और यम ये है:--

"शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा"[२६] अर्थात्--शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर--चिन्तन--(meditation) ये पाँच नियम है, और

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमः"[२७]

अर्थात्--अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (त्याग) ये पाँच यम है।

जिन नियमों और यमों का उल्लेख पातञ्जलि ने किया है, उन्ही का

---

२६. योग दर्शन २।३२।

२७. वही २।३०।

वर्णन कुछ हेर-फेर से महर्षि वेदव्यास ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। वे ये है—

(१) अभय, (२) सत्त्व-संशुद्धि (आत्म-शुद्धि), (३) ज्ञान-योग-व्यवस्थिति, (४) दान, (५) दम, (६) यज्ञ, (७) स्वाध्याय, (८) तप, (९) आर्जव, (आन्तरिक सरलता), (१०) अहिंसा, (११) सत्य, (१२) अक्रोध, (१३) त्याग, (१४) शान्ति, (१५) अपैशुन (किसी की चुगली या निन्दा न करना), (१६) दया (१७) अलोलुपता, (१८) मार्दव (विनम्रता), (१९) अनहंकार या लज्जा (mod.sty) (२०) अचपलता, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धृति, (२४) शौच, (२५) अद्रोह और (२६) निरभिमानता।[२८]

व्यासजी कहते है कि यही सब दिव्य पुरुष की दिव्य संपदा है (संपदं दैवीमभिजातस्य)[२९] और इस दैवी संपदा से युक्त मनुष्य मोक्ष (दैवी संपद्विमोक्षाय)[३०] का अधिकारी हो जाता है।

तुलसी की साहित्यिक कृतियों तथा उपलब्ध जीवनी से यही प्रकट होता है कि वे उपर्युक्त विविध गुणों के व्रतधारी थे। सच पूछा जाय, तो धर्मनिष्ठ मनुष्य का जीवन व्रतों का एक समुच्चय-रूप ही हुआ करता हैं; परन्तु बहुधा होता यह है कि वह किसी एक व्रत को प्रधान रूप से पकड़ लेता है, और उसी एक के भली-भाँति अनुपालन से दूसरे अपने-आप सधते जाते हैं, क्यों कि प्रायः सभी एक दूसरे से सम्बन्धित रहते है। उदाहरण-स्वरूप गांधी का मूलव्रत सत् (सत्य) था और अहिंसा उसका अभिन्न अंग था, यह हम पहले कह आये है। इस एक के अनुपालन के हेतु उन्हें अभय, ईश्वर-चिन्तन, यम-नियमादि सभी का पालन करना पड़ता था। व्रत-समुच्चय की सत्यता उनके इस कथन में निहित है। वे कहते है "मेरा जीवन

---

२८. गीता १६।१, २, ३।

२९. वही १६।३।

३०. वही १६।५।

व्रतों पर रचा गया है।"[३१] और व्रत-एकत्व की सत्यता उन्होंने यह कहकर प्रकट की है कि 'व्रत मे अपने को बाँधना, मानो व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है।"[३२] वही बात यह कहकर दर्शाई है कि "व्रत का प्रतिपालन किले के समान होता है, जो भयंकर प्रलोभनों से रक्षा करता है। वह मानवी निर्बलता और 'संदिग्धतारूपी रोगों का निवारण कर देता है।"[३३] परन्तु "व्रत का धारण" उनका कहना है, "केवल उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हो, जो सर्वमान्य हों—on points of universal recognized principles"[३४] "व्रत का यह अर्थ नही होता" वे कहते है "कि हम प्रारम्भ से ही उसका पूर्ण रूप से प्रतिपालन करने के योग्य हो जाते है, पर यह अर्थ होता है कि उसकी पूर्ति के लिए हम मनसा-वाचा-कर्मणा निरन्तर निष्कपट चेष्टा करते जायें।"[३५]

तुलसी का मूल-व्रत, आत्म-संशुद्धि

जिस तरह धर्मनिष्ठ गाधी अनेक व्रती, अथवा मूलतः एकव्रती थे, उसी तरह तुलसी भी थे। तुलसी का मूल एकव्रत था,—'आत्म-संशुद्धि' जिसका अभिन्न अंग था—'ईश्वर-चिन्तन', अथवा जैसा कि हम पहले कह आये हैं—'राम-रटन'। तुलसी का यह 'राम' गांधी के 'सत्' का प्रतीक है। इसलिए यम, नियम, अभय आदि अन्य व्रतों का उस राम-व्रत्त के साथ ही अंग-प्रत्यंगों के रूप में अनुपालन किया जाना उनके लिए भी स्वाभाविक ही था।

---

३१. यर्वदा मन्दिर, पृ० ७५।
(Cited in political philosophy of M. Gandhi at page 62)

३२. आत्मकथा १।३३९।

३३. My early life (abridged edition) P. 97.

३४. यर्वदा मन्दिर से।
Pol. phil. of M. Gandhi के पृष्ठ ६२ पर उद्धरित।

३५. वही।

उन सब के विषय मे तुलसी के ग्रन्थों से अवतरण देकर प्रसार बढाना निरर्थक है ; क्योंकि उन अवतरणों से केवल वही सैद्धान्तिक सत्यता प्रकट होगी, जो अन्य धार्मिक या नैतिक शास्त्रों मे पाई जाती है। अतएव, हम यहाँ पर व्यावहारिक दृष्टि से तुलसी के मूल राम-चिन्तन-व्रत की उपयोगिता ही पर कुछ कहेगे, क्यों कि सामान्यत: लोग उस पर दकियानूसी अथवा अव्यावहारिकता की छाप लगाकर उसकी अपेक्षा करते हुए पाये जाते है।

चिन्तन का जीवन में महत्त्व

चिन्तन का जीवन में कितना महत्त्व है, यह जानने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए 'क' और 'ख' नाम के दो पड़ोसी हैं। दोनों को पहनने के लिए सफेद-झक्क वस्त्र दिये। उनमें से 'क' को सदा यह चिन्ता रहने लगी कि उसके वस्त्र मैले न होने पायें, और उन पर कभी या कहीं कुछ मैल चढ़ गया हो, तो उसे किस तरह से निखार लिया जाय, इसका विचार (चिन्तन) भी उसके मन मे बना रहा। इसके विपरीत 'ख' ने इसकी चिन्ता नहीं की। परिणाम यह हुआ कि 'क' सदा ऐसे प्रयत्न (प्रयोग) करता रहा, जिनके फलस्वरूप उसके वस्त्रों पर मल नही चढ पाया, और इसका परिणाम यह निकला कि एक तो वह स्वयं प्रसन्न, सुखी एवं निरोग रहता था तथा दूसरे भी उसके साथ सम्पर्क रखने में वैसे ही प्रसन्न, सुखी एवं निरोग रहते थे ; परन्तु 'ख' ने चिन्ता न रखने के कारण अपने उज्ज्वल वस्त्र इतने गंदे कर लिये कि उनसे बदबू आने लगी, जिसके फलस्वरूप वह स्वयं तथा दूसरे अप्रसन्न दुखी या रोगी रहने लगे। यह तो हुआ 'क' का वस्त्र-शुद्धि के लिए मूलचिन्तन। उसके बाद उस पर यह चिन्ता सवार होती है कि वह कौन-सा प्रयोग कब और कितना करे, जिससे उसका वस्त्र निर्मल रहे अथवा बने। कभी वह उसे केवल पत्थर पर पछाड़कर स्वच्छ कर लेना चाहता है, कभी केवल सोडे के पानी में डालकर, कभी साबुन लगाकर, और साबुनों में भी कभी सनलाइट सोप के प्रयोग से और कभी टाटा कम्पनी ५०१ नम्बर

के साबुन से, इत्यादि। ये हुए मूल चिन्तन के पूर्तिकारक प्रयोग-विषयक विविध प्रकार के उप-चिन्तन।

चिन्तन और प्रयोग दोनों की आवश्यकता

जिस प्रकार वस्त्र-शुद्धि के चिन्तन और प्रयोग होते है और उनका विवरण तद्विषयक साहित्य में मिलता है, उसी प्रकार शरीर-शुद्धि-विषयक चिन्तन और प्रयोगों का विवरण शरीर-शास्त्र में, मन-शुद्धि-विषयक मन-शास्त्रों में तथा आत्म-शुद्धि-विषयक धर्म-शास्त्रों मे प्राप्त होता है। जीवन में चिन्तनव्रत का यही महत्त्व है। उसके बिना जीवन-शुद्धि अथवा आत्म-शुद्धि के आवश्यक प्रयत्न या प्रयोग कदापि नहीं हो सकते। दूसरे शब्दो में चिन्तन आत्म-शुद्धि की सर्वप्रथम आवश्यक सीढी है; परन्तु चिन्तनमात्र अथवा विचारमात्र से शुद्धि नहीं आती। उसके लिए प्रयोगों की आवश्यकता रहती ही है, अतः चिन्तन और प्रयोग—ये दोनों शुद्धि के आवश्यक अंग होते हैं। धर्मशास्त्रीय एक शब्द 'ईश्वर-प्रणिधान' ऐसा है, जिसमे हमारी समझ के अनुसार, उक्त दोनों भावों का समावेश हो जाता है। किसी भी मान्य शब्द-कोश को उठाकर देखिए, तो विदित होगा कि 'प्रणिधान' शब्द के माने—(१) प्रयोग और (२) ध्यान या चिन्तन (meditation) होते है।[३६] इसलिए ईश्वर-विषयक चिन्तन एवं तदनुकूल प्रयत्न (प्रयोग) करते रहने का ही नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' कहाता है। चूँ कि उक्त चिन्तन और प्रयोग विविध प्रकार के होते हैं, इसलिए पातञ्जलि के पूर्वोक्त सूत्र मे उसका बहुवचनीय रूप 'ईश्वर प्रणिधानानि' आया है।

तुलसी के व्रत में चिन्तन और प्रयोग का स्थान

हम पहले कह आये है कि ब्रह्म और ईश्वर में यह भेद है कि ब्रह्मसज्ञा अहं शून्य अथवा अहं-विलीन निर्गुणावस्था को, और ईश्वर-संज्ञा अहं-युक्त

---

३६. देखो पूर्वोल्लिखित 'शब्दार्थ पारिजात' और 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश'।

सगुणावस्था को कहते है, हालाँ कि आप को दोनों का प्रयोग बहुधा अभेद रूप से किया हुआ मिलता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि तुलसी का राम-व्रत पातञ्जलि के इस 'ईश्वर-प्रणिधान' का ही पर्यायवाची है, तो गलत न होगा; क्यों कि तुलसी का 'राम' भो, जैसा कि अभी कुछ पूर्व मे उद्धरित छन्द से प्रकट है, एक ओर तो 'व्यापक ब्रह्म' है और दूसरी ओर, वही 'मायाधनी' होने के कारण अवतरित होकर सगुण राम-रूप हो जाता है, ताकि उसके गुणो का आश्रय लेकर उसके भक्त संसार-सागर को पार कर मुक्त रूप हों सके। इस तरह रामव्रत के अन्तर्गत निर्गुण-सगुण-विषयक चिन्तन और [illegible] चिन्तन या प्रयोग दोनों का भाव आता है। जिस प्रकार गाधी का 'सत्' एवं अन्य महर्षियो का यह 'ईश्वर' अर्न्तस्थित आत्मा का द्योतक है, उसी प्रकार तुलसी के इस 'राम' को समष्टि और व्यष्टि दोनों की अन्तर्यामी आत्मा का द्योतक समझना चाहिए जैसा कि 'स्वान्त: स्थमीश्वरम्' के द्वारा उन्होने मानस के प्रारम्भ में ही कह दिया है; अतएव तुलसी के राम-व्रत का अभिप्राय यही है कि निर्गुण आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन रहे और साथ ही उसकी सगुणात्मक असीम शक्ति का अनुशीलन (निरन्तर चिन्तन और अभ्यास) होता रहे, जैसा कि उपरोक्त छन्द की प्रथम दो पक्तियो में प्रयोग किये गये 'ध्यावहिं' और 'कीरति गावहिं' शब्दों का आशय निकलता है।

स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से ईश्वर-चिन्तन के विविध रूप और उनका समीक्षात्मक समर्थन——

(१) पूजा का महत्त्व

चूँकि हम सगुणी और सशरीरी है, इसलिए अनभ्यस्त होने के कारण हमारे लिए एकाएक किसी निर्गुणी वा अशरीरी की कल्पना तक करना कठिन है, उस पर ध्यान जमाना तो दूर की बात रही! इसलिए पहले-पहल तो हमें तत्सम्बन्धी योगियों की कही हुई बात पर ही श्रद्धा करनी होगी, और फिर आत्म-विश्वास के बल पर अभ्यास करते-करते सगुण-

स्थूल से निर्गुण-सूक्ष्म की ओर बढना होगा, जैसा कि अभी शिव-विषयक विवेचन के समय कुछ पहले बता आये हैं। हर दृश्यमान प्रत्यक्ष पदार्थ स्थूलातिस्थूल सगुण स्वरूप होता है। मनुष्य भी मानव-क्षेत्रीय एक ऐसा ही पदार्थ है। जिस मानव में ईश्वरीय (अथवा शुद्ध आत्मीय) गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके कृत्यों के द्वारा होता है, उसकी ओर अन्य लोगों का खिचाव अपने-आप होने लगता है, और वह उनकी दृष्टि मे प्रेम-पात्र, सम्मानित और पूज्य बन जाता है। जिसमें जितना अधिक यह प्रत्यक्षीकरण होता है, उसी के अनुरूप उसको सम्मान प्राप्त होता है, इसे सभी जानते हैं। इस स्वाभाविक सत्य को संसार में कोई भी मनुष्य किसी भी वर्ग या जाति का क्यों न हो, अस्वीकार नहीं कर सकता। इस सत्य के अनुसार हिन्दुओं ने इस प्रकार के मानवों के दो विभागों में विभक्त किया—एक देव, जिनमें उक्त गुणों का प्रत्यक्षीकरण हो तो सही, पर कम मात्रा में हो, और दूसरे अवतार, जिनमें वह अधिकतम हो। ईश्वरीय गुणों का प्रत्यक्षीकरण केवल पुरुष-वर्ग ही मे होता हो, सो बात नहीं है। वह स्त्री-वर्ग में भी होता है। इसलिए वे भी देवियों या जगत्-माताओं के रूप मे पूज्य होती हैं। ईश्वरीय गुणों से सम्पन्न इन व्यक्तियों के प्रति इस पूजा-भाव की वृद्धि उनके परलोक-गमन के पश्चात् विशेष रूप से होने लगती है, यह भी एक अनुभव-सिद्ध तथ्य है। उस समय उनका शरीर तो नहीं रहता, जिसकी पूजा को जा सके; पर उनकी यादगार में उनकी प्रतिमाएँ पूजी जाने लगती है। यथार्थ में न उनका शरीर और न उनकी प्रतिमाएँ पूजी जाती हैं, वरन् उनके गुणों का स्मरण तथा पूजन होता है अथवा होना चाहिए। यह सब क्यों? इसीलिए न कि हम भी चाहते हैं कि हम भी वैसे बनें।

ईश्वरीय गुणों का प्रत्यक्षीकरण केवल मानवों में ही होता हो, सो बात नहीं है। वे सृष्टि के प्राय: सभी पदार्थों में विविध प्रकार से प्रकट होते दिखाई देते हैं; परन्तु उनमें से कुछ प्रधान पदार्थ ही उनकी महानता और उपयोगिता के कारण पूज्य माने जाते हैं; जैसे—आकाश मे स्थित सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा पृथ्वी पर स्थित गंगा, हिमाचल आदि, एवं वरुण, पवन,

अग्नि आदि पंच महाभूत। फिर कुछ ऐसी दिव्य शक्तियों का भी अनुमान लगाया जाता है, जिनका अधिष्ठान हम अपने अंग-प्रत्यंगों मे करते है ; जैसे—मुख में अग्नि, हाथ मे इन्द्र आदि का। इसी तरह यज्ञ, मंत्र आदि क्रियाओं मे भी देवाधिष्ठान किया जाता है, जैसे—अमुक यज्ञ का अमुक देव, तथा अमुक मंत्र का अमुक देव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ गुणों की पराकाष्ठा की कल्पना की जाती है और उसकी प्रतिष्ठा किसी कल्पनात्मक देव-विशेष पर कर ली जाती है, जैसे—गणेश बुद्धि-विवेक का शिरोमणि और सरस्वती विद्या-पारंगता मानी जाती है। सारांश यह है कि हिन्दू-संस्कृति के अनुसार ईश्वरीय अथवा दिव्य गुणों का प्रेमपूर्वक सम्मान परंपरा से चला आता है और वह सम्मान तत्सम्बन्धी प्रतिमाओं की पूजा द्वारा प्रकट किया जाता है। पूजा यथार्थ में सम्मान-प्रदर्शन का ही नाम है। यदि पूजा के महत्त्व और देव-संज्ञा के विषय मे इससे भी अधिक जानकारी की इच्छा हो, तो पाठक मेरी पुस्तक 'हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा' के चौथे अध्याय को पढ़ें, जिसमें मैंने कहा है कि "वह (अर्थात् पूजा) हार्दिक उमंग का साकार रूप है, और भावोद्गार की प्रत्यक्ष बही हुई धार। स्वागत और आतिथ्य-सत्कार भी पूजा के रूप हैं।—पूजा के विरुद्ध कड़ी-से-कड़ी समालोचना करने वाले भी पूजा किये बिना नहीं रह सकते। वे भले ही समझे कि हम पूजा नहीं करते, परन्तु उनके नित्य के कार्य पूजा के द्योतक है।" मान लीजिए, पूजा से घृणा करनेवाले 'क' मुसलमान के घर पूजा की विरोधिनी उसकी पत्नी 'ख' नाम की है। 'ख' के भाई 'ग' का तार आया कि वह 'क' और 'ख' से मिलने आ रहा है। समाचार पाते ही 'ख' घर की सफाई करने में जुट गई। भोजन के लिए उत्तम सामग्री मँगाली और बड़े प्रेम तथा रुचि के साथ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप कई प्रकार का उत्तम उत्तम भोजन बनाया। इतने में 'ग' आ पहुँचा। भाई को देखते ही 'ख' के नेत्रों मे प्रेमाश्रु भर आये; फिर उसने भाई के गले में पुष्पमाला पहनाई तथा गद्गद हो उससे भेंट की। इसी तरह कुछ भिन्न प्रकार से 'क' ने भी 'ग' का स्वागत किया। क्या पूजा के विरोधी 'क' और 'ख' के ये कृत्य पूजा के द्योतक नहीं हैं ? पूजा में रहता

हो और क्या है, प्रेम के प्रति ये हो हाव-भाव न, चाहे उसकी प्रतिमा आँखों के सामने हो या मन में ? फिर यह और देखिए। जब हम किसी की मृत्यु के पश्चात् उसकी जयन्ती मनाते समय गाजे-बाजे का प्रदर्शन करते, जुलूस निकालते, उसकी फोटो पर पुष्पहार चढाते, अगरबत्ती-गूग-लादि जलाकर खुशबूदार धुआँ करते अथवा दीप मालिकाओं द्वारा हर्ष प्रकट करते है तब क्या यह पूजा नही है ? इसी तरह पूजा के और भी कई एक ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते है, जो प्राय: हर देश या जाति में पाये जाते है। जब पूजा के लक्षण सब जगह इस तरह विद्यमान है, तब समझ में नहीं आता कि यदि कोई प्रेम-हर्ष-सम्मान-सूचक प्रदर्शनो द्वारा किसी दिव्यगुण-सूचक देव की पूजा करे, तो उसमे दकिया-नूसी या अव्यावहारिकता क्यों कही जाती है ? वह तो स्वाभाविक ही है, क्यों कि सब को अपने जीवन मे उक्त भावों को किसी-न-किसी प्रकार से प्रकट करना ही पड़ता है। व्यावहारिकता तो उसमें इतनी ओत-प्रोत है कि उसके अनुपालन के बिना हमारा जीवन ही

हम यथार्थ में आदि से अन्त तक नकल के पुतले है। चलना-बैठना, बोलना-चालना, खाना-पीना एक ओर, तथा पढना-लिखना, सोचना-विचारना दूसरी ओर--ये सब आखिर अधिकाशतः हम सम्मानित दूसरों ही से तो ग्रहण करते है। इसलिए, मानवता को बनाने वाले दिव्य गुणों को ग्रहण करने के लिए यदि हम किसी दिव्य गुणी ऐतिहासिक जीवात्मा की स्मृति मे उसकी प्रतिमा की, अथवा किसी आदर्श दिव्य शक्ति के द्योतक किसी कल्पनात्मक देव की प्रतिमा की, या किसी पदार्थ मे किसी अधिष्ठित दिव्य-शक्ति की पूजा या आराधना करे, तो क्यों बुरा कहा जाता है? वह बुरा नहीं, पर जीवन का एक अनिवार्य आवश्यक अंग है। सम्भव है, यह कहा जाय कि देव-पूजा की जरूरत ही क्या है, जब ईश्वर ही की प्रार्थना से काम चल जाता है; और यदि उसकी जरूरत ही समझी जाय, तो देवों की प्रतिमाओं की क्या आवश्यकता, जब कि बिना प्रतिमाओं के वही काम बन सकता है ? इस शंका के समाधानार्थ दो बातों पर विचार

करना होगा—(१) ईश्वर की प्रार्थना करते रहने पर भी देव-पूजा आवश्यक है, और (२) बिना प्रतिमा के देव-पूजा असम्भव है ।

पहली बात का उत्तर आपको अशत: मेरी उक्त पुस्तक के इस कथन में मिलेगा, उस में मैंने कहा है कि "धर्म-ग्रन्थों मे देव-संज्ञा का स्थित रहना इसलिए भी आवश्यक है कि असीम और अथाह निराकार का स्वरूप-दर्शन एकबारगी होना असम्भव है। ब्रह्म का स्वरूप अगम एव अथक है। ईश्वर भी, जिसमें ब्रह्म की स्थिति ठोस होती है, अनन्त है, फिर भी मनुष्य उसी को आदर्श मानकर बढना चाहता है। इस अगम्य आदर्श के किसी एक छोर को वह देखता है, और उसी की महत्ता पर मुग्ध हो, उसी के सदृश होने की चेष्टाएँ करता है। उसी विशाल रूप भगवान् के अंग-उपांग देव है। उस पूर्णता के वे विभाग-उपविभाग हैं। उस प्रचण्ड कान्ति की वे किरण-उपकिरण हैं। गुण-उदधि परमात्मा का एक कण भी प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वर्षों की आवश्यकता होती है। इन्हीं-गुणों को क्रमशः प्राप्त करने के लिए समानवर्गीय गुण-विभाग की जरूरत पड़ती है। समान-वर्गीय गुणों का आरोपण देव-विशेष मे इसलिए किया जाता है कि जिससे उस देव-विशेष का भक्त उन समस्त गुणों को, या उनमे से किसी एक-दो को ही प्राप्त कर सके। सफलता-प्राप्ति का साधन-विभाग-रहस्य है, और यही विभाग-रहस्य है, जिसके कारण देव-स्थिति का महत्त्व है।" उक्त उद्धरण से केवल कल्पनात्मक देवाधिष्ठान के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। इसलिए, उसी के साथ में पाठकों को पुन: उन दिव्य मानवों का स्मरण कर लेना चाहिए, जिनके कृत्यों मे ईश्वरीय गुणों का असामान्य प्रत्यक्षी-करण हुआ या होता है, जिनके फलस्वरूप वे अपने जीवनकाल में, विशेष कर अपने जीवनकाल के पश्चात्, देव नाम से इसलिए पूजे जाते हैं कि मानव उनके गुणों का अनुकरण करना सीखें। ऐसे पुरुषों में राम, कृष्ण, हनुमान आदि को समझिए।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चाहे किसी की प्रार्थना या पूजा करो, उसकी मूर्ति आपके सामने आये बिना रहती ही नहीं।

प्रार्थनाएँ या वन्दनाएँ गुण-सूचक ही होती हैं ; इसलिए प्रार्थनीय सगुणी और साकारी ही होता है। निर्गुणों का अनुमान तो सगुणों के कारण किया जाता है ; अतएव सगुणी की प्रार्थना करते समय उसकी साकारी प्रतिमा अपने-आप प्रार्थी के अन्तर्नेत्रों के सामने आ झलकती है, भले ही उसकी वह झाँकी प्रार्थी की केवल कल्पना पर आधारित हो। अब यदि कोई भावुक उसी कल्पना को किसी पत्थर या पत्र पर अंकित कर ले, तो क्या हानि ? इस तरह हर प्रार्थी को, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या पारसी, प्रार्थना करते समय किसी सगुणी या सगुणी-साकारी प्रतिमा का आश्रय लेना ही पड़ता है, भले ही वह प्रतिमा उसके अन्तर मे ही हो।

(२) जप और उसका महत्त्व

राम-चिन्तन-व्रत का 'पूजा' सब से प्रथम और स्थूल स्वरूप है, जिसकी साधना मे शारीरिक स्थूल अवयवों का विशेष भाग रहता है। इसीलिए आप देखते हैं कि तुलसी ने मानस में न केवल मुनि-ऋषियों, गुरु-विप्रों, माता-पिता आदि मानवों की, बल्कि हनुमान, गणेश, शिव, सीता आदि तथा अन्य अधिष्ठित देव-देवियों की यथावकाश वन्दनाएँ की है तथा उन्हें पूज्य कहा है। इससे कम स्थूल रूप है, कीर्तन या गुणानुवाद करना। इसके दो रूप होते हैं—एक कथन, जो वाणी का व्यापार है; और दूसरा, श्रवण, जो कानों का व्यापार है। चूँकि इस चिन्तनव्रत के पालन में कर्मेन्द्रियो की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों की प्रधानता रहती है, इसलिए यह प्रथमरूप की अपेक्षा कम स्थूल हुआ। कीर्तन या गुणानुवाद करने में विस्तार अधिक रहता है। वही विस्तार जब संक्षिप्त कर लिया जाता है, अथवा जब उसे साररूप में कहने-सुनने लगते हैं, तब वह स्तोत्र, सूत्र या मंत्रों के नाम से प्रकट किया जाने लगता है। इसने भी अधिक सूक्ष्म रूप तब होता है, जब केवल नाम का जप किया जाता है, जैसे—राम-नाम का जप, जो अपनी महत्त्वपूर्ण अति सूक्ष्मता के कारण तुलसी के द्वारा 'महामंत्र' कहा गया है--'महामंत्र जोइ जपत

महेसू ।'[३७] साधारणतया इसी को तुलसी की राम-रटन कहते हैं; क्योंकि मानस में, विशेषकर उसके प्रारम्भ में उन्होंने राम-नाम-जपन की महिमा विविध प्रकार से कहकर दर्शाई है। इस जप-व्रत की कदाचित्, पूजा-व्रत की अपेक्षा अधिक कटु आलोचना की जाती है। उसे लोग नीरस, निरर्थक और दिखावटी कहते हैं ; इसलिए अब थोड़े समय के लिए उसी पर ठहर जाइए, और देखिए कि उसके विरुद्ध की जानेवाली आलोचनाएँ तथ्यहीन और उपेक्षणीय हैं या सारमयी और आदरणीय।

यद्यपि मै जप-विद्या का न तो आचार्य हूँ न साधक, न मुझे किसी आचार्य या साधक की सत्संगति का लाभ मिला है, और न मैंने तत्सम्बन्धी कोई ग्रन्थ ही पढ़ा है, तथापि कुछ थोड़े मनन या अभ्यास के आधार पर मुझे पाठकों के सामने यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि राम-जप से शरीर-मन-आत्मा तीनों स्वस्थ रखे जा सकते हैं, और फलतः साधक को सुख-लाभ भी प्राप्त हो सकता है, जो सारी विद्याओं, आकांक्षाओं या धर्मो का मूल है। परन्तु, यह तभी हो सकता है जब वह विधिवत किया जाय। विधिवत कहने से मेरा यह आशय नहीं कि उसके करने मे रूढ़ियाँ या दिखावटीपन बर्ता जाय, जैसा कि प्रायः सभी धार्मिक कार्यो में बहुधा देखा जाता है। मेरा तात्पर्य यह भी नहीं है कि तद्विषयक आचार्यो या साधकों की बताई हुई लीक-रेखाएँ रूढ़िवाद के नाम पर सम्पूर्णतः त्याज्य मान ली जायें। अभिप्राय केवल इतना है कि यदि आप सचमुच ही राम-जप के महत्त्व को जानने के इच्छुक हैं, तो सबसे पहले शान्तचित्त से उस विषय के ज्ञाताओं के निर्देशों को सुनिए और समझिए। इसके पश्चात् यदि तद्विषयक अभ्यास करते समय आपको पूर्व में निर्धारित किसी विधि की उपयोगिता में सन्देह या अरुचि हो, तो उसके स्थान मे दूसरी उपयुक्त विधि का प्रयोग करने से कोई हानि नहीं। मुझे स्वयं अपने किंचित् विचार या अभ्यास के द्वारा राम-जप की व्यावहारिक उपयोगिता (Practical utility) का जो

---

३७. मानस, बा० कां० १८।३।

आभास हुआ है, वही मै आप के सामने सक्षिप्त रूप में रख देना चाहता हूँ।

मानस के प्रारम्भ मे तुलसी ने राम-नाम-जप का महत्त्व बताते समय बीच-बीच मे राम-नाम-स्मरण (सुमिरन) सम्बन्धी विचार भी प्रकट किये हैं। उनके पढ़ने से पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने जप और स्मरण में कोई भेद नहीं रखा। उदाहरणार्थ यह देखिये —

"चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका, भए नाम जपि जीव बिसोका।"

और

"नाम कामतरु काल कराला, सुमिरत समन सकल जग जाला।"

परन्तु सच बात यह है कि जप और सुमिरन (स्मरण) में भेद है। 'स्मरण' से ज्ञात होता है कि स्मरण-कर्त्ता स्मरण के पहले बेसुध या अचेत था, अर्थात् भूला हुआ था। किसी भूली हुई वास्तविकता की एक ही बार सुध या याद आ जाना ही 'स्मरण' कहाता है। इसलिए कुछ स्थान ऐसे है, जहाँ तुलसी ने 'सुमिरन' अथवा उसका कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द कहकर उन लोगो की ओर संकेत करना चाहा है, जो राम को भूल गये हैं, और बताया है कि यदि ऐसे बेसुध मनुष्य भी एक बार राम का स्मरण करलें, तो वे भी बिना श्रम के भव-सिन्धु या जग-जाल से बचे जाते है। यह तो प्रभाव है एक बार ही राम-स्मरण का; परन्तु यदि उसका स्मरण बार-बार अर्थात् जाप किया जाय, तो जापक को कोई शोक नहीं होता और अंत में वह मोक्ष-पद तक को पा सकता है। जिस प्रकार किसी मरणासन्न बेसुध रोगी के लिए डाक्टर का इन्जेक्शन या वैद्य की दवा की एक मात्रा उसे चेत में लाने का काम कर जाती है उसी प्रकार जग-जाल में फँसे हुए बेसुध मनुष्य के लिए राम-नाम का एक बार का ही स्मरण काम का होता है—राम का नाम लेते ही वह होश में आ जाता है। आप कहेंगे, यह असत्य है—कोरी धर्मान्धता भरी कल्पना मात्र है। नही, उसमें उतनी ही प्रबल सत्यता है, जितनी डाक्टर के जरा से इन्जेक्शन या वैद्य की स्वल्पातिस्वल्प मात्रा में। उदाहरण स्वरूप—मान लीजिए कि एक बालक खूब रो

रहा है। माता चुपकाती है, पर वह चुप नहीं होता, बल्कि और अधिक झल्ला-झल्ला कर माता को और अपने-आप को नोच-नोच डाले जा रहा है। इतने में आप आये। आपने कोई ऐसी आवाज कर दी, या कोई ऐसी चीज उसके सामने दिखा दी कि उसका ध्यान (मन) रोने की ओर से उचट कर उस नवीन ध्वनि या पदार्थ की ओर पहुँच गया। बस! बालक का रोना तत्काल बन्द हो गया। अब आपने देखा कि बालक का मन तो उचट गया, परन्तु वह कहीं पुन. वही उत्पात न करने लगे, इसलिए आप उस ध्वनि या वस्तु का प्रयोग पूर्ववत् बार-बार उसके सामने करते जाते है। परिणाम यह होता है कि बालक रोना भूल जाता है, उसका मन आपके द्वारा प्रस्तुत की हुई ध्वनि या वस्तु में लग जाता है, तथा उसमें मन लग जाने से वह पुन: हँसने-खेलने लगता है। दूसरा उदाहरण लीजिए--किसी असह्य पीड़ावश आप आर्तनाद करते हुए कराह रहे है इतने में आप का कोई एक दूर का प्रेमी रिश्तेदार एकाएक आपके सामने आ पहुँचा। उसे देखते ही आप की कराह तुरन्त बन्द हो गई। क्यो? इसीलिए न कि आप का मन दूसरी ओर चला गया? फिर जब तक आप का मन अपने प्रेमी अतिथि की बातचीत में लगा रहा, तब तक आप की कराह बन्द रही--तब तक आप अपने दु:ख को भूले रहे और चित्त को शान्ति मिली, अर्थात् उस समय तक आप दु:ख से मुक्त रहे। इन दृष्टान्तों से तो, आप कहेंगे, यही विदित होता है कि मन को आपत्ति-ग्रस्त स्थिति से हटाकर आपत्ति-हरण स्थिति में लाने का साधन कोई ऐसा स्थूल-वाह्य पदार्थ हो सकता है, जिसका प्रस्तुत होना किसी दूसरे के आधीन रहता है। तब फिर इस शंका के निवारणार्थ तीसरा दृष्टान्त लीजिए। मान लीजिए--उक्त कराहनेवाला रोगी एक विद्यार्थी है---वह किसी छात्रालय (होस्टल) के कमरे में पड़ा हुआ व्याकुलता से छटपटा रहा है। स्मरण हो आया--पिता की दुलारभरी मूर्ति झलक उठी। इस विचार के आते ही कराह एकदम बन्द हो गई और उस समय तक स्थिर रही, जब तक कि वह सहृदय पिता के विषय में इधर-उधर के विचार दौड़ाता रहा, अर्थात् जब तक

उन का मन उस ओर लगा रहा। आप कहेंगे, पिता की याद अपने-आप आई सही, पर वह इसलिए आई कि उस का अपने पिता के साथ साक्षात सम्पर्क रह चुका था। राम का स्मरण कैसे हो सकता है, जब राम को रोगी विद्यार्थी ने कभी देखा ही नही, सम्पर्क की बात तो दूर रही। ठीक है; पर राम के विषय में, अथवा यही कहिए, ईश्वर के विषय मे, उसने सुना तो अवश्य है; और वह भी क्या सुना है? यह कि वह बड़ा दयालु प्रेमी आदि है। सुनी हुई बात की याद और झाँकी दोनों रोगी के मन मे उठ आना कोई आश्चर्यजनक बात नही है, क्यों कि हम सब के मन में सोते समय स्वप्न में या जागते समय ऐसी अनेक कल्पनाएँ और झाँकियाँ आया करती हैं। यदि आप मानस में कथित, अथवा इसी पुस्तक में कथित राम की व्याख्या को भूले नहीं हैं, तो राम एक भाव है, चाहे उस नाम का कोई व्यक्ति-विशेष ही क्यों न रहा हो, और भावों का मनुष्य के मन में उठना स्वाभाविक होता ही है। इस तरह यह निर्विवाद सत्य है कि संकट-ग्रस्त मनुष्य के मन में कभी अपने-आप और कभी देखी या सुनी हुई बातों के आधार पर शोकहारी सूक्ष्म भाव उसी तरह उठा करते हैं, जिस तरह किसी मनुष्य के मन में दुःखकारी मोहात्मक या पापात्मक भाव उठते है। फिर, हिन्दू संस्कृति मे पले हुए मनुष्य के मन में परम्परा से सुने हुए राम का भाव उठ आना, अर्थात् स्मरण हो आना उतना ही सुलभ, सुखद वा स्वाभाविक है, जितना मुसलिम संस्कृति में पले हुए मुसलमान के लिए अल्लाह का नाम होता है। इस तरह मन का एक स्थिति से उचट कर दूसरी स्थिति मे पहुँचना ही उस स्थिति का 'स्मरण' हुआ और पहली स्थिति का विस्मरण, लोप या अन्त। स्मरण बुरी स्थिति से अच्छी स्थिति को पहुँचा सकता है और अच्छी स्थिति से बुरी स्थिति को भी। परन्तु, मानवता के क्रान्तिकारी उपासक की चेष्टा तो सदा यही रहती है कि मानव-मात्र संसार में बर्तता हुआ सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर सुख का भोक्ता हो। इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने राम-नाम जप और राम-नाम-स्मरण के विषय को छेड़ा है, और स्मरण से होनेवाले

लाभ के विषय में कहा है कि राम का स्मरण आते ही मनुष्य का जागतिक दु:ख तत्काल समाप्त हो जाता है, चाहे वह एक क्षण के सहस्रांश के लिए ही क्यों न हो। ये हैं उनके तत्सम्बन्धी कथन—

१. नाम लेत भव-सिन्ध सुखाहीं।
२. सेवक सुमिरत नाम सप्रीती बिनुश्रम प्रबल मोह दलजीती।
३. सुमिरत शमन सकल जग जाला।
४. सुमिरत सुलभ सुखद सबकाहू, लोक लाहु परलोक निबाहू।

'लोक लाहु परलोक निबाहू' का तात्पर्य यह है कि स्मरण में डाक्टरी इन्जेक्शन या वैद्य की मात्रा के समान वह जादू सरीखा तत्कालीन प्रभाव रहता है कि सर्वप्रथम तो वह लोक-दु.ख में डूबे हुए को बचा लेता है, और फिर जब वह इस तरह बच जाता है, तब उसे अपना परलोक निबाहने अर्थात् भविष्य सुधारने का अवकाश भी मिल जाता है।

परन्तु मन तो बड़ा चंचल होता है—उसका एक स्थान पर स्थिर रखना वैसा ही कठिन होता है, जैसे वायु को रोकना—'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'।[३८] इसलिए एक ही बार स्मरण कर लेने से काम नहीं चलता। रोगी को इन्जेक्शन या मात्रा से बचा लेना एक बात है और उसे रोग से मुक्त करना दूसरी बात। मात्रा या इन्जेक्शन के बाद यदि उपचार बंद कर दिया, तो रोग फिर ज्यों-का-त्यों। इसी तरह यदि स्मरण बन्द कर दिया, तो वही जग-जाल या भव-सिन्धु फिर जहाँ का तहाँ। गरज यह कि स्मरण पुन:-पुन: होता रहे, तभी यथार्थ लाभ हो सकता है—तभी भीषण लोक-दु:ख से मुक्त हो सकते है। इसी बार-बार स्मरण का फल बताने के हेतु तुलसी ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

"सुमरि पवनसुत पावन नामू, अपने बस करि राखे रामू।
अवर अजामिल गज गनिकाऊ, भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥"

---

३८. गीता ६।३४।

(३) जप की अन्तिम अवस्था ध्यान—और उसका महत्त्व

बार-बार स्मरण करना ही जप है ; परन्तु दोनों में कुछ बारीक भेद भी है। स्मरण करने मे विलम्ब की आवश्यकता होती है, क्यो कि उसमें स्मृत्य के महान् गुणों पर विचार दौड़ाना पड़ता है। इस तरह स्मरण-क्रिया मे जप-क्रिया की अपेक्षा कुछ विलम्ब और सार्थकता (विचार बाँधना) अधिक रहती है। दूसरे शब्दों में, स्मरण की गति मन्द और जप की गति तीव्र होती है। तीव्र गति के कारण जापक की स्मृति की गति धीमी पड़ते-पड़ते रुक जाती है। जब स्मृति की गति रुक जाती है और केवल वाणी गतिवान् रहती है, तब अविचलित अथवा अटूट तेल-धार या जल-धार के समान नाम लगातार मुख से निकलता रहता है। इस प्रकार के जप को धर्म-शास्त्रों मे धारा प्रवाह जप कहते हैं। यह जप-धार श्वास लेते समय भी नहीं टूटती। धारा-प्रवाह शब्दोच्चार करते-करते जब जीभ मे उसके वाह्याग्र सिरे से लेकर आन्तरिक छोर तक शिथिलता आ जाती है, तब हमारे अन्दर-ही-अन्दर प्राण-वायु की गति के साथ जप की गति भी बहुत कुछ इस प्रकार चलती रहती है जिस प्रकार हम किसी पुस्तक में कथित विषय को बिना वाणी चलाये मन-ही-मन पढते रहते हैं। इस प्रकार के जप को वाणी-जप न कहकर मानसिक जप कहेंगे ; परन्तु इसके पश्चात् जब हमें न प्राणवायु की गति की और न जप की गति की सुध रहती है, तब वह जप-क्रिया स्थगित होकर एक स्थानीय बन जाती है। ऐसी स्थिति को ध्यानावस्था कहते है, उस अवस्था में हमारी सारी चेतना केवल एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है, अर्थात् वह केवल उस एक राम-नाम की टेक लेकर ठिठक रहती है। इस तरह पूर्वोक्त क्रमानुसार जब जप-क्रिया ध्यान के रूप मे परिणत हो जाती है, तब साधक ईश्वर-चिन्तन की अतिसूक्ष्म और अंतिम श्रेणी पर पहुँचा हुआ कहाता है। तुलसी के जप-सम्बन्धी कथनों में हमें जप की इन्हीं विभिन्न श्रेणियों का परिचय मिलता है। एक ओर यदि साधारण जप करनेवाले मानवों का उल्लेख है. तो दूसरी ओर उच्चतम श्रेणी के

कल्पनात्मक अथवा अधिष्ठात्मक जापक दिव्य पुरुष है, जिनकी संज्ञा देवो में की जाती है। मानवों मे ही चार प्रकार के जापक होते हैं, जिनके जप करने के उद्देश्य अलग-अलग रहते हैं ; यथा—(१) आर्त, (२) साधक, (३) ज्ञानी और (४) भोगी। इन सब को तुलसी ने भक्त कहा है—

"राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिऊ अनघ उदारा।"

चारों की जप-क्रिया के विषय मे जो कुछ तुलसी ने लिखा है, उसे पढ़ते समय पाठक यह न समझें कि ये भक्त केवल अपनी वैयक्तिक भावना को लेकर जप करते है, बल्कि यह समझें कि वे अपने और समाज दोनों के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जप के रूप में ईश्वर-चिन्तन करते हैं, क्यों कि वैयक्तिक स्वार्थवाला कभी सुकृती, अनघ और उदार नहीं कहाता। अन्यो के दुःख से दुखित आर्त लोगों की भावना रहती है कि सब का संकट से निवारण हो और सब सुखी रहें—

"जपहिं नाम जन आरति भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।"

साधक चाहते है कि सब को लौकिक सिद्धि मिले—

"साधक नाम जपहिं लय लाये। होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये।"

ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) का उद्देश्य रहता है कि सभी ईश्वर-तत्त्व और सृष्टि के सम्बन्ध की गूढता को जानें ; ताकि भ्रातृत्व का भाव जाग्रत हो—

"जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।"

योगी ब्रह्म-सुख की अनुभूति के उद्देश्य से ध्यानान्वित जप करते हैं—

"नाम जीह जपि जागहिं जोगी। विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।"

इन चारों प्रकार के मानव भक्त, तुलसी का कथन है, शोक-रहित हो जाते हैं—

"चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव विसोका।"

मानवों के अतिरिक्त तुलसी ने दिव्य गुण-रूप गणेश और महेश शिव देवों के जप पर भी इस विचार से प्रकाश डाला है कि जिससे हम लोग ईश्वर-चिन्तन की उक्त ध्यानमय ऊँची-से-ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर भी ईश्वर-चिन्तन को कभी न भुलाएँ, क्यों कि उसे भूल जानेवाले को न तो इस संसार में कोई सम्मान मिलता है, और न वह मुक्त हो पाता है। इसी दृष्टि से, प्रतीत होता है, तुलसी ने गणेश और महेश के जप के दृष्टान्त दिये हैं—

"महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।"
"महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।"[३९]

इस तरह तुलसी ने यह स्पष्ट किया है कि राम के स्मरण और जप से वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से लोक-लाभ एवं परलोक-निबाह दोनों हाथ लगते हैं। उन्होंने पौराणिक गाथाओं के आधार पर उसकी महिमा यहाँ तक गाई है कि उल्टा नाम जपने पर भी वाल्मीकि ब्रह्म-समान हो गये थे—

"जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उल्टा जापू।"

अथवा

"उल्टा नाम जपा जग जाना। वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना।"

कई लोगों को इस कथन की सत्यता में सन्देह होता है। वे कहते है कि सिड़ी जैसी निरर्थक बात बकते रहने से, भला कभी कोई सिद्धि मिल सकती है? परन्तु यह भ्रम निराधार है। जप-विषयक उपरोक्त विवरण में यह बताया जा चुका है कि जप की गति तीव्र होती है। आप स्वयं राम-राम

---

३९. टिप्पणी—मानस में कथित जप-सम्बन्धी विवरण का क्रम उच्च से निम्न की ओर चला है; परन्तु हमने तत्सम्बन्धी जो उद्धरण दिये हैं, उनका निम्न से उच्च की ओर जाने का रखा है, जैसे पहले आर्त और अन्त में योगी मानवों का और इसी तरह पहले गणेश तथा बाद में महेश का उल्लेख किया है, जब कि मानस में इसके विपरीत है।

बार-बार अधिक से अधिक तीव्रतापूर्वक (fastly) जपकर देखिए, तो प्रतीत होगा कि आपके मुख से धारा-प्रवाह के कारण राम-राम के स्थान में मरा-मरा निकल रहा है। यदि आपका मन राम पर वैसा ही जमा रहे, जैसा राम-नाम के प्रथमोच्चार के समय था, तो ध्वनि किसी भी प्रकार की निकले, उससे कोई विपरीत फल नहीं मिल सकता, क्यों कि पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्यों के कर्म-फलों में मन की ही प्रधानता रहती है। प्राथमिक रामोच्चार पर मन के जमे रहने की बात छोड़ दीजिए और यही समझिए कि आप का मन आप की उक्त 'मरा-मरा' ध्वनि ही मे लीन है, तो भी आप को शुभ फल ही मिलेगा, अर्थात् आन्तरिक विकार धुल जायेंगे और फलतः आप शुद्ध अथवा ब्रह्मस्वरूप हो जायेंगे। मन को लीन रखने की यही बात तो तुलसी ने साधक के जप के विषय में निम्न पक्ति मे कही है—

"साधक नाम जपहिं लय लाये, होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये।"

वाल्मीकिजी एक उच्च कोटि के साधक थे। उन्होने अपने मन को अपनी जप-ध्वनि से इस तरह बाँध कर रखा था कि वह किंचित्-मात्र भी इधर-उधर न भाग सका। फल यह हुआ कि उनके अन्तस् में कोई नये विकारों को उत्पन्न होने का अवकाश नहीं मिला और जो कुछ पुराने विकार थे, वे निकल गये, जिससे उनका अन्तस् शुद्ध हो गया ; और परम शुद्ध होना ही ब्रह्म कहाता है।

एक शंका और लोगो के मन में उठा करती है। उनका कहना होता है कि पौराणिक कथाओं में जो यह लिखा है कि अजामिल नाम का महा-पापी और गणिका नाम की महापापिनी राम-नाम के स्मरण-मात्र से मुक्त हो गये थे, तथा इसी तरह गजेन्द्र ग्राह (मगर) के बन्धन से छूट गया था—यह केवल कपोल-कल्पित धर्मान्धता है। इन्ही कथाओं के आधार पर तुलसी ने, जैसा अभी पहले कहा था, यह पंक्ति लिखी है—

"अवर अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ।"

यदि ये गाथाएँ पूरी दी जाती हैं, तो विस्तार बढ़ जायगा। इसलिए, यदि विस्तृत रूप मे जानना हो, तो पाठक उन्हें अन्यत्र ही पढें। हम यहाँ सर्वप्रथम इतना अवश्य कह देना चाहते है कि पुराणकारों ने उन गाथाओं के द्वारा तात्त्विक सत्यता की प्रधानता बताई है, न कि ऐतिहासिक सत्यता की। यह तात्त्विक सत्यता क्या है ? वही मन की संलग्नता और उस संलग्नतावश तदनुरूप मनुष्यमात्र का अच्छा या बुरा बनना, जिसके विषय में अभी कुछ पूर्व कहा जा चुका है। दूसरी बात यह जानना आवश्यक है कि 'मुक्त' का अर्थ यथार्थ में होता है 'किसी भी बन्धन से छूट जाना।' तीसरी बात है, एक बार स्मरण की और पुनः-पुनः स्मरण की।' एक बार ही स्मरण करनेवाला यदि अपने मन को स्मृत्य पर से न उचटने दे, अर्थात् उसी पर जमाये रखे, तो उसे पुनः-पुनः स्मरण करने को कोई आवश्यकता नहीं, क्यों कि उस का एक बार का ही स्मरण ध्यानरूप मे परिणत हो जाता है। इसलिए, उस का फल वही मिलता है, जो पुनः-पुन स्मरण करनेवाले को मिलता है। यह हमने इसलिए बताया कि कही-कही आप को इन की गाथाओ मे यह लिखा मिलता है कि वे एक बार के नाम-स्मरण से मुक्त हो गये।

अब देखिए अजामिल की कथा। वह पहले ब्रह्मकर्मों से संस्कृत था। सयोगवश वह एक कुलटा स्त्री के मोह-पाश में फँस गया, इसलिए वह पतित होता गया, अर्थात् उसका मन खराब कर्मो मे लग गया। फिर संयोगवश उसने अपने मृत्यु-संकट-निवारणार्थ अपनी सती-साध्वी पूर्व पत्नी से उत्पन्न 'नारायण' नाम के पुत्र को स्नेहवश पुकारना शुरू किया, फलतः वह संकट से मुक्त हुआ और तदनन्तर 'हरिद्वार' क्षेत्र मे जा, ईश्वर के ध्यान में मग्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि जब-जब जैसा-जैसा उसका मन जहाँ-जहाँ पर लगता गया, तब-तब वैसा-वैसा वह तदनुरूप फल पाता गया। तत्त्वार्थ की दृष्टि से 'अजामिल' आत्मा का द्योतक है, और 'पूर्व सती-साध्वी पत्नी', शुद्ध बुद्धि की तथा 'कुलटा स्त्री' विषयासक्त बुद्धि की द्योतक है, एवं 'नारायण' नामक पुत्र शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न 'ईश्वरीय-भावना' का प्रतीक है। भावार्थ

यह है कि यदि पवित्र आत्मा (अजा=अजन्मा) का संयोग (मिल=मेल) कुबुद्धि से हो जाय और फिर भी कहीं वह अपनी पूर्व-पवित्र-बुद्धि से उत्पन्न ईश्वरीय भावना मे अपना मन लगा ले, तो यह निश्चय है कि वह पुनः 'हरिद्वार' (हरि के द्वार) पर पहुँच कर मुक्त हो जाता है।

अब गणिका (वेश्या) की गाथा सुनिए। वह यह है कि विदर्भ देश में जीवन्ति नाम की एक वेश्या थी। व्यभिचार उसकी वृत्ति थी; परन्तु उसने अपने मन-बहलाव के लिए तथा यार-दोस्तों को प्रसन्न करने के लिए एक तोता पाल रखा था। वह बड़ी सुरीली आवाज से राम-राम रटा करता था। एक दिन अर्द्धरात्रि तक जीवन्ति के पास कोई पुरुष नहीं आया। सहसा उसका मन तोते की राम-राम रटन पर गया। उस समय मे उसका मन व्यभिचार वृत्ति से हटकर राम-नाम पर लग गया। फलतः उसमें पवित्रता का उदय हुआ और अन्त मे वह परम पवित्र बनकर मुक्त हुई। इसमे भी जीव-मात्र की जीवनी तथा मन की संलग्नता का रहस्य है। जीव के कर्म वेश्या जैसे पतनोन्मुख होते है; परन्तु यदि उसका मन किसी संयोगवश ईश्वर-स्मरण में लग जाय, तो वह मुक्त हो सकता है। मुक्ति प्राप्त करना ही जीव की अंतिम स्थिति रही है। 'जीवन्ति' नाम ही उक्त भाव का परिचायक है।

अब देखिए गज और ग्राह की कथा। कहा गया है कि उन्होने ये रूप श्रापवश पाये थे। गज प्यासा था, इसलिए उसने सरोवर में प्रवेश किया। ग्राह ने उसका पैर पकड़ लिया। दोनों अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। गज थक गया। उसने हरि की पुकार की। हरि ने प्रकट होकर गज को बचाया और ग्राह का सिर काट लिया। इसका तत्त्वार्थ देखिए। गज पशु वर्ग में सब से विशालकाय, बलवान् और बुद्धिमान् होता है। इसलिए गज है, 'बौद्धिक बल' का द्योतक, और ग्राह है, विषयेन्द्रियों का द्योतक।[४०]

---

४०. टिप्पणी—गणेश की मूर्ति इसी कारण हमारी समझ में, गजाकार बनाई जाती आ रही है। 'गणेश' देव में बुद्धि-विवेक की भावना का अधिष्ठान किया गया है।

विषयेन्द्रियाँ देखने में छोटी होने पर भी बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् को अपनी ओर खींच ले जाने के लिए काफी बलवान् रहती हैं। उनसे बचने का एक उपाय यही होता है कि ईश्वर-चिन्तन किया जाय। दूसरे शब्दों में शरणागति ही, न कि बौद्धिक-बल, मनुष्य को विषयों से बचा सकती है। इस तरह इस कथा में भी ईश्वर में मन को लगा लेने का रहस्य है। इसी विधि के द्वारा विषयेन्द्रिय-रूप ग्राह का सिर काटा जा सकता है—

(४) लय और उसका तुलसी-मत में स्थान

इस तरह व्याहारिक दृष्टान्तों पर आधारित तर्कों का आश्रय लेकर हम तुलसी के राम-चिन्तन-व्रत के विविध साधनों की जीवनोपयोगी रूप-रेखा खीच कर यह बता चुके कि उसका सब से स्थूल स्वरूप है—पूजा; और सब से सूक्ष्म स्वरूप है—ध्यान। पूजा से लेकर ध्यान तक के सभी साधनों में चिन्तन, चिन्त्य और चिन्तक—इन तीनों की उपस्थिति रहती है, अर्थात् चिन्तक, चिन्तन क्रिया के द्वारा चिन्त्य की अनुभूति करता है। परन्तु, ध्यान मे परे एक स्थिति और रहती है, जिसे लय कहते हैं। उसमे पहुँचे कि चिन्तन, चिन्त्य और चिन्तक तीनों का अलग-अलग अस्तित्व मिटकर एकत्व आ जाता है। किसी तत्त्वज्ञानी ने इस लय तक पहुँचने के क्रम पर ध्यान रखकर यह ठीक ही कहा है—

पूजा कोटि स्तोत्रं, स्तोत्र कोटि जपः।
जप कोटि ध्यानं, ध्यान कोटि लयः॥

ध्यान से परे यह लय तुलसी के लय से भिन्न है। एक है ज्ञानियों, योगियों अथवा निर्गुणियों का लय, जिस में चिन्तक और चिन्त्य तक की स्थिति का अन्त हो जाता है; और दूसरा है सगुणियों अथवा भक्तों का लय, जिसमें चिन्तक, चिन्त्य का चिन्तन करता ही रहता है, अथवा दूसरे शब्दों में, भक्त स्वामी का स्मरण या जप करता रहता है। ज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार और समाजोपयोगी जीवन को भूलकर व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा में रत हो उपरोक्त त्रिविलीनात्मक लय के पक्षकार होते हैं,

जब कि भक्त तुलसी का लक्ष्य व्याहारिक जगत् और समाजोपयोगिता से नहीं हटता। उनके लय मे सेवक-स्वामी का भाव कभी नही मिटता। स्वामी के चिन्तन अथवा जप मे एकचित्त होकर मग्न हो जाना ही उनका लय है ; जैसे—"साधक नाम जपहिं लय लाये" अथवा "नाम जीह जपि जागहिं योगी" आदि उनके कथनों से विदित होता है ॥

राम-जप की सर्वश्रेष्ठता और उससे आत्मा या मन के अतिरिक्त शरीर को भी लाभ

पूजा, जप, ध्यानादि साधनाओं से, आप कहेंगे, मन तो स्वस्थ और शुद्ध हो सकता है, पर उनके द्वारा शरीर का स्वस्थ और शुद्ध होना कैसे सम्भव है? इस पर विश्वास तो तभी होगा, जब आप स्वयं उनका यथाविधि प्रयोग कर तत्सम्बन्धी अनुभव प्राप्त करके देखे, क्यों कि न तो उस विषय पर पर्याप्त कहा ही जा सकता, और न कहे हुए पर आप को पूरी श्रद्धा ही हो सकेगी। फिर भी कुछ दो-चार आधारभूत बातों पर ध्यान आकर्षित कर देना लाभकारी होगा। सब से प्रथम तो यह स्मरण कर लीजिए कि मनुष्य शरीर-मन-आत्मा का संयुक्त रूप है और इसलिए उन तीनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस दृष्टि से यह स्वयंसिद्ध है कि जिस-जिस तरह मन और आत्मा को स्वस्थ और विशुद्ध करने को क्रियाएँ चलती रहती हैं, उस-उस तरह शरीर भी स्वस्थ और विशुद्ध होता जाता है। इसके उपरान्त निम्न संकेत भी विचारणीय हैं। उन्हें आधारभूत समझ, उनका अनुपालन कर स्वयं कार्य करके देखिए—

(१) पूर्वाएँ—हमसे पूछने के पहले अपने हृदय से ही पूछिए कि क्या आप का मन उस ओर सचमुच ही झुक गया है। यदि हाँ, तो निश्चय जानिए कि अपने शरीर को स्वस्थ और शुद्ध कर लेने की अर्द्ध सफलता आप को प्रारम्भ में ही मिल चुकी। कैसे ? विषय-वासनाएँ शरीर को बिगाड़ने में बड़ी प्रबल होती हैं, यह स्वयं सिद्ध है ; उदाहरणार्थ—किसी यौवना के विषय में कामवश विचार दौड़ाते रहने से वीर्य आदि सम्बन्धी रोगों का उत्पन्न

होना अथवा किसी के प्रति क्रोधादि वश अपने शरीर के खून को जलाना या बल को क्षीण करना इत्यादि। ऐसी हालत में मन को उस ओर से हटा कर राम-जप की ओर जितने समय तक आप लगायेंगे, उतने समय तक आप की शारीरिक क्षीणता रुकेगी और अभ्यास-क्रम से शरीर स्वस्थ और शुद्ध होता जायेगा। दूसरे शब्दों में, पूर्वकथित राग-विराग के पारस्परिक प्रभाव पर विचार कर रुचिपूर्वक कार्य प्रारम्भ करने में विलम्ब न कीजिए।

इस मानसिक पूर्वा के अतिरिक्त शारीरिक पूर्वा का होना भी आवश्यक है; उदाहरणार्थ––संयमपूर्वक खाना-पीना, सोना-जागना, शौच-स्नानादि का पालन। दूसरे शब्दों में, यम-नियमादि का पालन करते हुए ही राम-चिन्तन के साधनों के द्वारा मानसिक और शारीरिक लाभ होने की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं।

(२) आसन––शरीर की स्वस्थता और शुद्धता एक दूसरे से सम्बन्वित हैं; इसलिए दोनों की ओर एक समान ध्यान रखना आवश्यक है। शुद्धता-विषयक कुछ पूर्वाओं पर ऊपर कह चुके। अब स्वस्थता विषयक पूर्वा पर सुनिए। शारीरिक अवयवों का यथाविधि संचालन या विश्राम होना ही स्वस्थता कहलाती है। शारीरिक अवयव अनेकानेक हैं। उनमें से कुछ प्रधान हैं। उन प्रधान अवयवों में से कोई बाह्य हैं, और कुछ आन्तरिक। स्वास्थ्य-लाभ के लिए इन अवयवों को यथासमय आवश्यक श्रम करने के लिए मिलना चाहिए। पूजा, कीर्तन, जपादि के समय इन अवयवों में से कुछेक को श्रम करना ही पड़ता है पूजा के समय पुष्पादि लाने या अर्घ्य आदि देने में बाह्य अवयवों को कुछ-न-कुछ श्रम करने का अवकाश मिल जाता है; परन्तु विशिष्ट लाभ उस समय होता है, जब शब्दोच्चार––विशेषकर जब राम-जप––किया जाता है। राम-जप करने की सर्वप्रथम आवश्यक विधि यह है कि बैठक (आसन) उचित प्रकार का हो। भूमि सम हो और उस पर ऐसा आसन बिछा हो कि उस पर बैठे हुए जापक को जप करते समय भूमि या आसन के गड़ने से बार-बार हिलना-डुलना न पड़े, क्योंकि वह मन की एकाग्रता में बाधक होता है। उक्त आसन पर पलथी मार कर इस तरह सीधा

बैठा जाय कि सिर, ग्रीवा और धड़ सीधे रहे और पीठ की रीढ भी सीधी रहे। इसके लिए सिद्धासन या पद्मासन उपयुक्त होता है; परन्तु उनके पूर्णत: पालन करने मे यदि कोई असुविधा हो, तो उन मे आवश्यकतानुसार सुविधा कर ली जाय। जिसमें कष्ट न हो, उसे स्वस्तिकासन अथवा सुखासन कहते हैं। किसी भी हालत में आसन भूमि पर ही हो और पलथी मार कर ऐसा बैठा जाय कि शरीर सीधा अवश्य रहे। इस प्रकार आसीन होने से बाहरी स्थूल अंगों, भीतरी अंतड़ियों एवं मास-पेशियो आदि पर अपने आप अच्छा प्रभाव पड़ता है और जपादि करने में चित्त भी लगता है। पलंग, कुर्सी, गद्दों आदि पर बैठकर भजन करने मे न तो शरीरागों को लाभ होता, न मानसिक एकाग्रता होती और न इसलिए आत्म सुख ही यथाश मे प्राप्त हो पाता है। एक आसन और है, जिसे लगाकर जप किया जा सकता है। उसका नाम है——वज्रासन। इसके लगाने की विधि यह है कि दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर पैरों के तलवो पर इस तरह बैठे कि जाँघें पिंडलियों पर पड़ें। मुसलमान लोग नमाज पढ़ते समय इसी प्रकार का आसन लगाये हुए दिखाई देते है।

इन आसनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे आसन भी होते है, जो दोनों पैरों से या केवल एक पैर से खड़े रहकर या झुककर, अथवा भूमि पर साष्टाग लेट लगाकर पूजा-भजन आदि के समय काम मे लाये जाते है। उनका उल्लेख करने से विस्तार बढ़ेगा। सारांश इतना ही है कि पूर्वाचार्यो ने कुछ ऐसे कार्य-क्रम निर्धारित कर दिये है कि उनके पालन से शारीरिक, मानसिक

ही लाभ होता जाता है। स्वामी शिवा-

नन्द सरस्वती की साहित्यिक, यौगिक एवं आध्यात्मिक कृतियों से आज के प्रायः सभी भारतीय तथा अनेक आंग्ल-भाषी लोग परिचित हैं। वे डाक्टरी की उच्च परीक्षा (एम० डी०) पास थे और उन्होंने बहुत समय तक डाक्टरी भी की थी। उक्त आसनों से जो शारीरिक लाभ होते हैं, वे उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभूति के आधार पर अपनी पुस्तक 'सचित्र हठयोग' में दिये हैं। जिन्हें मेरे पूर्वोक्त कथन में सन्देह हो, वे कृपया उन्हीं के कथनों को पढ़कर

देख लें। पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन तथा स्वस्तिकासन से प्राय: एक से लाभ होते हैं ; जैसे—मंदाग्नि मिटकर भूख का लगना, पैरों तथा जंघाओं के स्नायुओं में बल आना, वात-पित्त-कफ का सम मात्रा में योग रहना तथा ब्रह्मचर्य रक्षा से सामान्य बल का बढना।[४१]

(३) **समय और स्थान**—तुलसी का सिद्धान्त है कि राम-चिन्तन हर समय होता रहना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि चौबीसों घण्टे तिलक लगाये हुए माला हाथ मे थामे, आसन पर अथवा चलते-फिरते राम-राम कहते रहो और अपने नित्य के कर्म एवं समाजोपयोगी कर्तव्यों को तिलाञ्जलि दे दो। उनका अभिप्राय इतना ही है कि लौकिक कार्यों को करते हुए राम को ध्यान में रखे रहो। फिर भी उपयोगिता की दृष्टि मे उसके हेतु सूर्योदय के पहले सबेरे और सूर्यास्त के पश्चात् संध्या का समय, जब कि शौचादि के उपरान्त पेट मे भारीपन न रहे, सर्वोत्तम सिद्ध होता है। इसी तरह स्थान वह परमोत्तम होता है, जहाँ शुद्ध वायु तथा पर्याप्त प्रकाश मिले एवं कोई विघ्न न हो, अर्थात् पवित्र निर्विघ्न एकान्त स्थान हो। ऐसे समय और स्थान पर जब राम-जप किया जाता है, तब उससे उपरोक्त त्रिविधा लाभ अवश्य होता है।

(४) **रामोच्चार**—मनुष्य का शरीर पंचभौतिक होता है। उन पंचभूतों में वायु एक है और अग्नि दूसरा। जब हम बोलते है, तब समझते हैं कि जीभ बोल रही है या आवाज कर रही हैं ; परन्तु यह गलत है। यथार्थत: आवाज करना वायु का लक्षण है। जीभ केवल उस वायु को संचालित करनेवाला एक प्रकार का स्वाभाविक पंखा है। जब यह पंखा जिस तरह हिलाया-डुलाया जाता है, तब उसी तरह हमारी अन्त:स्थित वायु में वेग उत्पन्न होता है और तदनुरूप वह आवाज करती जाती है। यदि यह वायु सुव्यवस्थित विधि से संचालित की जाय, तो वह फेंफड़ों के मल को शुद्ध करती हुई तथा स्नायुओं मे यथोचित रक्त-प्रवाह में योग देती हुई, अन्त:स्थित अग्नि-तत्त्व को धौंकनी के समान प्रदीप्त करती है, जिससे क्षुधा बढ़ती तथा

---

४१. देखिए 'सचित्र हठयोग', पृ० ३२, ५७, ५८, ५९।

पाचन आदि क्रियाएँ व्यवस्थित रूप से चलने लगती हैं। जब ये क्रियाएँ अच्छे प्रकार से चलने लगती हैं, तब शरीर अपने-आप स्वस्थ होता जाता है, और फलतः चित्त मे आनन्द का वास होने लगता है।

जब यही बात है, तब आप पूछेंगे, तुलसी ने अन्य शब्दोच्चारों को छोड़, राम शब्द ही को क्यों पकड़ रखा है ? यदि यह उत्तर दिया जाय कि वह ईश्वरवाची है, इसलिए पकड़ रखा है, तो आप कहेंगे, क्या दूसरे शब्द ईश्वरवाची नहीं है ? ईश्वरवाची शब्द या नाम तो संसार की हर एक भाषा मे सहस्रों मिलते हैं और फिर सब भाषाओं के इन सब नामों का जोड़ लगाया जाय, तो उनकी सख्या करोड़ो से कम न निकलेगी। एक अकेली सस्कृत भाषा मे, जो हिन्दी की माता है, ईश्वर के सहस्र नाम साधारणतया प्रसिद्ध है। तब फिर राम ही मे क्या विशेषता है, जिससे उसी के जाप करने को तुलसी ने महत्त्व दिया ? या तो यह हो कि तुलसी ने अपनी किसी निरर्थक कल्पनावश या पुरानी लकीर की फकीरीवश अपनी टेक को पकड़ा हो, अथवा यही हो कि उन्होंने अन्य सभी नामों मे उसे तत्त्व या व्यवहार दोनों दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ पाया हो। तुलसी असाधारण तत्त्ववेत्ता, पण्डित और भक्त थे ; इसलिए उन्होंने अवश्य ही उसमें कुछ-न-कुछ विशिष्टता पाई होगी, तभी तो उसकी अद्वितीय प्रशंसा की है।

एक विशिष्टता तो वही त्रिभावात्मक है, जिसके विषय में पहले पर्याप्त कहा जा चुका है, अर्थात् उस एक ही शब्द के द्वारा एक ही साथ व्यापक निर्गुण, व्यापक सगुण और विभूति पूर्ण (अवतारी) मानव विशेष का भाव आ जाता है ; इसलिए जब ईश्वरवाची शब्द ही के द्वारा अन्तःस्थित वायु को संचारित करने का प्रश्न है, तब यही क्यों न किया जाय कि ऐसे ही नाम का जप हो, जिसका उच्चारण करते समय न केवल व्यापक निर्गुण-सगुण का, बल्कि मानवता के रूप में स्फुरित सगुण ईश्वर का भाव भी प्रवाहित होता चला जाय, और इस प्रवाह के कारण कथनवश वाणी, स्मरणवश, मन (चित्त) तथा कर्म-वश समस्त शरीर पवित्र होता जाये, जिससे मन-वच-कर्म के द्वारा आत्म-सुख की अनुभूति हो। यह त्रिप्रकारात्मक

विशिष्टता उसी संस्कृति मे पाई जाती है, जिसमे अवतार-सिद्धान्त को मान्यता दी गई है, क्यों कि अवतार ही में ईश्वर-सम श्रद्धा रहती है ; परन्तु हर अवतारी पुरुष का नाम ऐसा नही होता, जो व्यापक निर्गुण तथा व्यापक सगुण का भी अर्थवाची हो। कुछ ही अवतारी नाम ऐमे मिलते है। 'कृष्ण' उनमें से एक है। कृष्ण का अर्थ 'श्याम' है, और श्याम या घनश्याम व्यापक ईश्वर का भी द्योतक है। यद्यपि इसमे संदेह नहीं कि कृष्ण-जैसे विशिष्ट और व्यापक अर्थवाची नामों से मन मे तथा उन के कर्मो के अनुकरण से शरीर मे पवित्रता लाई जाकर आत्मसुख की अनुभूति हो सकती है, और इसमें भी सन्देह नहीं कि उन नामों के जपने से वाणी पवित्र होकर शरीर को लाभ पहुँचा सकती है, परन्तु उन में पूर्ण शरीर-लाभ तथा पूर्ण आत्म-सुख लाने की वह शक्ति हमे नहीं दिखाई देती, जो राम-जप मे है। राम जपने में शरीर-लाभ और आत्म-सुख की इसी पूर्णता की अनुभूति के कारण तुलसी ने, हमारे विचारानुसार, राम-नाम को सर्वोपरि माना है। यह कैसे, वह नीचे बताया जाता है—

(५) **ध्वन्यात्मक हुँ**—पहले हम सचेतन शून्य 'अहं' और अहंकार के विषय में कह चुके हैं। पाठक पुन: उन पर विचार करें ! सृष्टि का आदि प्रकरण अहं तत्त्व से प्रारम्भ होता है ; फिर इस अह का अहंकार रूप होता है, जो साकार सृष्टि कहाती है तथा प्रलयकाल मे वही अहंकार रूप सृष्टि फिर से पूर्ववत् अहंतत्त्व बन जाती है। जब साकारता और सगुणता की दृष्टि से सृष्टि का विचार किया जाता है, तब इस अहं तत्त्व पर ध्यान जाता है ; परन्तु यदि उसी सृष्टि का विचार वाणी, वचन, वाक्यजाल अथवा भाषा की दृष्टि से किया जाय, तो अहं और अहंकार का प्रत्यक्षी-करण हुँ और हुंकार शब्द के रूप में होता है। दूसरे शब्दों मे, वाक्विस्तार सृष्टि का वैसा ही एक रूपक है, जैसा साकार या सगुण होता है। वाक् अर्थात् स्वर का प्रारम्भ शरीराधार नाभि-केन्द्र से 'हुँ' ध्वनिमात्र के रूप में अज्ञात विधि से होता है। फिर वही प्रसार या विस्तार के समय हुंकार का प्रतीक बन जाता है। यही हुंकार सूक्ष्म होते-होते अन्ततः उसी

नाभिकेन्द्र में उसी हुँ के रूप में अज्ञात विधि से जाकर लय हो जाता है । इसे समझ जाने के लिए किसी अच्छे तान-लगाने वाले गवैये, अथवा अपने किसी भले-बुरे गान मे मस्त किसी भी गाने-वाले के पास पहुँच उसके गाने को सुनिए । गान प्रारम्भ करते समय वह आ ..आ, या हँ. . हँ, या हुँ...हुँ कहता है, और जब वह गान के विस्तार को सूक्ष्म करते-करते उसी में लीन हो जाता है, तब वाणी रुक जाती और केवल एक हुँ ... हुँ जैसी गुंजार या ध्वनि होती है । स्वरात्मक अथवा वाक्-जालात्मक सृष्टि में विचरनेवाले मानव के लिए इसी 'हुँ' ध्वनि का प्राप्त करना उसके आनन्द की पराकाष्ठा है ।

जिस नाम के जप में जापक को उसके धारा-प्रवाह विस्तार के समय वैसी ही प्रसन्नता हो, जैसी गाने के विस्तार के समय गवैया को होती है, और जब वह अपने जप-गान में इतना मग्न हो जाये कि उसके मुँह, होंठ, जीभ आदि शारीरिक अवयव अपने-आप शिथिल-से होकर क्रमशः गतिहीन होते जायें, तथा अन्त मे वही 'हुँ' उसके नाभि-केन्द्र में जाकर लय हो जाये, तब समझना चाहिए कि वह जापक अपने इष्ट नाम के जप के द्वारा आत्मानन्द की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है । आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाली यह हुँ ध्वनि सरल-स्वाभाविक विधि से, जिस नाम के लेने से निकल सके, वही नाम श्रेष्ठ समझा जाने योग्य है ; परन्तु जापक और गायक की हुं ध्वनि में भेद हो सकता है । गायक का प्रधान लक्ष्य केवल ध्वनि पर रहता है गान उसका चाहे जिस भावार्थ का हो ; परन्तु जापक का प्रधान लक्ष्य जप का भावार्थ ही होता है, ध्वनि उसकी चाहे जैसी निकले, वह अपने जप का विषय इस प्रकार का ढूँढ़ता है कि वह ईश्वरवाची अवश्य हो और उसमे भी ईश्वर-सम्बन्धी अधिक-से-अधिक भाव आ सकें ।

तुलसी के राम में ईश्वर-सम्बन्धी अधिक-से-अधिक ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भाव हैं, यह हम बता चुके हैं। अब देखना यह है कि क्या उसके वर्णों में उच्चारण-विषयक वह गुण है, जो स्वाभाविक सरल विधि से उपरोक्त ध्वन्यात्मक आनन्दावस्था तक जापक को ले जा सके । राम-नाम देखने मे तो केवल दो वर्णों का बना है, परन्तु यथार्थ में उसमें तीन वर्ण हैं--र+आ

+म । यह त्रिवर्णात्मक 'र+आ+म' उस त्रिभावात्मक सृष्टि का रूप है, जिसमें आदि-मध्य-अन्त स्थितियाँ रहती हैं । आदि में 'र' की ध्वनि उठती है ; फिर वही दीर्घ 'र+आ'=रा. . . .रा के रूप में बढती है, और फिर अन्त्याक्षर 'म' का योग होने पर 'रा. . . .म. . . .' कहने से उच्चार का अन्त हो जाता है ; अतएव राम-जप क्या है, मानो हर नाम सृष्टि की उक्त त्रिविध गतियों का स्मरण करानेवाला मंत्र है ।

राम-नाम का जप कई प्रकार से किया जा सकता है । एक विधि है—आलाप सहित गान के रूप में, जैसा कि ऊपर 'रा. . . .म. . . .' संकेत के द्वारा बताया है। दूसरी विधि है—राम-राम शनैः-शनैः कहना । तीसरी विधि है—तीव्र वेग से राम-राम इस तरह कहते जाना, जिससे जप इतना धाराप्रवाहित हो जाय कि स्वास लेते समय भी उसका तारतम्य न टूट सके । यह थोड़े ही काल के अभ्यास से होने लगता है । इसका अभ्यास जब और अधिक बढने लगता है, तब ऐसा समय आता है कि मुँह-होंठ बिना खोले केवल जीभ भीतर-ही-भीतर चलती रहती है । तत्पश्चात् जीभ भी रुक जाती है और राम शब्द के स्थान मे केवल हुँ-हुँ जैसी ध्वनि आने लगती है । चौथी विधि है, बन्दर की हूक जैसी, जिसे उस कारण से हनुमान् की विधि कहा जाय, तो कदाचित् गलत न हो। इस प्रयोग के समय राम-नाम को नाभि से मुख की ओर झटका-सा देकर लाना पड़ता है । इस प्रयोग से, हमें कुछ ऐसी प्रतीति हुई कि शरीर की निम्न वायु ऊपर को खींची जा सकती है, जिससे शरीर हलका होकर ऊपर को उठ सकता है और विशेष अभ्यासवश उड़ भी सकता है जैसा कि हनुमानादि कर सकते थे ; परन्तु इस मुझ जैसे एक अनाड़ी लेखक का अनुमान ही समझिए । वह कहाँ तक सत्य है, इसे तो योग-सिद्ध महात्मा ही कह सकेंगे । जो भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि जप की इस क्रिया में भी अन्त में 'हुँ' ध्वनि निकलने लगती है; क्यों कि राम के अन्त्यवर्ण 'म' में यही रहस्य निहित है, राम चाहे जिस विधि से क्यों न कहा जाय ।[४२]

---

४२. **टिप्पणी**—जो कुछ इस सम्बन्ध में हम लिख सके हैं, वह हम जानते

किसी भी ऐसे शब्द को लीजिए जिसका अन्त्यवर्ण 'म' हो और उसे बोलिए, जैसे—हम, तुम, दम, दाम आदि। ऐसे शब्द की समाप्ति के समय जब आप अन्त्यवर्ण 'म' को बोलते है, तब आप के ओष्ठ बन्द हो जाते हैं, और यदि मुँह तुरन्त न खोला जाय, तो उस 'म' के कहने पर शरीर के भीतर एक 'हुँ. . . . .' जैसी आवाज होती रहती है, चाहे वह क्षणाश के लिए ही क्यों न हो। यही 'म' जब शब्द के अन्त में नहीं होता और बोला जाता है, तब उसका उच्चारण करने के लिए ओष्ठों का खोलना आवश्यक होता है। इस तरह यह विदित हो जाता है कि शब्द के अन्त्यवर्ण 'म' का उच्चारण होने के बाद ही शरीर के अन्दर अपने-आप 'हुँ. . . .' ध्वनि का निकलना स्वाभाविक है। यदि यथोचित अभ्यास किया जाय, तो यह ध्वनि बहुत देर तक कायम रखी जा सकती है। चूँ कि इस अन्त्याक्षर 'म' की ध्वनि आनन्द में मग्न करनेवाली होती है, और चूँ कि आनन्द प्राप्त करना ही सभी का इष्ट रहता है, इसलिए तुलसी ने राम-नाम के 'म' को मुकुट-मणि कहा है और 'रा' को क्षत्र—'एक छत्र एक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोउ।'

शान्तिदायक अथवा आनन्दप्रद होने के नाते 'म' को मुकुटमणि कहा, सो तो ठीक है, पर 'रा' को छत्र क्यों कहा? छत्र का अर्थ चाहे 'छाता' लो, या 'छात्र' (क्षत्रिय धर्म) दोनों में रक्षण करने का भाव निहित रहता है। सृष्टि क्या है, मानो नाम और रूप का जाल। नाम और रूप यही दो शत्रु हैं, जो मन पर आक्रमण कर मानवता को नष्ट-भ्रष्ट करने मे लगे रहते हैं। रूप का प्रवेश-द्वार है—नेत्र; और नाम का प्रवेश-द्वार है—कर्ण। नाम प्रतीक है, समस्त वाक्जाल अथवा वर्णन (Description) का। इसलिए, यदि कोई मुकुटमणि रूपी सर्वश्रेष्ठ आनन्द पाने का इच्छुक हो, तो पहले

हैं, बहुत ही अल्प और शिथिल है। कुछ बातें ऐसी होती हैं कि उनका वर्णन न वाणी कर सकती है और न लेखनी; अतः त्रुटि के लिए पाठक क्षमा करें। हमारा निवेदन इतना ही है कि हमारे दिये हुए विचारों को संकेत मात्र समझकर अपने-अपने अनुरूप स्वयं अनुभव करने का प्रयास करें।

उसे अपने कर्णद्वारों पर ऐसा दृढ प्रबन्ध करना होगा कि यह नामरूपी शत्रु उनमे से प्रवेश कर भीतर न जा सके। तुलसी के अनुसार 'रा' वर्ण इस काम को सम्हालता है। यह कवि की केवल साहित्यिक कल्पना मात्र नहीं है। उसमे ठोस व्याहारिक सत्यता है। रा अर्थात् 'र....आ....' को दीर्घ स्वर से कहकर देखिए, तो भीतर की वायु, अथवा यही कहिए, आवाज कानों के रन्ध्रों पर भीतरी पर्दे के रूप मे इस तरह आकर डट जाती है कि बाहर की आवाज प्रवेश ही नहीं कर पाती। हमारा अनुभव है कि अच्छी तरह से की गई इस आन्तरिक गुंजार के कारण बाहरी तुमुल से तुमुल आवाज का भी प्रवेश रुक जाता है। इसी को दूसरे प्रकार से देखा जाय, तो यह कह सकते है कि इस 'र....आ....' की गूँज न केवल कर्णरूपी द्वारों पर आ डटती है, वरन् एक प्रबल सेनानी 'र...आ...' की अध्यक्षता मे सारे 'आन्तरिक क्षेत्र मे व्यवस्थित रूप से मोर्चे बनाकर ऐसी फैल जाती है कि शत्रुरूपिणी भाषा को प्रवेश-द्वार मे ही हताश हो लौट जाना पड़ता है। यह है, 'रा' मे निहित छत्र-भाव, जिसे तुलसी ने दर्शाया है। साधारणतया, अर्थकार उक्त दोहे का यह अर्थ लगाते है कि 'र' और 'म' को तुलसी ने सब वर्णो से श्रेष्ठ इसलिए कहा है कि 'र' उनके ऊपर रेफ के रूप में छत्र-सा बनकर और 'म' उनके ऊपर विन्दु (अनुस्वार) के रूप में मुकुटमणि-सा बनकर विराजता है ; परन्तु इस अर्थ मे केवल साहित्यिक कल्पना तथा आलकारिक सुन्दरता की झलक है, व्याहारिक सत्यता की नहीं। इसके अतिरिक्त इसमें हलन्त 'र' (अर्थात् र्) का भाव आता है न कि 'रा' का, जो 'राम' का प्रथम वर्ण है, क्योंकि हलन्त 'र' का ही प्रदर्शन रेफ (ॅ) के रूप मे किया जाता है, न कि 'र' या 'रा' का। तुलसी के हृदय में जगतहित अथवा लौकिक जीवन की सार्थकता का भाव इतना ठोस था कि उनके द्वारा दी गई प्राय: सभी उपमाओं में हमें न केवल साहित्यिक रस, वरन् व्यवहारत्व भी मिलता है। 'राम' के इन्हीं दो वर्णो के विषय में उन्होने जो दूसरी उपमाएँ दी हैं, उन सब में जीवन-सम्बन्धी दो सत्यताओं का भाव दर्शाया गया मिलता है—एक लोक-कर्म, और दूसरा उसे नियंत्रित रखने वाला ईश्वर-

भाव, अथवा एक कर्मरूपी स्थूल जीवन और दूसरा शाति (आनन्द) रूपी सूक्ष्म जीवन । यदि 'रा' 'जगपालक नर' है, तो 'म' 'जनत्राता नारायण' है; यदि 'रा' 'वसुधाधर कमठ' है, तो 'म' 'वसुधाधर शेष' है; यदि 'रा' 'सुगतिरूपी सुधा का स्वाद' है, तो 'म' उस स्वाद से उत्पन्न 'तोष' है; यदि 'रा' कर्मयोगी 'जीव' है, तो 'म' आनन्द रूप 'ब्रह्म' है । इसी तरह यदि 'रा' रक्षा करने वाला 'छत्र' है, तो 'म' उससे प्राप्त आनन्द रूप 'मुकुटमणि' है । हमारे इस भावार्थ के अनुसार उक्त दोहे मे 'जो 'बरनन' (वरणन) शब्द आया है, उमे वण (अक्षर) का बहुवचन न समझकर 'वर्णन' (Description) का द्योतक समझना तुलसी की तद्विषयक विचारधारा तथा व्यावहारिक सत्यता की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है । इस भाव के अनुसार उक्त पंक्ति का यह तात्पर्य होता है कि भाषिक प्रबन्धो मे सब से अधिक महत्त्वशाली शब्द 'राम' है।

यदि कोई हमसे यह पूछे कि उक्त प्रकार को रक्षा करना क्या केवल 'रा' वर्ण की ही विशिष्टता है, तो हम कहेगे— नहीं' । किसी भी वर्ण के दीर्घोच्चार मे आन्तरिक ध्वनि बाह्य ध्वनि को रोक रखने में समर्थ है । तब फिर 'राम' ही क्योंकर सर्वोपरि हो सकता है ? उसकी सर्वोत्कृष्टता है, अन्त्य 'म' में न कि 'रा' मे । वही 'म' मुकुटमणि होकर राम-नाम को सर्वोपरि बनाता है । आप किसी ऐसे ईश्वरवाची नाम को ढूँढकर बताइए, जिस में न केवल मानवताप्रद ईश्वर-सम्बन्धी सभी गुणों का भाव प्रकट होता हो, वरन् उसे बोलते समय उसमें उपरोक्त हुँ-ध्वनि वाली आनन्द की पराकाष्ठा की अनुभूति प्रदान करने की भी क्षमता हो। हमने तो बहुत विचार कर देखा; पर हमें कोई ऐसा नाम नहीं मिला । राम ही ऐसा नाम है, जिसमें भावात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों प्रकार की सम्पूर्णता की अनुभूति होती है । एक नाम अवश्य ईश्वरवाची और है, जिसके अन्त का वर्ण 'म' है और उसके उच्चारण करने मे भो राम के सदृश अनुभूति होती है। वह है 'ओम्' (ॐ)? उसमें भी तीन वर्णों (अ+उ+म्) का योग है। उन तीनों में सृष्टात्मक आदि-मध्य-अन्त का भाव भी है और उनसे ध्वनि-क्रम भी वैसा ही निकलता

है जैसा र ...आ... म् से निकलता है ; इसलिए उच्चारण और ध्वन्यात्मक आनन्द की दृष्टि से राम और ओम् मे समता है । ईश्वरभाव-दर्शी-नामों में तुलसी के समय तक ओम् कदाचित् सब से अधिक प्राचीन, प्रचलित शास्त्र-सम्मत और सर्व-सम्मानित था । फिर क्या कारण है कि 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' की दुहाई देनेवाले तुलसी ने उसके स्थान मे 'राम' को ही विशिष्टता देकर उसका घर-घर प्रचार किया ? कारण यह है कि ओम् में आदि-मध्य-अन्त सूचक भावों की समता होने पर भी वह व्याहारिकता लक्षित नहीं होती, जिसकी आवश्यकता लोक में रहने वाले हर मानव के लिए रहती है । वह ज्ञानियों और ध्यानस्थ योगियों को आनन्द दे सकता है ; पर उस जनसाधारण को नहीं, जिसे लोक की जटिल परिस्थितियों में ही रहकर अपने तथा समाज के लाभार्थ कर्म करना अनिवार्य होता है । उसमें यदि आनन्द-प्राप्ति का कोई व्यावहारिक प्रयोग है, तो केवल वही जप का, जिसके द्वारा वैसा ही ध्वन्यात्मक आनन्द मिल सकता है, जैसा कि राम-जप से मिलना बताया है । यथार्थ मे ध्वनि के आधार पर ही उसका निर्माण किया गया प्रतीत होता है ; पर उसमे ईश्वर-सम्बन्धी सगुणता की उपेक्षा है, जो किसी प्रकार से टाली नहीं जा सकती । वह व्यक्तिगत आनन्द के सामने समाज के आनन्द की ओर फूटी आँख से भी नहीं देखना चाहता । संसार में कर्मयोगी अथवा यथाविधि जीवन-यापन करने वाले मानव के लिए केवल निर्गुणानन्द की कल्पना और ध्वन्यात्मक आनन्द की सक्रियता वैसी ही निरर्थक होती है ; जैसे --भूखों के लिए कंचन का ढेर होता है । ओम् मे इन्हीं त्रुटियों को देख तुलसी ने उस राम-नाम को पकड़ा, जिसमें ओम् में निहित सब गुण तो है ही, परन्तु सगुणता अथवा व्यवहार-सूचक वे गुण भी पाये जाते है, जो ओम् मे नहीं हैं । मानवों के सामने मानवता का प्रतीक ईश्वरावतारी राम का आदर्श के रूप में खड़ा किया जाना, नितान्त आवश्यक था ; इसलिए तुलसी ने ओम् की अपेक्षा त्रिभावात्मक राम का ही प्रचार किया ।

सम्भव है, यहाँ हमारी बात का खंडन करने के हेतु कोई आप के

सामने ईश्वरवाची 'श्याम' नाम को प्रस्तुत कर यह कहे कि उस का भी अन्त्य वर्ण 'म' है, और राम के समान उसके द्वारा भी मानवता का आदर्श कृष्ण के रूप में प्रदर्शित किया जाता है ; परन्तु कई कारणों से श्याम और राम की समता नहीं बैठती। एक तो 'श्याम' कोई स्वतंत्र नाम नहीं है। वह कृष्ण की उपाधि है, अथवा यह कहिए कि कृष्ण के उपासकों ने कृष्ण पर श्याम-संज्ञा का आरोप किया है। दूसरे, 'श्' के आने से 'श्याम' उस प्रकार त्रिदर्शीय त्रिवर्णात्मक नहीं है, जिस प्रकार "राम' है। तीसरे, कृष्णचरित्र मे आदर्शनीय उत्कृष्टता होते हुए भी राम-चरित्र के समान सर्वक्षेत्रीय मर्यादा का प्रदर्शन नही मिलता। इस मे चाहे दोष स्वयं कृष्ण का रहा हो या उनके उपासको का, जिन्होने बाद मे उनका चरित्र-चित्रण किया है।

ओम् और श्याम की यह चर्चा आने के पूर्व हम यह बता रहे थे कि 'रा' के दीर्घोच्चारी नाद से कर्ण-द्वारा बाहरी आवाज का प्रवेश नहीं हो पाता। यह दीर्घोच्चार घोष की बात हमने केवल तद्विषयक अनुभूति कराने के हेतु दृष्टान्तवत कही थी। यथार्थ में यह आवश्यक नहीं कि जप घोषपूर्वक ही किया जाय। जप चाहे जिस स्वर में किया जाय, या बिना स्वर के मन-ही-मन किया जाय, उसका उद्देश्य केवल इतना ही रहता है कि उच्च भाव-पूर्ण शब्द का आश्रय लेकर निम्न भावयुक्त शब्दों का अपने अन्दर प्रवेश होने दें ; ताकि मन विकारवान न हो। यदि कोई यह कहे कि जब यही उद्देश है कि नेत्र या कर्णो के द्वारा विकार उत्पन्न करने वाला कोई रूप या शब्द हमारे अन्दर प्रवेश न करने पाये, तो यही क्यों न किया जाय कि नेत्र या कान हमेशा के लिए फोड़ डाले जायँ, जैसा कि विल्वमंगल (सूरदास) ने अपने नेत्र फोड़ लिये थे ; परन्तु इस तरह के उपायों का आश्रय लेना मूर्खता का ही चिह्न होता है। एक तो, इन ईश्वर-दत्त ज्ञानोपार्जन के साधनों का विनाश कर लेने से हम भविष्य में ज्ञान-प्राप्ति से वंचित हो जाते हैं। दूसरे, जब तक मन संयमी नही होता, तब तक इन्द्रिय-विनाश से कोई लाभ नहीं मिलता, क्यों कि यथार्थ में

विषय-रसों का भोक्ता तो वही रहता है, न कि इन्द्रियाँ । इसीलिए भक्तों का कहना है कि मन को ईश्वर-चिन्तन अथवा नाम-जप मे लगाये रहो । जिस बात को भक्त ईश्वर-चिन्तन या जप आदि कहकर दर्शाता है, उसी को तत्त्वदर्शी गीताकार निम्न श्लोक मे 'परंदृष्ट्वा' (अर्थात् पर-तत्त्व पर दृष्टि लगाये रहना) कहकर बताता है—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥४३॥[४३]

(ग) **पथ के भयावह स्थल** (Danger spots)—**मानस में जय और विजय का उल्लेख और उन पर हमारा समीक्षात्मक दृष्टिपात**—

सड़कों पर आपने देखा होगा, कई स्थानों पर लाल रंग से 'खतरा' शब्द लिखा हुआ मिलता है । उसको देखते ही पथिक समझ जाते हैं कि वहाँ कोई-न-कोई जान-जोखिम की बात अवश्य है ; इसलिए वे उससे बचने के अभिप्राय से सावधान होकर चलने लगते है । जो मार्ग जितना दुर्गम होता है, उतने ही अधिक खतरो का सामना पथिक को करना पड़ता है । इस प्रकार के प्रत्यक्ष मार्गो की अपेक्षा जन-क्षेत्रीय कर्तव्य-पथ महाकठिन होता है । उस पथ पर चलने वाले पथिक को जन-क्षेत्रीय विविध भाँति की मानसिक गुत्थियों को सुलझाते हुए निर्भीक होकर अपने कर्तव्य को पूरा करना पड़ता है ; इसलिए उसके मार्ग में एक-दो नहीं, अनेक भयावह स्थल पड़ते हैं । यदि यह पथिक इस धारणा को लेकर चले कि उसे न केवल लोक-सेवा ही करना है, वरन् परलोक भी सुधारना है, तो उसे उन लोगों की अपेक्षा जो केवल एक ही प्रकार की धारणा से प्रभावित होकर बर्तते हैं, विशेष रूप से सतर्क रहकर मार्ग पार करना होता है । तुलसी की धारणा यही द्विविधा थी और पथ उन्होंने चुना था क्रान्ति का, जो सहज ही साधारण पथ से अधिक भयंकर होता है । शरीर-दण्ड की दृष्टि से निर्भीक रहते हुए

---

४३. गीता २.५९ ।

भी ऐसे क्रान्तिकारी लोक-सेवक को इस बात का विशेष भय रहता है कि उसकी मानसिक और आत्मिक गति न बिगड़ने पाये। इससे बचने के लिए पूर्वगामी सभी सच्चे लोकसेवी पथिकों ने दो स्थल ऐसे भयकर बताये है कि वहाँ पहुँचने पर बिरला ही सकुशल बच पाता है। वे है—जय और विजय।

मानस मे तुलसी ने इनके विषय में यह लिखा है—

"द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ।
बिप्र श्राप ते दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।
कनक कसिपु अरु हाटक लोचन। जगत बिदित सुरपति मद मोचन।
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता।
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा।

दो०—भए निसाचर जाइ तेइ, महाबीर बलवान।
कुम्भकरन रावन सुभट, सुर बिजई जग जान॥"[४४]

पौराणिक गाथाओं की उपयोगिता पुराण-काल मे तथा उसके पश्चात् जो भी रही हो; पर आज के युग में उनसे पाठक की बुद्धि अनेक स्थलों पर भ्रम में पड़ जाती है, क्यों कि उन में मानवीय आन्तरिक गतियों पर व्यक्तित्व का आरोप किया हुआ मिलता है, जैसा हम पहले किसी दूसरे प्रसंग के समय कह आये है। जय और विजय सम्बन्धी गाथा से भी, जिसका उल्लेख तुलसी ने उक्त पंक्तियों में किया है, इसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो उठता है। हम जय और विजय को उक्त नामधारी दो व्यक्ति समझने लगते है, और हरि को एक महल में रहनेवाला मान बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उसके मूलार्थ से वंचित होकर जीवनोपयोगी लाभ से हाथ धो बैठते हैं। उसका गूढार्थ जिस तरह हम समझे हैं, वही पाठकों के विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

---

४४. मानस, बा० कां० १२१।४–८; १२२।

मानस के उक्त उल्लेख में जय और विजय के अतिरिक्त कई और दूसरे नाम भी आप को पढ़ने को मिलते हैं, और प्रत्येक के बारे में आप को कुछ-न-कुछ गाथाएँ भी मिलती हैं ; परन्तु उन सब के गूढ़ार्थ पर यहाँ विचार करना न सम्भव है और न आवश्यक ही ; इसलिए केवल जय और विजय से सम्बन्धित भावों का प्रदर्शन किया जायगा। उन पर कुछ कहा जाय उसके पूर्व पाठक एक बात तो यह ध्यान मे रखें कि हरि महलादि मे रहने वाला कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, पर वह है समष्टि और व्यष्टि रूप सर्व-व्याप्त सत्। दूसरी बात यह है, हमारे द्वारा पूर्व में कथित 'विप्र' की व्याख्या।

जय और विजय की गाथा में नियंत्रित लोक-कर्म की प्रधानता दर्शाई गई है। नियंत्रित लोक-कर्म करनेवाले को दो फल मिलते हैं—(१) लोक-यश, और (२) आत्मानन्द अर्थात् हरि-भक्ति या हरि-सेवकाई।

लोक-कर्म में संलग्न रहनेवाले को जब किसी कार्य मे सफलता मिलती है, तब कहते हैं उसकी विजय हुई और जब वह अपनी संलग्नता के कारण कई विजयों के पश्चात् अथवा एक ही कर्म मे कई दिनों तक लगे रहने के पश्चात् लोक-प्रिय बन जाता है, तब उसकी जय बोली जाने लगती है। इस तरह, जो अपने लोक-कर्मो के कारण विजयी और जयी होकर लोक-यश का भागी बन जाता है, तब वह हरि का प्यारा कहाता है। जो स्वामी का प्यारा या विश्वास-पात्र होता है, उसी को ड्योढ़ी या द्वार-रक्षा का कार्य-भार सौप जाता हैं ; इसलिए आलकारिक भाषा में जय और विजय को दो भाई कहा गया है, क्यों कि उन दोनों की उत्पत्ति लोक-कर्म से होती है ; और इसलिए वे हरि के द्वारपाल कहे गये हैं।

विजय प्राप्त होने पर विजयी बहुधा-लोक-वैभव की लालसावश अनेक आशाओं से बद्ध होकर सत्कर्मों को छोड़ दुष्कर्म करने लगता है, जिससे उत्सर्ग के बदले वह पतनोन्मुख बन जाता है, जैसा कि गीता के सोलहवें अध्याय के बारहवें श्लोक से लेकर १६ वें श्लोक तक बड़े सुन्दर रूप में बताया गया है। ऐसी लालसा वाले लोग विषय-भोगों के हेतु अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थो

को संग्रह करने की ही इच्छाओं में रत बने रहते है—'ईहन्ते कामभोगार्थ-अन्यायेनार्थ संचयान्।' विजय-प्राप्त यदि, एक ओर धर-पकड़ आदि करने में लगकर पतित होता है, तो जय-प्राप्त, दूसरी ओर, आलस्यवश कर्महीन होकर पतित बनता है। इस तरह मनुष्य का उत्सर्ग और पतन उसके कर्मो के अधीन रहता है। सत्कर्म ही ब्राह्म कर्म कहलाते हैं, और ब्राह्म-कर्म ही विप्र-संज्ञा का द्योतक है। जो कर्म ब्राह्म-कर्म के विरुद्ध होने के कारण, उसे नष्ट करने वाला हो, वहीं विप्र का श्राप है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तामसी और आसुरी वृत्ति का बन जाता है। यह तामसी या आसुरी वृत्ति एक बार आई कि फिर उसे देववृत्ति में परिवर्तित करने के लिए बहुत समय लगता है, और वह तभी सम्भव होता है, जब पुनः ब्राह्म-कर्म की ओर रुचि बढ़े। यही रहस्य आप को मानस के उक्त उल्लेख में छिपा हुआ मिलता है। जय और विजय का विप्र-श्राप-वश जो एक जन्म में क्रमशः कनककसिपु और हाटक-लोचन, तथा दूसरे जन्म मे कुंभकरन और रावण होना बताया गया है, वह यथार्थ मे तामसी-आसुरी वृत्ति के क्रमानुगत ह्रास का रूप है। प्रारम्भ में ही यदि उक्त दुष्टवृत्ति न दबाई गई, तो वह बढती ही जाती है। कनककसिपु अर्थात् कनककश्यप साधारणतया हिरण्यकश्यप नाम से और हाटकलोचन साधारणतया हिरण्याक्ष नाम से प्रसिद्ध हैं।

कश्यप का अर्थ होता है—गद्दा, सेज, सोफा आदि; और कनक, हाटक तथा हिरण्य तीनों के माने होते हैं—सोना या कंचन; इसलिए कनककश्यप अथवा हिरण्यकश्यप का अर्थ हुआ—कंचन-सेज, जो आलस, प्रमाद, आराम-तलबी अथवा अकर्मण्यता का प्रतीक होता है। कहावत भी है—'बिछा पाई सेज, पौढ़ पाये सैंया' इस तरह श्राप के बाद जय का जन्म तो हिरण्यकश्यप के रूप मे होना बताया और विजय को—जिसकी आँख सदा अर्थ-संचय और भोगों पर गड़ी रहती है, हाटक लोचन या हिरण्याक्ष होना बताया, क्योंकि लोचन और अक्ष दोनों के माने होते है—आँख। यही दुष्वृतियाँ जब और वृद्ध होती है, तब उनका प्रकट स्वरूप इससे भी अधिक भयंकर एवं दुष्परिणामी होता है। यही भाव यह कहकर दर्शाया गया है कि प्रथम जन्म का आलसी

'जय' दूसरे जन्म मे हिरण्यकश्यप हुआ, और तीसरे जन्म मे जाकर वही छः छः माह तक खुर्राटे लेकर सोनेवाला आलसी या मनों खाने-पीनेवाला प्रमादी कुंभकर्ण बन गया; तथा प्रथम जन्म का कामी 'विजय' दूसरे जन्म में हिरण्याक्ष हुआ और तीसरे जन्म में जाकर वह भू-पातालादि लोकों को जीतने तथा व्यभिचार करनेवाला रावण बन गया। इस तरह तामसी और आसुरी वृत्ति का प्रारम्भ होना ही खराब होता है। यदि वह यथाविधि न रोकी गई, तो यहाँ तक बढ जाती है कि सुरवृत्ति बिलकुल दब जाती है, जैसा कि उक्त उल्लेख मे, आये हुए दोहे की इस अन्तिम पंक्ति मे बताया है—

'कुम्भकर्ण रावण सुभट, सुरबिजई जग जान।"

ये है लोक-सेवा-पथ में मिलने वाले जय और विजय नाम के दो भयंकर गड्ढे, जिन से बचकर चलने के लिए तुलसी ने प्रथम से ही विचारकर रखा था। अपने पूर्वगामियों के द्वारा उन्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो चुका था कि यदि किसी पथिक का पद उस ओर थोड़ा भी खिसका, तो उसके रसातल पहुँचने में कोई सन्देह नहीं। क्रान्ति का कार्य साधारण लोक-सेवा के कार्य की अपेक्षा उतना ही शीघ्रगामी और जटिल होता है, जितना कि मोटर-यात्रा का कार्य, पद-यात्रा के कार्य की अपेक्षा हुआ करता है। इसलिए क्रान्ति-कारी तुलसी ने अत्यन्त संयमी बनना स्वीकार किया, ताकि वह विशिष्ट सावधानी से उक्त महा भयावह स्थलों मे बच निकले। यदि वह संयमी न होता, तो निश्चय ही अनेक पथिकों के समान अपने उस अस्तित्व को—जो आज सूर्यसम प्रकाशित हो रहा है—खो बैठता।

: ११ :

तुलसी की क्रान्ति का प्रचार

अध्याय-प्रवेश

गत दो अध्यायों में हम तुलसी की क्रान्ति-योजना पर विचार कर चुके। योजनाएँ सामान्यतः सिद्धान्त-प्रधान हुआ करती है; इसलिए उनमें प्रायः सभी को क्लिष्टता और अरुचि की प्रतीति होती है। चूँकि तुलसी की क्रान्ति के स्तम्भ धर्म-सिद्धान्त हैं, और चूँकि तुलसी के वे धर्म-सिद्धान्त भ्रम-धूम्र से आच्छादित होने के कारण अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और अरुचिकर प्रतीत होते हैं, इसलिए हमें उन पर विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रकट करने पड़े। जप-विस्तार को देखकर पाठक यह न समझें कि तुलसी का प्रधान उद्देश कर्मयोग को भुलाकर केवल राम-नाम की माला फेरने अथवा 'हुँ' ध्वनि करके आनन्द उठाने का ही था। यदि यही उद्देश्य होता, तो उन्होंने 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा' यह कदापि न कहा होता। उनका मूल उद्देश तो कर्मयोग ही था, जैसा कि सर्व-शास्त्र-सम्मत है। ईश्वर-चिन्तन का आग्रह उन्होंने केवल उस उद्देश्य की यथा विधि पूर्ति के हेतु किया है, जैसा कि हम बार-बार इसके पूर्व कह आये है; इसलिए तुलसी के विविध विचारों की समीक्षा कर लेने तथा उन विचारों पर आधारित उनके व्यक्तिगत आचारों का अनुसन्धान लगा लेने के उपरान्त, अब हम इस अध्याय में उनके उन सामाजिक कार्यो पर दृष्टि डालेंगे जिनके द्वारा उन्होंने समाज-क्षेत्र मे क्रान्ति मचा दी। चूँकि इस सम्बन्ध में न तो हमने स्वय देश-भ्रमण आदि करके प्रचुर सामग्री एकत्र कर पाई है और न अन्य अन्वेषकों ने इस ओर विशेष लक्ष्य देकर

तत्सम्बन्धी कोई प्रामाणिक साधन प्रस्तुत किया है, इसलिए इस परिच्छेद मे जो कुछ आप को पढने को मिलेगा, वह अति अल्प ही होगा। यह केबल भावी अन्वेषकों को उस ओर ले जाने के लिए एक नवीन मार्ग का काम दे सकेगा।

जब तक किसी को इस बात का ज्ञान नही होता कि यह सृष्टि गुण-अवगुणों से सनी प्रपंच-रूप है, और जब तक उस के मन मे यह उत्तेजना नहीं आती कि वह निर्भीकतापूर्वक उन अवगुणों का त्याग करे और करावे, तब तक न तो वह स्वयं क्रान्ति-पथ पर आरूढ हो सकता है और न दूसरों को आरूढ करा सकता। तुलसी को बाल्यकाल से ही गुरु नरहरिदास के अथवा अनुसन्धानकर्ताओं मे तत्संबधी मत-भेद होने के कारण, वह जो कोई भी हो, उसके साथ स्थान-स्थान पर भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ था। इसके फलस्वरूप उन्हें तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित गुण-अवगुणों की जानकारी हो चुकी थी, और उनके मन मे उन अवगुणों को निकाल फेंकने की इच्छा भी जाग्रत हो चुकी थी। मानस में कथित 'विधि प्रपच गुण अव-गुण साना' तथा 'खल गह अगुण साधुगुण गाहा' आदि कतिपय पदो से उनकी उक्त इच्छा का परिचय सहज में मिल जाता है। जब उन की यह इच्छा थी कि वे स्वयं तथा अन्य जन सभी गुणों को ग्रहण कर अवगुणों का त्याग कर रहें, तभी तो उन्होंने गुण-अवगुणों की कुछ रूप-रेखा खींच कर अन्त मे यह कहा—'इहिते कछु गुण दोष बखाने। सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'

प्रचलित विचार-धाराओं और सामाजिक कुरीतियों आदि के विरुद्ध बुलन्द आवाज उठाना तथा उन्हें जड़ से खोद फेंकने के लिए कदम उठाना सहज काम नहीं होता। ये बातें वही वीर पुरुष कर सकता है, जिसमें स्वार्थ-त्याग की भावना ऐसे उच्च शिखर पर पहुँच गई हो कि आवश्यकतावश वह न केवल अपने शरीर-सुख को ठुकरा सके, वरन् अपने प्राणो की भी बाजी लगा दे। दूसरे शब्दों में निर्भीकता ही उसका जोवन-धन हो। तुलसी तो निर्भीक थे ही, जैसा कि उनकी साहित्यिक कृतियों मे कथित वाक्यों से स्पष्ट है; परन्तु उन्होंने दूसरों को भी उसी प्रकार निर्भीक बनाने का प्रयास किया।

हनुमत्पूजा और हनुमान चालीसा द्वारा जनता में निर्भीकता लाने का प्रयास

उस समय का भारतीय समाज हिन्दू और मुसलमान—इन दो जातियों में विभक्त था, यह हम आठवें अध्याय में देख चुके है। यह भी हम जान चुके हैं कि मुसलिम जनता के अमानुषीय या पैशाचिक कार्यों तथा मुसलिम शासकीय अत्याचारों के कारण हिन्दू जनता घर-बाहर सभी स्थानों में सभी समय पर भयभीत बनी रहती थी। इसलिए तुलसी ने अपनी क्रान्ति का प्रथम चरण हिन्दू जनता में निडरता उत्पन्न करने के हेतु प्रारम्भ किया। इसके लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थान पर हनुमान-मन्दिरों की स्थापना की या कराई तथा हनुमान-उपासना करने के लिए लोगों मे रुचि उत्पन्न की। हनुमान वज्र-सा बल देनेवाला, सकट हरनेवाला, भूत-पिशाचादि से निडर करनेवाला, खल-रूपी वन को पावक के समान भस्म करनेवाला, असुरों का निकन्दन (उन्मूलन) करनेवाला आदि-आदि गुणों से विभूषित देव बताया गया। इन गुणों का परिचय कराने के हेतु राम-कथा का मनाया जाना तथा रामलीला का कराया जाना भी प्रारम्भ किया, ताकि हनुमान का उक्त गुणों-युक्त चरित्र सुन या देखकर मनुष्यों के हृदय से भय भाग जाये। इस अभिप्राय से तुलसी ने, हमारी समझ मे, हनुमान-चालीसा की रचना इतने छोटे रूप में की कि जिसमे उसका चलते-फिरते कुछ मिनटों मे पाठ किया जा सके। उसकी भाषा और रूप को देखकर यदि यह कहा जाय कि तुलसी की रचनाओं में वह सम्भवत: सर्व-प्रथम हो, तो कुछ असंगत न होगा। ऐसा प्रतीत होता है, मानो क्रान्ति-क्षेत्र पर पदार्पण करने वाले किसी नव-युवक धर्म-प्रेमी कवि का वह प्रथम तीर है, जिसका चलाना सिखाकर वह अपने लक्ष्य-वेध के लिए सैनिक तैयार करने के लिए तत्पर हुआ हो! इस विधान से पर्याप्त फल भी उन्हें मिला, जो आगामी अध्याय मे बताया जायेगा।

तुलसी-साहित्य के प्राय: सभी प्रमुख समीक्षक हनुमान-चालीसा को तुलसी की रचना मानने को तैयार नहीं हैं, जैसा कि हम गत तीसरे अध्याय में कह आये हैं। इसका एक कारण तो यह है—वे समझते हैं कि कवितावली,

विनय-पत्रिका, मानस आदि जैसे ग्रन्थों के प्रसिद्ध रचयिता तुलसी की भाषा और कविता इतने निम्नस्तर की नहीं हो सकती, जैसी कि हनुमान-चालीसा की है। दूसरा कारण यह है कि इन समीक्षकों मे से बहुत-से ऐसे है, जिन्होने पूर्व मे निर्धारित उक्त प्रकार के अनुसन्धान को ही अपने मत का आधार मान लिया है। हमारी समझ मे उक्त दोनों प्रकार की कसोटियाँ उपयुक्त नहीं हैं। किसी भी क्षेत्र को लीजिए, उसका आज का सम्पन्न कार्यकर्ता, चाहे वह कवि-सम्राट् हो या तत्त्व-विशारद, चाहे वह कलाकार हो या वैज्ञानिक, प्रारम्भिक काल मे केवल एक नौसिखिया के समान ही होता है। इस दृष्टि से यदि हनुमान-चालीसा तुलसी का सर्व-प्रथम साहित्यिक गुरिया कहा जाय, तो आपत्ति उठाने के लिए कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती, विशेष कर इसलिए कि तुलसी की अन्य सभी प्रमुख कृतियों में उन्होंने हनुमान को विशेष महत्त्व दे रखा है, और इसलिए भी कि अनुसन्धानकर्ता इस बात को निर्विवाद रूप से मानते है कि तुलसी हनुमान के उपासक थे तथा हनुमान-मन्दिरों और हनुमान-मूर्तियो के स्थापनादि कार्यो मे प्रमुख भाग लेते थे। काशी में अस्सीघाट पर तथा नगवा के पास अस्सी के नाले पर हनुमान की स्थापना करना, तथा निवसस्थान का नाम हनुमान-फाटक रखना एवं अस्सी पर रामलीला का आरम्भ करना उक्त कथन के प्रमाण हैं।[१] डा० राजपति दीक्षितजी ने यह ठीक कहा है कि "हनुमत्पूजा के प्रसार का आयोजन करके, हनुमत्मन्दिरों की स्थापना करके, और रामलीला की व्यवस्था बाँधकर उन्होंने (तुलसी ने) प्रजा का हित-साधन करने मे कुछ उठा नहीं रखा।"[२] यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रमाणों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तुलसी के उक्त कृत्यों का सम्बन्ध केवल काशी से था, तो भी हमारे उपरोक्त निदान को कोई ठेस नही पहुँचती। सम्भव है, अनुसन्धानकर्ता यदि उस ओर विशेष ध्यान दें, तो काशी के अतिरिक्त दूसरे स्थानों के दृष्टान्त

---

१. तुलसी-ग्रन्थावली (तीसरा खण्ड), प्रस्तावना, पृष्ठ ३२।३३।
२. 'तुलसीदास और उनका युग' पृ० ५०।

भी उपलब्ध कर सकें। फिर यदि यही मान लिया जाय कि तुलसी ने काशी को छोड़ किसी दूसरे स्थान पर हनुमान-स्थापना और रामलीला का प्रसार नहीं किया, तो भी इतना तो अनुभव सिद्ध है कि श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा किये गये कृत्यों का अनुकरण दूसरे लोग अपने-अपने स्थानों पर अवश्य करने लगते हैं। आज जब हम असंख्य स्थानों पर हनुमत्मूर्तियों को तथा अनेक स्थलों पर रामलीला को देखते हैं, तो यही कहा जा सकता है कि किसी श्रेष्ठ पुरुष द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्यों का ही वह विस्तृत अनुकरण रूप है। आप को स्मरण होगा कि लोकमान्य तिलक ने भी अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध चेतना-जागृति के अभिप्राय से अपने निवास-स्थान पूना में गणेश-उत्सव को प्रारम्भ किया था, जो समय पाकर धीरे-धीरे प्राय: सभी भारत में, विशेषकर महा-राष्ट्र-भाग में, पर्याप्त रूप से नेफैल गया था। जन-साधारण में बल-बुद्धियुक्त निर्भीक जनमत उत्पन्न कर के लिए देव-पूजा का वैसा ही महत्त्व होता है, जैसा कि बालक को वर्ण-माला सिखाने के लिए किसी प्रत्यक्ष पदार्थ का होता है। जिस प्रकार 'घर' का 'घ' अथवा 'छड़ी' का 'छ' कहने वाला बालक कालान्तर से 'घर' और 'छड़ी' के स्थान मे 'घ' और 'छ' से बँध जाता है, उसी प्रकार जन-साधारण देव-विशेष के स्थान मे तत्सम्बन्धी सद्गुणों का प्रतिपालन करने में तत्पर हो जाता है। इस तरह तुलसी ने हनुमत्पूजा के आश्रय से मुसलमानों के अत्याचारों के विरुद्ध निर्भीकतापूर्ण जन-मत तैयार किया। जब किसी राज्य में स्वतत्र-विचार को कुचल कर रखने के लिए घोर-से-घोर आतक और कुचक्र चलाया जाता है, तो राजनीति-कुशल लोग इसी प्रकार का कार्य-क्रम जनता के सामने प्रस्तुत करते है। अग्रेजों की दमन नीति की अपेक्षा मुसलमानों की दमन-नीति कई गुणी अधिक थी; इसलिए यदि श्रेय स्वतंत्रता के आन्दोलन की दृष्टि से गणेश-उत्सव को प्रारम्भ करने का तिलकजी को है, तो उनसे कई गुणा अधिक श्रेय हनुमत्पूजा प्रारम्भ करने के कारण तुलसी को है। तुलसी-काल के कुचक्र को देखते हुए इसे तुलसी का एक अनुपम राजनीतिक चातुर्य कहा जाय, तो ठीक ही होगा।

देशाटन द्वारा जन-सम्पर्क

आचार-विचार के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क से अधिक अच्छा साधन कोई दूसरा नहीं होता, यह निर्विवाद सत्य है। और जन-सम्पर्क का सब से उत्तम साधन होता है---पद-यात्रा, जिस के विषय मे हम राम की यात्रा के समय कह आये हैं। पद-यात्रा करते हुए जनता के बीच पारस्परिक वार्तालाप तथा कथा-विवेचनों के करते जाने से जो लाभ होता है, वह लोक-सेवा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहता है।

तुलसी ने देशाटन किया, इस सम्बन्ध में अन्वेषकों मे मत-भेद नहीं है; परन्तु इस विषय पर, हमारी समझ मे अभी तक पर्याप्त खोज नहीं की गई। जो कुछ खोज की गई है, उससे इतना पता चलता है कि तुलसी ने केवल उत्तरी भारत के कुछ जिलों में भ्रमण किया तथा कुछ प्रमुख तीर्थ-स्थानों पर आश्रम-वास किया। वहीं से वे किसी-किसी स्थान को चले जाया करते थे। इस प्रकार के अनुसन्धानों से इतना ही ज्ञात होता है कि तुलसी केवल धर्म-भावना से प्रेरित हो, बहुधा तीर्थ-स्थानों को ही जाया करते थे; इसलिए उनकी यात्रा अधिकतर तीर्थाटन नाम से प्रसिद्ध है।

तुलसी-ग्रन्थावली (खंड ३) की प्रस्तावना मे 'पर्य्यटन' शीर्षक के अन्तर्गत बलिया जिला (संयुक्त प्रदेश) के कुछ ग्रामों का उल्लेख किया गया है, जहाँ तुलसीदासजी पहुँचे।[३] उसी में तुलसी की 'कुछ जीवनियों के आधार पर कुछ फुटकर बातें' दी हैं, जिन्हें पढने से ज्ञात होता है कि वे कई जिलों के ग्रामों में भी भ्रमण करते रहे।[४] परशुराम चतुर्वेदीजी ने तुलसी के निजी ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वे अयोध्या, काशी, चित्रकूट और प्रयाग (तीरथराज) में रहे होंगे।[५] परन्तु इसके विषय में भी कोई काल-क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता। डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने

---

३. तुलसी-ग्रन्थावली (खण्ड ३) प्रस्तावना, पृ० ३०, ३१।
४. तुलसी-ग्रन्थावली (खण्ड ३) प्रस्तावना, पृ० ४९--५५।
५. 'मानस की राम-कथा' पृ० २७।

निस्सन्देह अपने लेख में बहुत पहले यह लिखा था कि तुलसी अपने गुरु के साथ "सारे उत्तर भारत में घूमे" और फिर गृह-पत्नी के वचनों के कारण साधु हो जाने पर "पहले अयोध्या और फिर काशी में स्थान बना करके उत्तरी भारत में दूर-दूर तक घूम कर राम-नाम का उपदेश देते रहे।"[६]

राम-नाम का उपदेश देना ही, हम गत पृष्ठों पर भली भाँति बता आये है, लोक-कर्म का उपदेश देना है, और यह लोक-कर्म भी ऐसा कि उसके पालनार्थ आवश्यकतानुसार खल या असुरों के सहार, अथवा यह कहिए, आसुरी वृत्तियो के उन्मूलन के हेतु त्याग और वीरता के प्रयोग मे किंचित मात्र भी कमी न रहने पाये। जो महात्मा किसी ग्रन्थ को इसलिए लिखे कि उसके आदर्शनायक के लोक-कर्म प्रकट हों, उसी के विषय में यदि यह धारणा बना ली जाय कि वह अपने श्रोताओं के सम्मुख उन यशस्वी लोक-कर्मो की चर्चा नही करता, वरन् उस आदर्श नायक के नाम-जप की ही बात किया करता था, तो इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है। सच बात तो यह है कि उसका उद्देश्य ही यह रहता है कि श्रोतागण उसके आदर्श-नायक के लोक-कर्मो को अच्छी तरह से सुने-समझे और उनके अनुकूल चलें। वह चाहता है कि जनता उस आदर्श नायक के पद-चिह्न या चरण-रेख को देख-देखकर अपना कर्म-मार्ग निर्धारित करे। यही उसका भक्ति-मार्ग है--इसी में स्वामी की पद-पूजा अथवा चरण-वन्दना का भाव निहित है जैसा कि हम किसी गत अध्याय मे प्रकट कर आये हैं; इसलिए हम तो इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि जहाँ-जहाँ तुलसी जाते या निवास करते थे, वहाँ वे सदैव श्रोताओं का ध्यान राम की लौकिक कर्त्तव्य-परायणता की ओर इस विचार से आकर्षित करते थे कि जिससे वे भी अपने समय की सामाजिक दुर्दशाओं को मिटाने के लिए उसी तरह कटिबद्ध हो उठें, जिस प्रकार राम हुए थे। यही उद्देश्य तुलसी के देशाटन और यात्रा का था, और इसी उद्देश्य की पूर्ति वे पूर्वोक्त तीर्थ-स्थानों में रहकर किया करते थे। उक्त चारों स्थान

---

६. तुलसी-ग्रन्थावली (खण्ड ३) निबन्धावली, पृ० २७।

उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थान माने जाते है। वहाँ भारत के भिन्न-भिन्न कोनों से सहस्रों नर-नारी नित्य-प्रति धर्म-भावना को लेकर तीर्थ करने जाया करते हैं। तुलसी के काल में भी जाया करते थे। रेल के अभाव मे इन तीर्थ-यात्रियों को पद-यात्रा करनी पड़ती थी, जिसके कारण उनकी वह तीर्थ-भावना कम-से-कम घर लौटने के बाद महीनों तक बनी रहती थी। जब वे तीर्थ-स्थान को पहुँचते, तब दूसरों मे वे तुलसी के विषय मे सुनते, उन के दर्शन करते, उन से वार्तालाप करते, उन की राम-कथा सुनते अथवा राम-लीला देखते। गरज यह कि उक्त तीर्थस्थानो मे रहने से एक बड़ा भारी लाभ तुलसी को यह था कि उनका सन्देश इन तीर्थ-यात्रियों के द्वारा भारत के ग्राम-ग्राम में दूर-दूर तक पहुँचाया जा सकता था। उन दिनों, जब अक्षरज्ञान प्राय: कुछ न था, विचार-वहन के साधन नहीं के बराबर थे, तथा यात्रियों को आने-जाने का उपाय मूलत: पैदल चलना ही रहता था, तब भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक सन्देश पहुँचाने का इससे अधिक बढिया साधन कोई दूसरा नही बनाया जा सकता था। अन्य आलोचक भले ही सोचें कि तुलसी ही एक रूढिवादी विरक्त के समान आत्म-मोक्ष के हेतु तीर्थस्थानों में निवास करते थे, परन्तु जब हम उनकी उस व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि पर ध्यान दौड़ाते है——जिसका यथासंभव विवेचन पाठकों को गत पाठों में मिला होगा—तब हमे तो यही प्रतीत होता है कि उन्होंने तीर्थ-स्थानों मे लम्बी-लम्बी अवधि तक रहकर राम-कथा कहने या राम-लीला करने में इस लाभ पर अवश्य ध्यान रखा होगा, कि वे वही से अपने इष्ट सन्देश को गाँव-गाँव में सुगमता से पहुँचा सकेंगे। अन्य स्थानों में रहने से न यह सुगमता मिलती और न वह सन्देश ग्रामीण जनता के कान तक यथा शीघ्र पहुँचाया जा सकता था, जो क्रान्ति के प्रथम तकाजे थे। तुलसी की राजनीतिक गहराई का यह भी एक नमूना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि तुलसी उत्तर भारत ही मे क्यों घूमे, दक्षिण की ओर क्यों नहीं गये, जब कि उन का उद्देश्य यह था कि सारे भारतवर्ष मे क्रान्ति का बिगुल फूँका जाय। तत्कालीन परिस्थितियों ने ही उन्हें ऐसा

करने के लिए बाध्य किया। यों तो एक कारण यही कहा जा सकता है कि उस युग में यात्रा-सम्बन्धी कठिनाइयों की विशेषता थी, और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे हिन्दी-भाषा में अपने सन्देश का प्रचार करना चाहते थे, और इस प्रकार के प्रचार के लिए उत्तर भारत ही उपयुक्त स्थान था। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से दूसरे ही कारण प्रतीत होते हैं। तुलसी का जन्म उत्तर भारत मे हुआ। उत्तर भारत में ही मुसलमान राजाओं की राजधानी तथा सामन्तशाही के प्रमुख स्थान या गढ थे। वहीं शासकीय अत्याचारों की पराकाष्ठा का प्रत्यक्षीकरण हो रहा था, तथा उस शासन के लाड़लों द्वारा भीषण दुराचारों का नंगा नृत्य देखने को मिलता था। आगरा मुगल-बादशाहत की राजधानी बन चुका था। अकबर की कुटिल नीति और जहाँगीर की कठोर व्यभिचारिणी नीति ने क्षत्रिय राजाओं की मान-मर्यादा को मटियामेट करके उन्हें बादशाही दरबार के पिट्ठू बना लिया था। अतएव यह आवश्यकता थी कि क्रान्ति का प्रारम्भ यहीं से किया जाय और राजधानी के समीपवर्ती स्थान ही उसके केन्द्र बनाये जाये। इसलिए जिस उत्तर भारत मे तुलसी का जन्म हुआ, जिस उत्तर भारत मे रहकर उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अनुभव किया, तथा जिस उत्तर भारत में संशोधनात्मक क्रियाओं का अविलम्ब प्रयोग करना परमावश्यक था, उसी उत्तर भारत को छोड़कर अन्यत्र इधर-उधर जाना उतनी ही भयंकर विवेकहीनता होती, जितनी कि प्रधान मोर्चे को छोड़कर दूसरे मोर्चे पर जा पहुँचनेवाले किसी सेनानी की हो सकती है। इन्ही कारणों से हमारा अनुमान है कि तुलसी ने उत्तर भारत के उक्त चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्रों से ही अपनी उद्दिष्ट क्रान्ति का प्रवाहन करना उपयुक्त समझा।

त्रिविध उपायों द्वारा कर्तव्य-भावना की जागृति

क्रान्ति का लाना किसी एक मनुष्य के बूते की बात नहीं। उसके लिए चाहिए सम-विचारी अधिक-से-अधिक कार्यकर्ता। तुलसी के हृदय में क्रान्ति-

कारी वेदना उठी सही, पर उतने ही से काम नहीं बन सकता था ; अतः उन्हें यह चिंता होना स्वाभाविक थी कि वे किस तरह क्रान्तिकारी भावनाओं-वाला दल उत्पन्न करें। सब से पहले उन्होने डरे हुए हृदयों में निर्भीकता भरने का साधन प्रस्तुत किया। फिर जन-सम्पर्क के द्वारा कर्त्तव्य की ओर रुझान (झुकाव) उत्पन्न किया। तत्पश्चात् जन-समाज में विस्तृत रूप से कर्त्तव्य-भावना को जाग्रत करना आवश्यक समझा गया। इसके लिए उन्होंने बौद्धिक दृष्टि से मानव-समाज को तीन विभागों मे विभक्त किया, यथा—(१) निपट गँवार अथवा निराट मूर्ख (२) कुछ समझदार और (३) शिक्षित समझदार। इन तीन वर्गों के लिए उन्होंने तीन प्रकार के साधन निकाले। विराट मूर्खो को राम के कर्त्तव्यों का प्रदर्शन करके बताना, अर्थात् रामलीला करना या कराना; सामान्य समझवालों के लिए प्रवचन करना अर्थात् राम कथा कहना; और शिक्षित समझदारों के लिए सरल भाषा में विविध विषयों पर ग्रन्थों की रचना करना।

(१) रामलीला (प्रदर्शन) द्वारा

यों तो रामलीलाओं का प्रदर्शन आज भी प्रतिवर्ष दशहरे के समय अनेक स्थानों पर किया जाता है। कभी-कभी कहीं-कहीं पर दशहरे के पहले या बाद मे भी वर्ष-काल के किसी भी समय पर राम-लीलाएँ कराई जाती है; परन्तु इनमें से अनेक तो भड़ैती रहती है, और कुछ थोड़ी ऐसी रहती है, जो कुछ लोग चन्दा एकत्र करके उसके बल पर करते है। गरज यह कि प्रायः सभी, धन-राशि पर दस-पन्द्रह दिन तक जीवित रहती हैं और मनो-रंजन करके समाप्त हो जाती है। और तो और, उन्हें कई मनचले लोग बहुधा विषयाशक्ति के स्थल बना लेते हैं ; इसलिए वे कर्त्तव्य-शिक्षा के क्षेत्र न बन-कर उल्टे द्रव्य-लिप्सा, क्रीड़ा, मनोरंजन एवं विषयाशक्ति के स्थान बने हुए दिखाई देते हैं। कहाँ तुलसीदास ने रामलीला-प्रदर्शन इसलिए प्रारम्भ किया था, कि मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी लोक-कर्म की यथार्थता को समझ सके और कहाँ यह व्यर्थ का आडम्बरी खेल बन पड़ा है। जो भी हो, हमारा अभि-

प्राय केवल तुलसी की उसद्दूरदर्शिता को बताने का है, जिसके कारण उन्होंने अपनी अध्यक्षता में राम-कथा से सम्बन्धित प्रसंगों का रामलीला के रूप मे प्रदर्शन करना इस हेतु से प्रारम्भ किया कि जिससे निरक्षर मूर्ख जनता भी समाज के अधर्माचरणों के प्रति जागरूक होकर उनकी क्रान्ति में यथासम्भव योग दे सके अथवा उसके प्रति उसकी सहानुभूतिपूर्ण भावना ही जाग्रत हो उठे।

(२) राम-कथा (प्रवचन) द्वारा

इसी तरह राम-कथा पर प्रवचन भी हमें अनेक स्थानों पर सुनने को मिलते है ; पर प्राय: उन सब की तह में मुद्राओं की ही झंकार रहती है, सहृदयी सेवा की भावना नही। उन मे हृदय मे ठेस लगे हुए तुलसी की न तो वह वेदना रहती है, और न वह कर्त्तव्य-परायणता की पुकार, जो तत्कालीन अधर्माचार ने उनके अन्तस्तल में कूट-कूट कर भर दी थी। तुलसी रामलीला करते थे और राम-कथा भी कहते थे, इस मे कोई दो मत नहीं। उनका नियम था कि वे जब अपने आश्रम मे रहते थे, तब वहाँ भी लोगों को राम-कथा सुनाते थे। श्रोतागण भी उन की राम-कथा सुनने पर्याप्त संख्या में एकत्र हुआ करते थे। राम-कथा कहते समय प्रसंगानुसार उनके प्रवचन भी बड़े रोचक और शिक्षाप्रद होते थे। हमारी नजर में तो इस समय ऐसा आ रहा है कि मानो सौम्य स्वरूप तुलसी श्रोताओं के एक भारी समूह के समक्ष हिन्दू-समाज की विविध क्षेत्रीय हृदय-द्रावक हीनता और मुसलिम समाज की दुखद दुर्नीति का अपने करुणा-भरे प्रवचनों द्वारा एक ऐसा चित्र खींच रहे हैं कि उन श्रोताओं में से अनेक के नेत्रों से आँसू झलक उठे है। यदि यह कहा जाय कि समय पाकर यही आँसू-भरे लोग तुलसी के साथी बनकर अथवा उनकी योजना के प्रति सहानुभूति रखकर स्वयं समाजोत्थान मे भाग लेनेवाले बनते जाते थे और दूसरों को बनाते थे, तो कुछ गलत न होगा।

प्रवचन का रूप देखने में तो प्राय: हमारे चिर-परिचित व्याख्यानों-जैसा ही होता है; पर आधार की दृष्टि से दोनों के बीच कौड़ी-मोहर का अन्तर

रहता है। प्रवचन में लोक-कर्म को नियंत्रित रखने के लिए ईश्वर, सत् अथवा निरहकार का प्राधान्य रहता है, जब कि व्याख्यानो मे बहुधा मानव-मन-बुद्धि अथवा अहंकार का प्राधान्य बर्ता जाता है; इसलिए मानवता के शिक्षण की दृष्टि से प्रवचनों का मूल्य व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक होता है। चूँकि ईश्वरत्व की भावना की उपेक्षा की जाने के कारण व्याख्यान बहुधा जन-समूह को गलत मार्ग पर ले जानेवाले होते है, इसीलिए हमारी समझ में गाँधीजी ने अपने अन्त-काल के कुछ वर्षों पहले से प्लेटफार्मी व्याख्यानों के स्थान में सामूहिक रूप मे प्रार्थनाएँ करने की पद्धति प्रारम्भ की, और वहीं पर ईश्वर की प्रतीति के समक्ष निरहकार-भावना से देश-विदेश में व्याप्त समस्याओं की चर्चा भी की जाने लगी। यह प्रथा गाँधीजी ने अपने अन्त समय तक निबाही और अब उसका पालन उनके सच्चे शिष्य विनोबा भावे भी नित्य-प्रति करते जा रहे हैं। तुलसी के राम-कथा पर आधारित प्रवचन बहुत-कुछ इन्हीं सामूहिक प्रार्थनाओं के समान समझना चाहिए।

(३) साहित्य-रचनाओं द्वारा

तीसरे वर्ग के उन समझदार लोगों के लिए जो पढ़े-लिखे थे, तुलसी ने उपयुक्त साहित्य का निर्माण किया। उन्होंने विविध विषयों पर विविध छन्दों और गीतों मे रचनाएँ कीं। इसका मूल कारण यह है कि पढ़े-लिखे लोगों में भी भिन्न-भिन्न रुचि के लोग हुआ करते हैं। ये पढ़े-लिखे लोग स्वय तो पढते ही हैं; पर भिन्न-भिन्न रुचि के दूसरे लोगों को भी पढकर सुनाया करते है। इसलिए, तुलसी ने विविध विषयों पर भिन्न-भिन्न छन्दो में अपनी साहित्यिक रचनाएँ की, जिससे पाठक और श्रोता दोनों अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एक-सा लाभ उठा सकें। इसी कारण एक ओर हमें मनोरंजक गीतवाला 'राम-लला नहछू' ग्रन्थ मिलता है, तो दूसरी ओर सगुन बताने वाला 'रामाज्ञा प्रश्न'; एक ओर वरदायक 'हनुमान-चालीसा' 'हनुमान-बाहुक' मिलते हैं, तो दूसरी ओर तत्त्वज्ञान से भरी हुई 'कवितावली'

'विनय-पत्रिका' तथा 'वैराग्य-संदीपनी' की रचनाएँ देखने में आती हैं; परन्तु जिन्हें एक ही स्थान पर सब रस पाने की इच्छा हो, वे सब रसों की खान केवल 'मानस' का ही आश्रय ले सकते है। तुलसी की रचनाओ मे एक विशेषता यह है कि यद्यपि उन्होंने विविध विषयों पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखे हैं, तथापि उन सब का मूलाधार रखा गया है, उनका एक वही राम, जिसे हमने त्रिभावात्मक कहकर बताया है। इसका कारण है और वह यह है कि तुलसी के मत मे ईश्वर और लोक का अमिट सम्बन्ध है, और यही द्विविधा-सम्बन्ध का पालन, उनके मत मे मानव-जीवन की परिभाषा है। इसी अभिप्राय से उनके समस्त साहित्य का सृजन हुआ है और इसी अभिप्राय की पूर्ति के के लिए उन्होंने विद्वन्मण्डली को अपने उस साहित्य द्वारा उद्दिष्ट क्रान्ति के पथ पर अहिंसात्मक विधि से कर्तव्यारूढ होने के लिए आह्वान किया, क्योंकि उक्त द्विविधा-सम्बन्ध पालनेवाले मे प्रेम की प्रेरणा का होना तथा अहिंसा-वृत्ति का आ जाना स्वाभाविक ही होता है।

क्रान्ति का कार्यारम्भ और तुलसी को दण्ड

जब सामान्यत: कर्तव्य-भावना जग उठी और कुछ लोग कर्त्तव्यारूढ हुए पाए जाने लगे, तब तुलसी ने समाज के उन सभी क्षेत्रों में कार्य प्रारम्भ कर दिया, जहाँ जहाँ उन्हे संशोधन की आवश्यकता दिखती थी। हर क्षेत्र में उनके ये नव सैनिक अपनी-अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कार्य करने मे जुट गये। कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था के अनुसार लग गये, तो कुछ आश्रम-व्यवस्था की ओर झुक पड़े। कुछ हिन्दू-मुसलिमों में परस्पर प्रेम बढाने मे लग गये, तो कुछ माता-बहनों ही की रक्षा करने लगे। किन्हीं ने दीन-दरिद्र लोगों की ओर ध्यान दिया, तो किन्हीं दूसरों ने धनी-मानी लोगों का ध्यान अपने मान-मर्यादा को बचाने की ओर आकर्षित किया। सारांश यह, कि क्रान्ति का अहिंसापूर्वक कार्य सब ओर यथावकाश और यथाविधि प्रारम्भ हो गया। संसार का यह एक विचित्र नियम है कि जब कोई किसी क्षेत्र की प्रचलित पद्धतियों में सशोधनार्थ जी-जान से जन-सेवा करने लगता है, तब उसे उसी

जनता का कोप-भाजन भी बनना पड़ता है। तुलसी पर भी वह बीते बिना न रह सका।

(१) राजदण्ड

राजनीतिक क्षेत्र मे कुछ कार्य हुआ या नही, और हुआ तो क्या हुआ, इस विषय मे लोगों के मन मे काफी सन्देह है। यों तो राजनीतिक क्षेत्र अन्य मानवीय क्षेत्रों से इस तरह गठित रहता है कि यदि अन्य क्षेत्रों में कार्य किया जाय, तो राजनीतिक क्षेत्र पर भी उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुछ-न कुछ प्रभाव अवश्य पड़े बिना नहीं रहता। फिर भी हमको तुलसी की जीवनी में एक ऐसी घटना का उल्लेख मिलता है कि उसको देखकर हमारे मन में यह एक तीव्र कल्पना उठती है कि तुलसी निस्सन्देह अपनी क्रान्तिकारी कार्यवाहियों के कारण राज-दरबार की नजरों मे बुरी तरह से खटकने लगे थे।

घटना यह बताई जाती है कि एक बार तुलसी ने एक मुर्दे को जिला दिया था। तब मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि कुछ करामात दिखलाइए। इन्होंने कहा कि 'मैं सिवाय राम-नाम के और कोई करामात नहीं जानता।' बादशाह ने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि 'जब तक करामात न दिखाओगे छूटने न पाओगे।' तुलसीदासजी ने हनुमानजी की स्तुति की। हनुमानजी ने बदरों की सेना से कोट को विध्वस्त कराना आरम्भ किया, और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि 'अब मेरी रक्षा कीजिए।' तब फिर गोसाईंजी ने हनुमानजी से प्रार्थना की और बन्दरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईंजी ने कहा कि अब इसमें हनुमानजी का वास हो गया, इसलिए इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने वैसा ही किया।[७]

तुलसी-ग्रन्थावली (खड ३) की प्रस्तावना के परम प्रसिद्ध लेखक रामचन्द्र शुक्लजी उक्त वार्ता का उल्लेख करने के पश्चात् उसके विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं—"जान पड़ता है कि दिल्ली

---

७. तुलसी-ग्रन्थावली (खण्ड ३) प्रस्तावना, पृ० ४२–४३।

के नये किले के बनने पर पुराने किले में बन्दरों का डेरा डालना और कोट को तहस-नहस कर देना देखकर ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी सम्भव है कि जहाँगीर ने उन्हे बुलाया हो और कुछ दिनों कैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० मे हुई, और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसीने नई दिल्ली (शाहजहाँबाद) बसाई और किला बनवाया।"[८]

घटना सत्य है, या महात्माओं के कार्यों पर चमत्कारिता का रंग चढाने वालो की कोरी कल्पना अथवा अतिशयोक्ति, कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिस तरह अनुमान लगाकर शुक्लजी ने उस पर सत्यारोप करके बताया है, उसी प्रकार हमें भी उसमें पूर्ण नही, तो अशंतः सचाई अवश्य जँचती है। उसे सच मानने का हमारा कारण शुक्लजी के कारणों से कुछ दूसरा ही हैं। हमारे बताये हुए कारण मे पाठक देखेगे, ऐतिहासिक तथ्य की विशेष झलक है।

वार्ता से यह पता नहीं लगता कि किस बादशाह ने किस किले मे, कब और कितने दिनों तक तुलसी को कैद कर रखा था। उससे केवल कैद होने और छूटने के ही कारण मालूम होते हैं, जिनकी सचाई मे सन्देह है। शुक्लजी ने इन कारणों के विषय में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया, केवल कैद होने की सम्भावना बताई है।

यदि कैद होना सच है, तो यह भी निस्सन्देह है कि तुलसीदासजी को आगरे के किले में रखा होगा, क्यों कि उनके मृत्यु-काल तक न नई दिल्ली (शाहजहाँबाद) बसाई गई और न वहाँ नया किला बनाया गया। उस समय आगरा ही बादशाहत की राजधानी थी।[९] दूसरा प्रश्न यह है कि कैद अकबर

---

८. तुलसी ग्रन्थावली (खण्ड ३) प्रस्तावना, पृ० ४२–४३।

९. नई दिल्ली का बसाया जाना, लेनपूल के कथनानुसार, सन् १६३८ (सं० १६९४) में प्रारम्भ हुआ और सन् १६४८ (सं० १७०४) में समाप्त हुआ। (Lane-Pool as Mediaeval India, P. 340)

ने किया या जहाँगीर ने ? शुक्लजी ने जहाँगीर की सम्भावना बताई है। हमें अकबर की सम्भावना प्रतीत होती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यदि हमारी स्मृति हमें धोखा नहीं देती, तो याद पड़ता है कि लगभग ४०-४५ वर्ष पहले हम अपने विद्यार्थी-जीवन काल में यह पढ़ा करते थे कि तुलसी को अकबर ने कैद किया था ; परन्तु दूसरा कारण राजनीतिक सम्भावना है, जिसका स्पष्टीकरण अभी आगे चलकर किया जायेगा। तीसरा प्रश्न है, कैद की घटना कब घटी ? इसका भी अनुमान लगाकर सम्भावित समय बताना कठिन है। यदि मुर्दा जिलाये जाने की वार्ता का ही समय निश्चित होता, तो भी इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाना सम्भव हो जाता। फिर भी जब यह मान लिया जाय कि अमुक बादशाह ने कैद किया, तो कैद करने का समय भी प्राय. जाना जा सकता है। चौथा प्रश्न है, कितने दिनो तक कैद रहे ? इस विषय पर भी कुछ नही कहा जा सकता पाँचवाँ प्रश्न है कि क्या वार्ता मे वानरों की बात बिलकुल मनगढ़न्त है, जैसा कि शुक्लजी की इस युक्ति से विदित होता है कि नया किला बन जाने पर पुराने किले की बन्दरों द्वारा बरबादी की जाने के कारण यह बात प्रसिद्ध हो गई है ? इस तर्क में भी हमें तथ्य नही दिखता। बादशाही निवास हट जाने पर भी आगरा के किले तथा उसके अन्दर स्थित बादशाही भवनों आदि के रक्षण के लिए पर्याप्त सेना या राज-सेवक रहते होंगे। छठवाँ प्रश्न है कैद होने और छूटने का कारण, सो करामात की बात इसलिए नहीं जँचती कि करामात देखने का इच्छुक सब से पहले तो करामाती की सेवा-सुश्रूषा कर देखने का प्रयत्न करता है, और जबरदस्ती करके देखें भी, तो देखने पर वह उसका भक्त बन जाता है। यह न अकबर ने किया न जहाँगीर ने। फिर, तुलसी-जैसे सुदृढ मनुष्य क्या भय-भीत होकर कैद से छुटकारा पाने के हेतु या बादशाह को करामात् दिखाकर प्रसन्न करने के लिए अपने इष्टदेव हनुमान का आह्वान कर उन्हे कष्ट देना उचित समझते। इसलिए, हमारी समझ में कैद कराने या छूटने का कारण इससे अधिक गम्भीर और तथ्यमय होना चाहिए, फिर चाहे कैद अकबर ने किया हो, या जहाँगीर ने ही।

यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है, जिसे सब इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते है कि तुलसी ने कभी राज-दरबार या राज-दरबारियों के चक्कर नही काटे। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते है कि "अकबर बादशाह को हिन्दी काव्य और संगीत मे बहुत ही अधिक रुचि थी, और उसकी सहिष्णुता के कारण देश के सब भागो मे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवि और गायक राज-दरबार आने के लिए आकर्षित रहते थे।[१०] परन्तु "तुलसी कभी राज-दरबार नही पहुँचे, और न उन्होंने अपने किसी ग्रन्थ मे तत्कालीन शासन की चलती दृष्टि से भी कोई चर्चा की।"[११] यही कारण प्रतीत होता है कि "तुलसीदास का कोई जिक्र आईन-ए-अकबरी, अकबर नामा अथवा तत्कालीन किसी अन्य मुसलिम वृत्त-विवरण (chronicle) में नहीं किया गया है।"[१२] तुलसी यह करते ही कैसे ? राजा, राज-दरबार और राज-दरबारियों की चाटुकारिता करते या कि उन में प्रविष्ट अनर्थों एवं उनके शासनकालीन दोषों को निकाल फेंकने में लगते ? ये दो असगतियाँ एक ही साथ कदापि नहीं सम्हाली जा सकती थी। तुलसी सूरदास आदि जैसे निरे कवि और भक्त नहीं थे, जो राज-दरबार के कृपापात्र बनकर रह लेते। वे थे कवि और भक्त के अतिरिक्त राज और समाज की खराबियों को मिटाने के लिए कमर कसे हुए डटे रहने वाले वीर भी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि [illegible] के नाते इने-गिने दो-तीन राज-दरबारियो को छोड़ तुलसी सभी राज-दरबारियो, बादशाह और उनके सभी मुँहलगे लोगों आदि की नजरों मे खटकने लगे थे। ज्यों-ज्यों उनका पूर्वोक्त कार्य-क्रम फैलता गया, त्यों-त्यों वे शत्रु के रूप मे देखे जाने लगे। अन्त मे जब बादशाही दरबार को यह पता लगा कि अनेक लोग तुलसी के साथी हो रहे है और जनता मे उथल-पुथल मचाई जा रही है, तो

---

१०. History of India, P. 901.

११. वही, पृ० ९०३।

१२. वही, पृ० ९०३।

तुलसी को राजनीतिक बन्दी बना कर आगरा के किले में रख छोड़ा। जब तुलसी के उन अनुयायियों ने, जो उनकी क्रान्ति मे भाग लेने लग गये थे, अथवा अन्यान्य सहयोगियों ने यह देखा कि उनके सांस्कृतिक नायक तुलसी बन्दी बना लिये गये हैं, तब इधर-उधर से एकत्र होकर सहस्रों की सख्या मे किले के आस-पास अथवा सम्भवत: किले के भीतर ही उन्होने तुलसी-दासजी को मुक्त करने के नारे लगाना प्रारम्भ किये अथवा दूसरे ही प्रकार से माँग की। इस उत्पात को देख कर जाँच-पड़ताल करने पर जब तुलसी अपनी अहिंसात्मक साधुवृत्ति के कारण निर्दोष पाये गये, तब बादशाह ने उन्हें मुक्त कर दिया। यही हमे अधिक तर्क-संगत और सम्भाविल प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि इस अनुमान मे वानरो के उत्पात की बात कहीं नहीं आई, इसलिए यह अमान्य ही ठहराया जाने योग्य है, तो हमारा उत्तर यह है—

अंग्रेज-सरकार के द्वारा निर्मित एक प्रामाणिक ग्रंथ के आधार पर सब से पहले तो यह निश्चय हो जाता है कि तुलसी एक निरा साधु नही था, वह एक जीता-जागता मानव ही था। ...वह अपने देश के लाखों मूक मानवों का प्रिय था।....वह बहुत दूर-दूर तक घूमा था, जिससे अनेकों बड़े-बड़े आदमी उसके मित्र बन गये थे।....इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि वह अनूठे कवि के अतिरिक्त एक व्यग्र संशोधक (Enthusiastic Refomer) भी था।[१३] फिर इसी ग्रन्थ मे यह स्वीकार किया गया है कि तुलसी के पीछे चलनेवाले सैकड़ों मनुष्य थे।" (Tulsidas had hundreds of followers)[१४] आज जब सैकड़ों वर्ष पीछे जिसके सैकड़ों ही नहीं लाखों अनुयायी हों, तो उसी के अपने जीवन-काल में सैकड़ों साथी रहे होगे, इसमें सन्देह नही है। इन्हीं सैकड़ों साथियों या अनुयायियों

---

१३. Imperial gazetter of india (Vol. 2) P 419 Edition 1909

१४. वही, पृ० ४२०।

द्वारा बादशाह के सामने विरोध-प्रदर्शन की बात हमने ऊपर बताई है। सम्भव है राम-कथा से सम्बन्धित होने के कारण तुलसी ने स्वयं अपने ऊपर प्रेमपूर्वक श्रद्धा रखनेवाले इन अनुयायियो के यूथों को बानर-सेना नाम पहले से दे रखा हो। अथवा यह हो सकता है कि तुलसी के साथ उनकी स्नेहमयी चांचलिक सहकारिता के कारण राम-कथा के आधार पर किसी विरोध-पक्षवाले अथवा बादशाह ने स्वयं उन्हें व्यंग्य (Nic-Kname) रूप से बन्दर कह डाला हो। बानर शब्द का अर्थ बन्दर करना, सच पूछा जाय तो ऐतिहासिक यथार्थता का गला घोंटना है। ऐतिहासिक यथार्थता तो हमें इसी मे दिखती है, जैसा हम पूर्व मे कह आये है, कि वह भारत के मध्य भाग (विन्ध्य-प्रदेश) में रहने वाली एक आदिवासी अनार्य जाति थी।[15] कोई कहते है उनका स्वरूप बन्दरो जैसा था, कोई कहते है कि उनका ध्वजा-चिन्ह बन्दर का था, और कोई कहते है कि बानर (बन्दर) पशु के पूजक थे, इसलिए वे बानर नाम से प्रसिद्ध हो उठे थे।[16] नामकरण हम आप सभी जानते है, प्राय: पूर्वकाल मे प्रचलित नामों के आधार पर हुआ करता है। अभी कुछ वर्ष पहले २५-२६ की बात है, जब भारत में स्वराज्य का आन्दोलन चल रहा था तब गांधीजी ने उस आन्दोलन के कुछ विशेष प्रकार के नवायु सहायकों को 'बानर-सेना' का नाम दे रखा था। यह नाम सम्भव है, उन्हे राम-कथा के बानरों की राम-भक्ति, सहकारिणी चेष्टाओं, तथा वैयक्तिक छापामार (छुट-पुट) चांचलिक प्रवृत्तियों को देखकर ही सूझा हो। ऐसे ही कुछ कारणों से यदि तुलसी ने भी अपने कुछ विशिष्ट-अनुयायियों को बानर-वर्ग अथवा बन्दर-वर्ग ही सही, कहा हो तो कुछ आश्चर्य की बात नही। इसलिए जब हम चमत्कार-दृष्टि को त्याग कर व्यवहार-दृष्टि से उक्त कैदवाली वार्ता का अवलोकन करते हैं तब हमे उसका यही रूप दिखता है कि जब तुलसी की क्रान्ति का कार्यक्रम जन-समाज में बढ़ता

---

१५. राम-कथा, पृ० ११७।

१६. वही, पृ० ११७।

हुआ दिखा अथवा जब क्रान्ति मध्याह्न-सी तपने लगी, तब लोगों में सनसनी फैली और उसकी खबर बादशाह के कान तक पहुँची । यह बादशाह अकबर ही होना चाहिए, क्यों कि उसी के राज्यकाल (१५५६-१६०५ ई०) में तुलसी का जीवन २४ वर्ष की अवस्था से ७३ वर्ष तक की अवस्था तक, जो क्रान्ति का उठता हुआ समय था, व्यतीत हुआ था । अतः बादशाह ने उसके कार्य-क्रम के नेता तुलसी को गिरफ्तार कर बन्दी बना लिया । परन्तु, तुलसी की लोक-प्रियता उस समय तक इतनी बढ चुकी थी कि उनके सहस्रों भक्तों ने बादशाह के उक्त कार्य का विरोध किया, जिसके फलस्वरूप स्वय सोच-विचार कर अथवा तुलसी के चाहनेवाले राज-दरबारियों की सलाह से बादशाह को उन्हें बन्धन से मुक्त कर देना पड़ा । यदि मुक्त न किया होता, तो सम्भव था विशालरूप में राज-विद्रोह उठ खड़ा होता । अहिंसा-प्रधान गांधी-आन्दोलनों तथा उनके कारण गांधी का बार बार बन्दी बनाये जाने एवं जन-विरोध-प्रदर्शन के कारण उनके मुक्त किये जाने की घटनाओं को देख चुकने के पश्चात् तुलसी से सम्बन्धित उक्त वार्ता की सत्यता में हमें तो कोई सन्देह दिखाई नहीं देता । यह दूसरी बात है कि तुलसी को न समझने वाले, चमत्कार-प्रिय, राज-भय से संशकित उनके किसी भक्त ने उस वार्त्ता पर वैसा ही रग पोत कर उसे अविश्वसनीय बना दिया है, जैसा कि संसार के सभी महान् पुरुषों की महानताओं का प्रदर्शन करने के लिए ये चमत्कार-प्रिय अन्ध-भक्त किया करते है । इन चमत्कार-प्रिय भक्तों ने कुछ निरी कल्पित और कुछ अतीवतापूर्ण बातें जोड़, तुलसी की जीवनी को अव्यवहारिक बनाकर उनके प्रति अन्याय ही किया है । इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषों के कोई कार्य चमत्कारक होते ही नहीं । जन-साधारण को उनके कृत्यों मे चमत्कार दिखाई देना तो स्वाभाविक है ही ; पर उनको प्रकाश मे लानेवाले विद्वान् पुरुषों को चाहिए कि वे उनका चित्रण इस प्रकार करें कि अन्य लोगों को उसकी सत्यता में कोई भ्रम उत्पन्न न हो सके, जैसा गीता में कहा गया है—'न बुद्धि भेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।'[१७]

---

१७. गीता ३।२६।

(२) **समाज-दण्ड**

इधर तुलसी को राज-दण्ड दिया गया, तो समाज-दण्ड से भी वे न बच सके। समाज-दण्ड राज-दण्ड से भिन्न होता है। तिरस्कार और अपमान समाज-दण्ड के प्रधान अंग रहते है। इसलिए समाज के जिस-जिस विभाग की प्रचलित प्रथाओं मे वे परिवर्तन करने की चेष्टाएं करते थे, उस विभाग के पुरानी लकीर के फकीर उन्हें अपने कटु वचनों तथा दुर्व्यवहार द्वारा तिरस्कृत, बहिष्कृत अथवा दूसरे प्रकार से अपमानित करने मे कसर नहीं रखते थे। पुरानी लकीर की फकीरी का विशिष्ट साम्राज्य देखने को मिलता था, हिन्दुओं की जाति-पाँति और छुआ-छूत की कट्टरता में। तुलसी के कतिपय कथनों से विदित होता है कि यही लोग उन्हें विशेष बुरी दृष्टि से देखते थे और उनके प्रति दुर्व्यवहार करते एवं अपमानपूर्ण दुर्वचन कहा करते थे; परन्तु अपने इष्ट के सच्चे भक्त होने के कारण, अथवा दूसरे शब्दों में अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण वे ऐसे लोगो से साफ-साफ यह बता दिया करते थे कि हमे तुम्हारे व्यंग्य, दुर्व्यहार आदि की कुछ परवाह नही है। हमे किसी से अपने लिए कुछ लेना-देना नही है, हमे तो अपना कर्त्तव्य करते रहना है, इत्यादि। इस सम्बन्ध में तुलसी के निम्न उद्‌गार उदाहरणो के रूप मे पठनीय हैं--

(१) **लोग कहैं पोचु सो न, सोचु, न संकोचु,**
मेरे ब्याह न बरेखी, जाति पांति न चहत हौं।
× × ×
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।।[१८]

(२) **धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।**
काहू को बेटो सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति न बिगारौं सोऊ।
'तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछु कोऊ।
× × ×

---

१८. **विनय-पत्रिका ७६।**

लैबे को एक न देबे को दोऊ ॥[१९]॥

(३) मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोउ काम को, न हौं काहू के काम को ॥

× × ×

साधु कै असाधु कै, भलो कै पोच सोच कहा,
का काहु के द्वार परौ ? जो हौं सो हौं राम को ॥[२०]

(४) कोउ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोउ कहै राम को गुलाम खरो खूब है,
साधु जानै महासाधु, खल जानैं महा खल,
बानी झूठी सांची कोटि उठत हबूब है।
चाहत न काहू सौं, न कहत काहू की कछु,
सब की सहत उर अंतर न ऊब है ॥[२१]

तुलसी के उक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने इष्ट 'सकल-राम मय जानि' के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा के हेतु सब कुछ सहन कर सकते थे। वे जीवन पर्यन्त कर्त्तव्य-पथ से विचलित नही हुए, न उनका कभी मन ऊबा और ना उन्होंने कभी आवेश-वश विनम्रता और साधुता के स्थान में उद्दण्डता या उग्रता ग्रहण की। इसके विपरीत वे प्रीति-वश सदा मन मे प्रसन्न ही रहते थे—'प्रीति की प्रतीति, मन मुदित रहत हौं।'

---

१९. कवितावली, उ० कां; १०६।
२०. कवितावली, उ० कां० १०७।
२१. कवितावली, उ० कां० १०८ (हबूब=बुलबुले)।

: १२ :

तुलसी की क्रान्ति के परिणाम और निष्कर्ष

समीक्षकों में परिणामवादियों का आधिक्य

जब कोई आलोचक किसी भूतकालीन मनुष्य की आलोचना करने बैठता है, तब वह उपलब्ध साहित्य में उसके कर्मो को टटोलता है। फिर वह उन कर्मो के कारणों और परिणामों पर अपनी दृष्टि दौड़ाता है। तत्पश्चात् वह उन परिस्थितियों का निरीक्षण करता है, जिनके अन्तर्गत कर्ता को कर्म करने पड़े और कर्म-फल बने । इन सब बातों को भलीभाँति तौल लेने पर ही वह कर्ता के सम्बन्ध मे अपना विचार निर्धारित कर यह बताने का साहस करता है कि वह समाज-सेवक कहा जाने योग्य था या नहीं । परन्तु इस तरह के समीक्षक प्राय: कम ही हुआ करते है । वे साधारण पुरुषों की नाईं उसके केवल कर्म-फलों को देखकर अपना मन्तव्य स्थिर कर डालते है । यदि उन्हें परिणाम अच्छा दिख गया, तो उनकी दृष्टि में कर्ता ऊँचा बढ गया, और बुरा दिख गया या कुछ नहीं दिखा, तो वह नीचे गिर गया। इस प्रकार की दूषित समीक्षा के कारण संसार का इतिहास अधूरा और गन्दा हो रहा है। एक तो, कई सच्चे-सेवकों का नाम ही उसमें नहीं आ पाता; और दूसरे, कुछ निम्नस्तरीय लोगों को उच्चकोटि में तथा उच्चस्तरीय लोगों को निम्नकोटि में बिठा दिया जाता है ।

तुलसी की समीक्षा पर एक चलती नजर

तुलसी की समीक्षा भी पहले कई लोगों ने इसी प्रकार से प्रारम्भ की और उन्हें विस्मृति के बस्ते में बाँध रखा, क्योंकि तुलसी ने राज-दरबारियों आदि जैसे श्रीमानों की वाह-वाह लूटने की चिन्ता कभी नहीं की। कुछ

समय बाद जब आइनए अकबरी, अकबर नामा जैने ग्रन्थों के लेखक तथा उन्ही के समान अन्य लेखकों, आलोचकों का समय निकल गया, तब तुलसी कुछ-कुछ प्रकाश मे आये ; परन्तु फिर भी सूरदास आदि से निम्न-स्तरीय ही देखे गये, और वह भी केवल कवि के रूप मे, मानव के रूप में नहीं। तदनन्तर कही सैकड़ों वर्ष पीछे वह समय आया, जब एक विदेशी समीक्षक जी० ए० ग्रियर्सन ने यह कहते हुए कि वह एक जीता-जागता मानव था (He was a man that had lived)[१] तथा वह एक व्यग्र सशोधक (enthusiastic reformer)[२] था, उन्हें उच्चस्तर पर ले जाना प्रारम्भ किया। उसके बाद अब वह समय आ गया, जब हमने उन्हें एक व्यवहार-कुशल विस्तृत क्षेत्रीय क्रान्तिकारी (A practical revolutionary of widened field) के रूप में देखना शुरू कर दिया है जैसा किसी पूर्वाध्याय में अन्य प्रसंग के समय हम कह आये है।

परिणाम-विषयक सैद्धान्तिक निदान

केवल कर्म-फलों की कसौटी पर कसकर तुलसी को परखनेवाले प्रथमकालीन समीक्षक यदि उन्हे ठीक-ठीक न परख सके, तो उनका दोष इतना ही है कि उन्होने कर्म-मीमांसा (Philosophy of action) पर ध्यान नहीं रखा। कर्म-से सम्बन्धित अन्य अंगों को छोड़ केवल कर्म-फलों पर ही विचार कर देख लीजिए कि विषय कितना गहन है। हर कर्म का कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य होता है, यह छोटे-बड़े सभी मानते है। परन्तु बहुत कम लोग ऐसे होते है, जो इस बात पर ध्यान रखते है कि कुछ परिणाम प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष होते है, तथा कुछ निकट-से-निकट समय पर प्रकट हो उठते हैं और कुछ अति दूर समय पर प्रकट होते हैं, यहाँ तक कि वे कर्ता की मृत्यु के उपरान्त भी अत्यन्त सुदूर काल मे प्रकट होते रहते है।

१-२. गत अध्याय में नोट की हुई वही Imperial gazetteer p.419

इस तरह काल-क्रम की दृष्टि से एक ही कर्म के जो अनेक कर्म-फल होते है उनमे से कुछ तत्कालीन, कुछ तत्काल के पश्चात् शीघ्र ही, कुछ उसके बाद कुछ देरी से दिखते हैं। इस तरह क्रम-बद्धतावश उनका तांता अत्यन्त दूर तक चलता रहता है। दृष्टान्त, 'क' ने 'ख' को मारा। 'ख' ने तत्काल 'क' को एक तमाचा गाल मे झाड़ा। 'ख' रोता हुआ अपने घर पहुँचा। थोड़ी देर में 'ख' के माता पिता आये और 'क' को गाली-गलोज किया तथा मारने भी दौड़े। दूसरे दिन 'क' के मां-बाप और 'ख' के मां-बाप के बीच खूब लाठियां चलीं। इसके पश्चात् मामला बढ़ता गया और कुछ वर्षो बाद 'ख' ने 'क' का कत्ल कर दिया, और 'ख' फांसी पर लटका दिया गया, दृष्टान्त की यह एक सक्षिप्त झलक है। परन्तु उसी से कर्म-फल-विषयक निम्न सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाता है।

(१) परिणामो का एक तांता-सा चलता है जो काल क्रम से प्रकट होता रहता है।

(२) परिणामों का भोक्ता केवल कर्ता ही नहीं होता, वरन् अन्य बहुत से लोग भी हो सकते है, अथवा यह कहिये कि समाज पर भी उनका प्रभाव पड़ता है।

(३) परिणामों की संख्या ज्यों ज्यों बढ़ती हुई अधिक विस्तृत होती जाती है, त्यों त्यों वे एक दूसरे से इस तरह गुथते चले जाते है कि सब के सब एक दूसरे के कारण, कार्य और फल बनते जाते हैं, और इसलिये जटिलता वश उनका प्रत्यक्षीकरण यथार्थ रूप में नहीं हो पाता।

(४) जो परिणाम जितने अधिक काल में उत्पन्न होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण होना उतना ही कठिन और असम्भव होता जाता है।

(५) अति सुदूर कालीन परिणामों का, चाहे वे कर्त्ता की मृत्यु के पूर्व प्रकट हुए हों या उसकी मृत्यु के पश्चात विस्मृतिवश मूल-कर्म से असम्बन्धित देखा जाना स्वाभाविक सा हो जाता है।

तुलसी के क्रान्तिपन की परख के लिए चार बातों पर ध्यान—

इसके अतिरिक्त अब किसी कर्मयोगी कृषक की ओर ध्यान ले जाइये, और देखिये कि उसके द्वारा यथाविधि कर्म किये जाने पर भी कभी कर्म-भूमि (पृथ्वी) की कठोरता और कभी बाह्य संयोगवश बीजोत्पत्ति के रूप में उसके कर्म का परिणाम या तो बिलकुल ही प्रकट नहीं हो पाता, या होता है तो अति क्षीण रूप मे। इस परिणाम-शून्यता या परिणाम न्यूनता को देखकर यदि कोई कृषक ही को यह कहने लग जाय कि वह कर्म-योगी नही है तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है? अतएव कर्म-शास्त्रियो ने व्यक्ति-विशेष की परख करने के लिए उसकी आन्तरिक भावना अर्थात् अन्तर्प्रेरणा की कसौटी को जो प्रधानता दी है वही ठीक है। उसी पर तुलसी ने 'तुलसी मन तैं जो बने, बनी बनाई राम' कहकर आग्रह किया है। इसलिए निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसी क्रान्तिकारी कर्मयोगी थे या नहीं, इसकी परख के लिये हमें निम्न लिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये।

(१) जिस भूमि या क्षेत्र पर उन्हें कर्म करना पड़ा वह कितना कठिन, जटिल या सुगम था?

(२) उनको अन्तःप्रेरणा कैसी थी, स्वार्थमयी या परार्थमयो?

(३) उन्हें कौन से संयोग प्राप्त हुए, बाधक या साधक, और कौन किस मात्रा में?

(४) उनके कृत्यों का परिणाम क्या, कितना, कब और किस रूप में हुआ?

प्रथम तीन विषयों का प्रत्यक्षीकरण तो पाठकों को विगत पाठों से इस तरह हो गया होगा कि (१) तुलसी की कर्म-भूमि संकुचित और सुगम नहीं थी, वरन् विस्तृत और कठिन थी; (२) उनकी अन्तर्भावना साधु-प्रधान परार्थमयी थी; और (३) उन्हें बाधक वा साधक दोनों प्रकार के संयोग मिले, परन्तु दीर्घकालीन रूढ़ियों और वैदेशिक दुर्नीतियों वा कुरीतियों

की गहरी जड़ें धस जाने के कारण बाधक संयोगों की अधिकता रही। अब रहा चौथा प्रश्न सो उस पर इस अध्याय में विचार करना शेष है।

चूँकि तुलसी की कर्म-भूमि जटिल और कठिन थी, और कर्म-संयोग अधिकतर बाधक थे, इसलिए कर्म-परिणाम शीघ्र स्पष्ट रूप से न देखे जाने के कारण प्रथमकालीन अनुसन्धानकर्ता भले ही तुलसी को केवल मालाधारी 'रामबोला' अथवा 'राम-स्याम-घन की चातक आस' वाला समझते रहे हों, परन्तु बाद के निरीक्षकों का, जिन्हें राज्य और समाज की गति-विधियों में सुधार के चिह्न प्रकट होते हुए दिखाई देने लगे थे, अवश्य ही यह कर्त्तव्य था कि वे पूर्व में निर्धारित उक्त धारणा को बदल कर सिद्ध करते कि तुलसी निरा भक्त नहीं था और न 'कठमलिया कर्मठ' वरन् वह था उच्चकोटि का कर्म-योगी। यों तो तुलसी की साहित्यिक रचनाओ, विशेष कर रामचरित मानस मे अध्ययनशील पाठक को इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते है, जैसा कि गताध्यायों में दिये हुए विवेचन से विदित हुआ होगा कि तुलसी यथार्थ में भक्ति-योग की छाप लगे हुए कर्म-योग के ही प्रकाशक थे। परन्तु जिन्हे न तुलसी की अन्तर्भावना से मतलब और न रचनाओं से उनके सन्मुख अब कुछ कर्म-परिणामो के ही प्रमाण प्रस्तुत करना लाभदायक होगा।

तुलसी के क्रान्तिकारी कर्म-परिणामों के प्रमाण—

हनुमान चालीसा वा हनुमत्पूजा द्वारा सामान्यतः निर्भीकतात्मक हिन्दूजन-जागृति—

गत अध्याय में यह बताया जा चुका है कि तुलसी ने हनुमत्पूजा और 'हनुमान चालीसा' के द्वारा सभय जनता में निर्भीकता का बीजारोपण कर दिया था। धीरे-धीरे ज्यो-ज्यों इन दोनों का प्रसार बढता गया त्यों त्यों जन-जागरूकता का प्रसार होता गया। 'रामाज्ञा प्रश्न' तुलसी की उन कृतियों में से है जिनकी रचनाओं का तुलसी द्वारा किया जाना सर्वसम्मति से स्वीकृत है। इस 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना सं० १६२१ (सन् १५६५) बताई

जाता है, जैसा हम तीसरे अध्याय में बता आये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना के पूर्व तुलसी 'रामलला नहछू' और 'वैराग्य सदीपनी' की रचनायें कर चुके थे। इसलिये अनुमानतः 'रामलला-नहछू' की रचना सन् १५६० रख ली जाय तो कोई विशेष भूल न होगी। परन्तु स्वीकृत रचनाओं के अतिरिक्त छोटी-बड़ी सब मिलाकर लगभग २० कृतियाँ ऐसी है जिन्हें तुलसी की रचनायें मानने में सन्देह किया जाता है। उनमें से 'हनुमान चालीसा' एक है। परन्तु हमने गत अध्याय मे उसे तुलसी ही की रचना बताई है, और यह कहा है कि वह सम्भवतः उनकी सर्वप्रथम रचना रही होगी। यदि सभी उक्त सन्देहात्मक रचनाएँ तुलसी की ही हों और उनका रचना काल 'रामलला नहछू' के पहले इसलिये मान लिया जाय कि उनकी भाषादि स्वीकृत ग्रन्थों की भाषादि से निम्नस्तर की है, तो हनुमानचालीसा की रचना 'रामलला नहछू' की रचना के कम से कम १५ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १५४५ के लगभग हुई होगी। उस समय तुलसी की अवस्था लगभग २२ वर्ष की रही होगी। हमारा यह अनुमान दो कारणों पर आधारित है। एक यह कि उस नवीन कार्य-कर्त्ता के लिए जिसे समाज में रहकर घर-बाहर की अन्य सामाजिक सेवाओं के करने में विशेष समय देना पड़ता था, २० ग्रन्थों के निर्माण करने मे १५ वर्ष से कम का समय बताना कुछ असम्भव सा प्रतीत होता है। दूसरा यह कि समाज-सेवा की भावना का स्फुरण प्रायः २०—२२ वर्ष के नबयुवकों मे बहुधा देखा जाता है। यों तो हनुमत्पूजा का प्रारम्भ तुलसी ने 'हनुमानचालीसा' के निर्माण के पहले ही से कर दिया होगा। किसी भी हालत में, हमारे पूर्वोक्त विचार-निर्धारण के अनुसार जब हनुमानचालीसा की रचना सन् १५४५ ही ठहरी और रामचरित मानस की रचना का प्रारम्भ स्वयं तुलसी के लेखानुसार सन् १५७५ (सं० १६३१) में हुआ तो यह निदान सहज ही निकल आता है कि तुलसी ने हनुमत्पूजा और हनुमानचालीसा का बीजारोपण मानस की रचना के ३० वर्ष पूर्व कर दिया था। धीरे-धीरे हनुमत्मन्दिरों में सैकड़ों हिन्दू एकत्र होने लगे और वहाँ धर्म और राजनीति से सनी हुई बातों पर

परस्पर चर्चाएँ चलने लगीं, अखाड़े खोलने की योजनाओं पर विचार किया जाने लगा तथा वही एवं अन्यत्र [illegible] के पाठ करते हुए सैकड़ों दिखाई दिये जाने लगे। इस तरह क्रान्ति का प्रसार करने वाले मानस-ग्रंथ की रचना समाप्त होते-होते तक हनुमत्पूजा और 'हनुमानचालीसा' के पठन-पाठन के कारण जनता मे पर्याप्त स्फूर्ति आ चुकी होगी, इसमे सन्देह नहीं। 'हनुमानचालीसा का प्रचार भले ही दक्षिण भारत मे अथवा अन्य प्रदेशों मे, जहाँ हिन्दी भाषा बोली-पढी नहीं जाती थी, न हुआ हो, पर हनुमान पूजा का महत्व भारत मे सर्वत्र ओर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

यदि यह शंका उठे कि क्या तुलसो के पूर्व हनुमान जी देव के रूप में नहीं पूजे जाते थे तो उसका समाधान यह है कि हनुमान पहले भी पूजे जाते थे, परन्तु तुलसी ने उसमें एक ऐसी विशिष्टता और नवीनता भरी कि मानो उसका प्रारम्भ उन्होने ही किया हो। यही तो उन्होंने राम और शिव के चरित्र-चित्रण के विषय मे भी किया है। यही सब प्रवीण लेखक और कर्मयोगी भी करते है। किसी पूर्व परम्परा पर एक नवीन रंग चढाकर उसे चित्ताकर्षक बना देने का काम ही हर क्रान्तिकारी को करना पड़ता है। आखिर तिलक ने भी तो पूर्व में प्रचलित गणेश-पूजन पर गणेशोत्सव का एक विशेष रंग ही चढाया था न? यही क्रान्तिकारी गांधी ने किया और वही अब विनोबा भावे वर्तमान काल में कर रहे हैं।

(१) राज्य क्षेत्रीय प्रमाण

(अ) दक्षिण भारत में

इधर जब हनुमत्पूजा और 'हनुमानचालीसा' के प्रभाव के कारण लोगों के मुख से उठते-बैठते 'जय बजरगबली, तोड़ दे दुश्मन की नली,' की ध्वनि गुंजार करने लगी, तब उधर उसे नियंत्रित रखने के अभिप्राय से तुलसी ने एक विधि सोची; और वह यह कि 'रामचरितमानस' की रचना में उसी हनुमान का चित्रण एक राम-पद-प्रेम में अनुरक्त विनीत सेवक के रूप में किया जाय। वही किया गया, और वह दुश्मनों की नली तोड़ने वाला बजरंग

धर्म-बद्ध-सशक्त हनुमान के रूप में झलकने लगा। इस प्रकार के धर्मवीर हनुमान की पूजा की प्रतिष्ठा बढते-बढते दक्षिण भारत में भी जाकर अंकुरित हो गई। वहाँ पर पहुँच उसने जाग्रत जनता में से उस वीर-रत्न शिवाजी (सन् १६२७-८०-ई०) को उत्पन्न किया, जिसने सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल में तुलसी की मृत्यु के केवल २२ वर्ष बाद ही सन् १६४६ में बीजापुर के सुल्तान के विरुद्ध टक्कर लेना शुरू कर दी। तत्पश्चात् वीर शिवाजी ने औरंगजेब जैसे शक्तिशाली सम्राट् के छक्के छुड़ाकर महाराष्ट्र-संघ का निर्माण कर दक्षिण मे अपने अधीनस्थ, सन् १६७४ ई० में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर डाली और निर्जीव हिन्दू जाति में सजीवता का पुनः संचार कर दिखाया।

शिवाजी में इस वीरता और राष्ट्रीयता को भर देने का श्रेय प्रायः एक मत से प्रधानतः उनके गुरु समर्थ रामदास को दिया जाता है। रामदास जी स्वयं राम और हनुमान के उपासक थे। स्वामी रामदास जी, डा० ईश्वरीप्रसाद के शब्दों में, न केवल धर्मोपदेशक ही थे, वरन् राष्ट्र-निर्माता भी थे।....वे अपनी सारी आत्मोत्तेजना और आत्माग्नि (Passions and fire) के द्वारा अपने शिष्यों को इसलिये प्रोत्साहित करते रहते थे कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग राष्ट्र-शक्ति की वृद्धि के कार्य पर अर्पित कर दें।....आखिरकार उन्हें अपनी इष्टपूर्ति के हेतु धीसम्पन्न शिवाजी मिल ही गया।"[३] इन्हीं समर्थ गुरु रामदास के विषय मे डा० दीक्षित लिखते है कि उन्होने "दक्षिणपथ के ग्राम-ग्राम मे मारुति-मन्दिर की स्थापना करके महात्मा तुलसीदास का अनुगमन किया है, इसे इतिहास प्रेमियों और अनुसन्धायकों को देखने, समझने और इसकी छान-बीन करने में प्रवृत्त होना चाहिये।"[४]

समर्थ रामदास का जन्म रामचरितमानस की रचना के लगभग २०

---

३. History of India पृ० ७४५–४६।

४. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ५०–५१।

वर्ष बाद सन् १५९८ ई० में हुआ और उनका देहान्त शिवाजी की मृत्यु के केवल एक वर्ष बाद सन् १६८१ मे हुआ।[५] इससे प्रतीत होता है कि रामदास जी अपने शिक्षण-काल ही मे तुलसी की हनुमत्पूजा और रामचरितमानस के विषय मे पर्याप्त सुन चुके होगे। उन्हे तुलसी की साधुता और कर्मठता के भी उसी समय से कुछ न कुछ समाचार मिलते रहे होंगे, क्योंकि भाषा-ऐक्य न होने पर भी दक्षिण भारत और उत्तर-भारत में भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ऐक्य तो था ही। समर्थ रामदास पर तुलसीदास का प्रभाव पड़ा, यह सुनकर सम्भव है, किसी भाई के अहंकार भाव को ठेस पहुँचे, और हमारे उक्त विचार का विरोध कर यह कहे कि यदि प्रभाव की बात ही करना है, तो यही क्यों न माना जाय कि उन पर वैष्णव-मती, मरहठी भाषी तथा महाराष्ट्र-वासी एकनाथ जी और तुकाराम जी का प्रभाव पड़ना अधिक सम्भव है, न कि तुलसीदास जी का जो न केवल उत्तर-विभाग के वासी ही थे, वरन् हिन्दी-भाषी भी थे। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि श्रीरामदास जी केवल तुलसी-मुहर छाप थे। न हम यही कहते कि उन पर किसी अन्य वैष्णव का प्रभाव नही पड़ा। मानव तो स्वकीय शक्तियों और परकीय प्रभावों का मिश्रण-मात्र हुआ ही करता है। उसका चित्तपट अनेक प्रभावों से रंजित होता ही रहता है। फिर भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें देखकर हमे यही प्रतीत होता है कि तुलसीदास के आचार-विचारों का ही रामदास जी पर विशेष प्रभाव पड़ा होगा। उन्हीं का यहाँ संक्षिप्त विश्लेषण कर लेना उपयुक्त होगा।

(१) सबसे प्रथम चारों के जीवन-कालों पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये। ईस्वी सन् के अनुसार वे इस तरह है—

---

५. नोट—यदि मानस की रचना का समय तीन-वर्ष रखा जाय तो रामदास का जन्म २० वर्ष बाद कहा जा सकता है। मानस का प्रारम्भ सन् १५७५ में हुआ था।

तुलसीदास —सन् १५३२–१६२३
एकनाथ —सन् १५२८–१५९८ }
रामदास —सन् १५९८–१६८० } [६]
तुकाराम —सन् १६०८–अज्ञात }

चूँकि एकनाथ का उसी वर्ष स्वर्गवास हो चुका था जिस वर्ष रामदास का जन्म हुआ था इसलिये रामदास को एकनाथ की प्रत्यक्ष जीवनी की अनुभूति वा प्रख्याति जानने का प्रत्यक्ष कोई अवकाश नहीं मिला। इसके विपरीत तुलसी से बहुत छोटे होने तथा बहुत काल तक उनके समकालीन होने के नाते उन्हें दूर रहते हुए भी तुलसी की प्रत्यक्ष जीवनी की आभा-रश्मियों का प्रकाश प्राप्त करते रहने का अवकाश था। यह सर्व स्वीकृत विषय है कि अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रभाव अधिक प्रभावोत्पादक होता है, जो रामदास जी के सम्मुख तुलसी की जीवनी के रूप में प्रस्तुत हो रहा था। अब रही तुकाराम जी की बात सो वे रामदास से १० वर्ष छोटे थे। इस १० वर्ष की जेठाई के कारण यह स्वाभाविक है कि जब तुकाराम को कुछ बौद्धिक शक्ति आई होगी उस समय तक रामदास जी (मान लीजिये जब वे २० वर्ष के थे तब) काफी प्रभावित हो चुके होंगे। इस तरह दोनों के ज्ञान मे उसी क्रम से घट-बढ मान लेना अतार्किक न होगा, विशेषकर इसलिए कि रामदास की गणना स्वाभाविक प्रगतिवान ज्ञानियों में थी, और तुकाराम की गणना केवल एक परिव्राजक भक्त (Wandering devotee) की थी। तुकाराम तत्कालीन शूद्र जाति के थे। छोटी सी दुकान-दारी करते थे। जब रोजगार-घन्धा में असफल रहे ओर कौटुम्बिक सम्बन्ध भी स्नेह-हीन हो गया तब वे वैरागी हो पण्ढरपुर के विट्ठल अथवा विठोवा के, जो कृष्ण के ही पर्यायवाची नाम थे, भक्त हो गये, और यहाँ-वहाँ भ्रमण करने लगे तथा अपने प्रभु के गुण-गान में 'अभंग' भजनों की रचना करते

---

६. सन् १९३३ ई० की महाराष्ट्र सांवत्सरिक, पुणें (काल गणना) तथा अन्य इतिहास के आधार पर।

रहे ।[७] तुकाराम जी जैसा भजनीक भक्त बनना एक बात है, और रामदास जी जैसा व्यवहारी भक्त होना दूसरी बात है । इस दृष्टि से तुकाराम का रामदास पर प्रभाव पड़ा होगा, यह मान्य नहीं हो सकता । हमे तो यहाँ तक प्रतीति होती है—सम्भव है हम भारी भूल करते हों—कि चूँकि एकनाथ जी की मृत्यु मानस-रचना की समाप्ति के लगभग २० वर्ष पहले नहीं हुई इसलिए वे स्वयं तुलसी की जीवनी या विचार-धारा से प्रभावित हो चुके थे । इसी कारण से, हमारी समझ में उन्होंने अपने कुछ ग्रन्थ हिन्दी (हिन्दुस्तानी) भाषा में रचे होंगे, जैसा कि डा० ग्रियर्सन सा० के इस वाक्य से ज्ञात होता है-- Eknath who wrote also in Hindustani.......composed several vaishnava works[८]

इस तरह जीवन-कालों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से सामान्यतः यही अनुमान लगता है कि रामदास पर तुलसी ही का विशिष्ट प्रभाव पड़ा होगा ।

(२) उपासना की समता की दृष्टि से भी यही निदान निकलता है । रामदास हनुमानोपासक थे ही जैसा ऊपर कह आये हैं, पर वे रामोपासक भी थे, जैसा कि ग्रियर्सन सा० लिखते हैं—"Ramdas was a devotee of Rama."[९]

कृष्णोपासना और रामोपासना में और नहीं तो कम से कम रूढ़िदृष्टि से एक प्रधानभेद यह है कि प्रथम में क्रीड़ात्मक जीवन की, और द्वितीय में कर्त्तव्यात्मक जीवन की साधना रहती है । इस तरह काल-गति के तकाजे के अनुकूल दोनों राम और हनुमान के उपासक थे ।

(३) तुलसी और रामदास दोनों में एक समान क्रान्तिकारी भावनाओं के पाये जाने से भी वही बात सिद्ध होती है । दोनों कर्म-प्रधानवाले थे ।

---

७. Imperial gazetteer (Vol. 12) ४२४ के आधार पर ।

८. वही, पृ० ४३१ ।

९. वही, पृ० ४३१ ।

दोनों समाज में निर्भीकता और कर्त्तव्य-परायणता लाने के लिए उद्यत थे। रामदास किस तरह अपने शिष्यों और शिवाजी को यह शिक्षा देते थे, यह पहले कहा ही जा चुका है। शिवाजी पर उनका तो यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि उच्चशिक्षा प्राप्त हुए बिना भी उसने रामायण और महाभारत के कथनों को घोल कर पी लिया था, जैसा कि डा० ईश्वरीप्रसाद न निम्न वाक्य मे व्यक्त कर दिखाया हैं—

"All evidence tends to confirm the view that Shivaji never received like Akbar formal instruction in letters, but he assimilated with great zeal the contents of the Ramayan and the Mahabharat."[१०]

अर्थात् समस्त साक्ष्य से यही विचार दृढ होता है कि शिवाजी को यद्यपि अकबर के समान ऊपरी आक्षरिक शिक्षा कभी नहीं मिली, तथापि उसने बड़े उत्साह से रामायण और महाभारत के भण्डार को रचा-पचा डाला था।

यह रामायण हमारी समझ में तुलसीकृत ही होना चाहिये, क्योंकि मरहठी रामायण, जहां तक हमे ज्ञात है, उस समय कोई थी नहीं, और मूल संस्कृत मे लिखी जाने तथा विस्तृत होने के कारण वाल्मीकि रामायण का चलन सर्वसाधारण में समाप्त ही था। इसके विपरीत तुलसी कृत रामायण की उस समय तक पर्याप्त रूप से प्रख्याति हो चुकी थी, और चूंकि समर्थ गुरु रामदासजी के हृदय में तुलसीदास ने काफी ऊँचा स्थान बना लिया था, इसलिये वे उस समय तक तुलसी की उस प्रख्यात-विशद रचना से परिचित न हो पाये हों यह मानने योग्य बात नहीं है। महाराष्ट्र ही के कतिपय विद्वानों के लेखों से विदित होता है कि तुलसी ने दक्षिण में भी बड़ा गहरा घर बना लिया था। मरहठी रामायण के सर्वप्रथम रचयिता महाराष्ट्र-कवि मोरोपन्त (सन् १७३०-९५) ने तुलसी प्रशंसा में यह लिखा है—

---

10. History of Inaia. pp. 746-47

"श्रीवाल्मीकि चि झाला श्रीतुलसीदास राम यश गाथा।
तरिच प्रेम रसाची खाणी वाणी तशीच यश गाथा।।"

[अर्थात् 'श्रीरामचन्द्र जी का यश गाने के लिये ही श्री वाल्मीकि तुलसीदास हुए, तभी तो ऐसी प्रेम रस भरी वाणी की खान उनके वश हुई।][११]

मानस-हंस के लेखक श्री यादवशंकर जामदार का कहना है कि "श्री समर्थ रामदास महाराज जी की 'दास बोध' के पहले लोक शिक्षा का पक्ष ऐसी उच्चता से उठानेवाला तुलसी रामायण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्रन्थ निर्माण हुआ ही न था, ऐसा अब कोई भी निश्चय से कह सकेगा।"[१२]

इससे सहज ही यह सम्भावित है कि 'दास-बोध' लिखने के पूर्व रामदास जी तुलसी और उनकी रामायण से प्रभावित हो गये थे। मानस हंस के हिन्दी-अनुवादक महोदय तो इसी बात को बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं। उन्होंने लिखा है "श्री समर्थ रामदास जी को श्री हनुमानजी का अवतार मानने की दक्षिण में प्रथा है।" इसके आगे लेखक ने गोसाईंजी की कुछ प्रशंसा की है और उसी सिलसिले में आप फिर लिखते है कि "उनकी करुणा इतनी द्रावक है कि मनुष्य और देवताओं की कथा ही क्या, निर्जीव पदार्थ तक पसीज जावें। तो क्या ऐसे भक्तो के हार्दिक विलाप खाली हो गये होंगे ? यदि नहीं तो श्री तुलसीदास जी ही श्री समर्थावतार का कारण हुए तो आश्चर्य ही क्या?"[१३] ये उद्‌गार सं० १९८३ (सन् १९२७) मे एक योग्य महाराष्ट्री लेखक के हैं। प्रतीत होता है इस समय तक तत्सम्बन्धी वाद-विवाद पर्याप्त हो चुका होगा और विद्वान जनता में साधारणतया उक्त लेखक जैसी भावना बन चुकी होगी।

---

११. मानस-हंस अथवा तुलसीदास रामायण रहस्य (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ १।

१२. " " वही (प्रस्तावना), पृ० २–३।

१३. मानस-हंस अथवा तुलसी रामायण रहस्य (हिन्दी अनुवाद के चार शब्द), पृ० १०।

तात्पर्य यह निकला कि दक्षिण भारत में समर्थ गुरु रामदास की तथा उनके शिष्य शिवाजी के नायकत्व में—स्वतंत्रता की जो क्रान्ति उठी वा जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्र-राज्य की स्थापना हुई, उसके मूल में तुलसी के आचार-विचार का ही विशेष हाथ था; क्योंकि वे गुरु रामदास के जन्म के काफी पहले से उस काम मे जुट गये थे। जो लोग इस तत्त्व को समझते है कि कर्मफलों का प्रत्यक्षीकरण निकट से निकट और दूर से दूर समय पर हुआ करता है, जैसा हम पहले कह आये है, वे अब निश्चयरूप से मान लेंगे कि तुलसी सामाजिक ही नहीं, राजनैतिक क्रान्तिकारी भी थे, और उनकी वह क्रान्ति छूछी नहीं निकली। राजनैतिक भूमि मे उसका एक बड़ा प्रत्यक्ष फल उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकट हुआ, जिसका उपभोग दक्षिण भारत के लोगों ने किया।

(ब) उत्तर भारत में—

इससे यह न समझा जाय कि उत्तर-भारत की राजनैतिक भूमि उक्त क्रान्ति के फल से वंचित रही। वहाँ भी एक बड़ा फल लगा, और यद्यपि उसको फूट निकलने मे दुगुना समय लगा तथापि वह दक्षिणी भारत में निकले हुए फल से अधिक महत्वशाली था, जैसा आगे बतावेंगे। अभी उसकी उत्पत्ति और रूप के विषय में ही जानना आवश्यक है।

मुसलमान राजाओं की पक्षपात, असूयात्मक (Envious) या असह्यात्मक (intolerant) नीति के कारण तुलसी का मन तिलमिला उठा था, इसलिये उन्होंने करुणाश्रुओं द्वारा जन-जागृति करना प्रारम्भ कर ही दिया था, यह पाठक जानते है। उनका वह सन्देश क्रमशः ग्राम-ग्राम में साधारण जनता के बीच फैलता जा रहा था, यह भी विदित हो गया है। यही चिनगारी सन् १६६९ ई० में औरंगजेब को पक्षपाती, असूयात्मक तथा असह्यात्मक नीति के कारण साधारण से लोगों में इस तरह भभक उठी कि उसका बुझाना औरंगजेब की बादशाही सेना को बड़ा कठिन हो गया। औरंगजेब ने कुछ कर तो अकेले हिन्दुओं पर लगाए और कुछ

मुसलमानों की अपेक्षा उनसे दुगुने वसूल किए जाने लगे ! राजपूतों को छोड़ किसी दूसरे हिन्दू को पालकियो, हाथियों या घोड़ों पर सवार होना या सशस्त्र फिरना मना कर दिया । जो हिन्दू मुसलमान हो जाता था उसे न केवल राज्य-खजाने से पारितोषिक दिया जाता था, वरन् किसी राज्य विभाग में उसे नौकरी भी दी जाती थी । इतना ही नहीं, उसे हाथी पर बैठाकर बड़े सज-धज वा जन-समूह के साथ शहर की सड़कों पर घुमाया जाता था। इतना ही नहीं, उसने देव-मूर्तियों वा देवालयों को भग्न करना प्रारम्भ किया तथा बनारस-स्थित विश्वनाथ मन्दिर तथा मथुरा-स्थित केशवराय-मन्दिर को तुड़वाकर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला ।

जब मथुरा के मन्दिर तोड़े जाने की खबर देहात में पहुँची तो मथुरा के निकट रहनेवाली कृषक जाट-जाति का हृदय दहल उठा और वह एक गोकल नामक जाट की नायकी में अत्याचारों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई ; मथुरा का अत्याचारी फौजदार मार डाला गया और मामला इतना बढ गया कि औरंगजेब ने कई सेनाधिपतियों को उनका मुकाबला करने भेजा । अन्त में गोकल पकड़ा गया, उसकी बोटी-बोटी काटी गई और उसके कुटुम्बियों को जबरन मुसलमान बनाया गया । इस उपद्रव को शमन करने में एक लेखक का कहना है, "४००० बादशाही सैनिकों को मृत्युमुखी होना पड़ा था।"[१४] जो भी हो, पर जाट चुप न रहे । गोकल का खून आखिरकार मुगल बादशाहत का अन्त करके ही रहा । वे बार-बार सन् १६८१, १६८६; १६८८ और १६९१ में उठे और हर बार खूब मरते-मारते रहे । अन्त में चुरामन जाट औरंगजेब के अन्तकाल तक लड़ता रहा । औरगजेब के मरने के बाद जाट बहुत शक्तिशाली हो गये और उन्होंने मुगल बादशाहत को समाप्त करने कराने में बड़ा गौरवपूर्ण भाग लिया ।[१५] गोकल का खून बहा, पर वह खून बहाने वाले धर्मान्ध-आसुरी राज्य को भी बहाकर ले गया । उसका शरीर

---

१४. देखो (सन् १९३३ की) महाराष्ट्र-सांवत्सरिक (काल-गणना) पृ० ३५

१५. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of India के आधार पर।

चला गया, पर आज भी आगरा की राजमण्डी स्टेशन के पास 'गोकलपुरा' नाम का मुहल्ला उसके यश का स्मरण कराता है।

उक्त विरोध तुलसी की मृत्यु के ४६ वर्ष बाद उठा और वह भी तब, जब औरंगजेब का दुर्नीति अत्यन्त असह्य हो गई। ऐसी स्थिति में यह पूछा जाना अस्वाभाविक न होगा कि उसका श्रेय तुलसी को क्यों दिया जाता है। वह इसलिये दिया जाता है कि मुसलमानी युग में अत्याचार-जनित दुखों से निवृत्त कराने के लिए तुलसी ही एक ऐसा सर्वप्रथम महात्मा था जिसने विरक्ति अथवा उदासीनताप्रधान भक्ति के स्थान मे कर्मप्रधान राम-भक्ति-योग की प्रतिष्ठा की। दूसरे शब्दों मे, उन्होंने जनता की आँख उन प्रचलित मतों से हटाई जो संसार के यथार्थ के प्रति उदासीन और विरक्त बनाकर सुखानुभूति की बात किया करते थे। एक तो लोग यों ही डरे वा दबे हुए थे, और दूसरे उन्हें वैराग्य, भक्ति आदि चित्ताकर्षक शब्दों के द्वारा दुःख-निवृत्ति का मार्ग गलत बताया जा रहा था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि जन-मत को बदलने में तुलसी को काफी लम्बा समय लगा होगा। जिस क्षेत्र में भयंकर शेर का निवास हो वहां स्यारों को शेर बनाना कितना कठिन काम है, इसे पाठक स्वय समझ लें। तुलसी को जिस उत्तर क्षेत्र में कार्य करना पड़ रहा था उसकी कठिनाई किसी से छिपी नही है। मुगल-सम्राटों के चारों ओर फैले हुए आतंक के समीप तथा मुसलिम जनता के बीच रह कर उन्हीं के विरुद्ध उपर्युक्त प्रकार के डरे-दबे गुमराह लोगों को कुछ कहना, तथा उनसे न्यायानुरूप भिड़ने के लिए उन्हें उद्यत करना क्या दो-दस दिन का काम था? सन् १९४७ ई० में हिन्द-स्वराज्य को देख यदि कोई गाँधी ही की पुकार करता हुआ काँग्रेस के प्रथम संस्थापक ह्यम या दादाभाई नौरोजी आदि को भूल जाय तो यह उसकी विस्मृति ही का दोष है। उससे कुछ मूल कार्यकर्ता का श्रेय नहीं घटता। इसी तरह यदि कोई प्रयाग मे गंगा-स्नान करते समय गंगोत्री को भूल जाय तो क्या गंगोत्री का महत्व घट सकता है? मूल पर ध्यान रखनेवाला तो यही कहता है कि यदि गंगोत्री नहीं होती तो गंगा ही कहाँ से आती। इसलिये चाहे जितना कालान्तर,

स्थानान्तर अथवा दशान्तर क्यों न हो जाय, मूल का महत्व सदैव ऊंचा ही रहता है। इसीलिये तुलसी श्रेय के पात्र हैं। यदि उन्होंने जन-साधारण मे धर्म-भावना न भरी होती और निर्भीकतापूर्ण कर्त्तव्य-पाठ न पढ़ाया होता तो सम्भव है भोली कृषक जाट जाति भी सूफियों या कबीर-पंथियों की सैद्धान्तिक सुख की मुद्रा लगाये बैठी रहती और कदाचित् मुगलशाही का अन्त भी कठिनाई वा बिलम्ब से होता।

दक्षिणी और उत्तरीय क्रान्ति में भेद

ग्रामीण भोली-भाली अपढ़ जनता में, साम्राज्य-आतंक के मध्य, धर्म-रक्षा की भावनाओं के उठने, तथा प्राण-पण से आसुरीवृत्तिवालों के विरुद्ध निर्भय होकर सहस्रों की संख्या में उठ खड़े होने का जो प्रदर्शन उक्त विद्रोह के समय हुआ या होता रहा उसीको ध्यान मे रख हमने पाठकों से ऊपर कहा था कि दक्षिण-भारत की क्रान्ति की अपेक्षा उत्तर-भारत की क्रान्ति अधिक महत्वशालिनी है। दक्षिण में जो कार्य हुआ वह यद्यपि स्वतंत्रता के लिए हुआ तथापि उसका स्वरूप प्राय: पूर्व पक्ष जैसा था, जिसके अनुसार एक राजा, सरदार या जागीरदार दूसरे ऐसे ही सत्ताधारी के विरुद्ध अपने बल को अजमाया करता था। इस तरह की उठी हुई क्रान्ति मे स्वतंत्रता की भावना अर्न्तानिहित रहने पर भी वह जनतंत्रीय आदर्श नहीं रहता जिसे आज का परिणामवादी श्रेष्ठ समझता है। बीजापुर-राज्य के आधीनस्थ काफी बड़ी जागीर के मालिक शाहजी राजा के पुत्र होने के कारण शिवाजी को पहिले ही से राज्य-स्वामित्व का लाभ प्राप्त था। इसलिये रामदासजी के द्वारा शिवाजी प्रधानत: स्वतंत्र राज्य-स्थापना की भावना से प्रेरित हुए थे। परन्तु उत्तर-भारत का उक्त विरोध जन-साधारण में केवल अन्याय-रोक तथा धर्म-रक्षा की भावना से प्रेरित हुआ था और उसी भावना से वह कई वर्षो तक संगठित रूप में चलता ही रहा। यह दूसरी बात है कि कुछ काल बीतने पर क्रान्ति-कारियों ने अपने किसी एक योग्य वीर नायक को अपना संगठन बनाये रखने तथा अपने धन-जन को रक्षित रखने के अभिप्राय से अपना एक

भूमाधिपति बना लिया हो। जाटों के भरतपुर राज्य की नींव का यही कारण है।

तुलसी किस परिश्रम वा चतुरता से ग्रामीण जनता में जागृति ला सके इसके विषय में हम पहले कुछ प्रकाश डालते समय यह कह आये हैं कि उन्होने सर्वप्रथम हनुमत्पूजा वा हनुमानचालीसा का प्रचार किया। चूँकि उत्तर-भारत हिन्दी-भाषा-भाषी भाग है, और हनुमानचालीसा की रचना अति सूक्ष्माकार मे हिन्दी मे की गई थी, इसलिये उत्तर-भारत की सरल-चित्त जनता में, विशेष कर ग्रामीण जनों में, हमारे अनुमान से हनुमान-चालीसा के नित्य पाठ ने जन-जागृति लाने में विशेष भाग लिया होगा। जब हम आज भी चार सौ वर्ष पश्चात् साधारण से मनुष्य को नहाने के पश्चात् कपड़ा पहनते-पहनते पांच-दस मिनट मे सपाटे से हनुमान चालीसा का नित्य प्रति पाठ करते देखते हैं तो हमारे मन में तत्काल पूर्वोक्त धारणा उठ बैठती है। आज के युग में भले ही उसमें तोता-रटन जैसी निरर्थकता की प्रतीति हो, पर तुलसी-युग मे तथा उसके पश्चात् काफी लम्बे काल तक उसमें उसी प्रकार सार्थक उत्साह रहा होगा जिस प्रकार हर नवीन संयोग के समय अथवा नव-निर्मित संस्था के नव-विधानों या नव-योजनाओं मे रहा करता है। मथुरा जैसे प्राचीन प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान के आस-पास रहने वाली धर्म-प्रिय भोली, पर कट्टर ग्रामीण जनता पर तुलसी के जीवन-काल में तथा उसके पश्चात्, रामकथा, मानस-पठन और हनुमानचालीसा के नित्य पाठों ने, जो प्रभाव डाला, वही समय पाकर हमारी दृष्टि मे क्रांति के उक्त प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो गया।

इतिहास-लेखकों का कर्तव्य

जब किसी राज्य के कुकर्मों के कारण उसके विरुद्ध कोई जन-आन्दोलन उठता है तो राज्य-पक्षवाले उसे बदनाम करने के लिये गदर (mutiny), बलवा या विद्रोह (rebellion) आदि बुरे नाम दिया करते है, और प्राय: सभी इतिहास लेखक भी ऐसे ही नामों से उसका संकेत करते हैं।

विरला ही उसे जन-आन्दोलन या जन-क्रान्ति कहकर पुकारता है। यह साहस भी उसे उस समय आता है जब वह सत्ताधारी राज्य या तो चल बसता है, या जब उसके विरुद्ध काफी चहल-पहल फैल जाती है। इतिहास इस प्रकार के प्रमाणों से भरा पड़ा है। सन् १८५७ मे भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध उठी हुई जन-लहर का बहुत काल तक ग़दर या बलवा कहाते रहना सहस्रों दृष्टान्तों मे से एक है। इसी प्रकार औरंगजेब के विरुद्ध उठे हुए उपरोक्त आन्दोलन को इतिहासकार आज तक बलवा या विद्रोह (rebellion) कहते चले आ रहे है। इस प्रकार के इतिहासकार हमारी समझ में धर्म-संस्थापनार्थ जन-जागृति के बाधक या घातक होते है। भाषा-भाव का सम्बन्ध घनिष्ठ होने के कारण इस प्रकार से शब्द नवयुवक विद्यार्थियों में धर्म के प्रति कर्त्तव्यारूढ होने की उच्च भावनाओं को नहीं पनपने देते। यद्यपि यह सत्य है कि शासन-पक्ष के दृष्टिकोण से इस प्रकार के जन-आन्दोलनों को विद्रोह, बलवा या गदर कहा जा सकता है, तथापि इतिहासकार का कर्त्तव्य यह होता है कि वह उनका निरीक्षण वा वर्णन समाज के दृष्टिकोण से करे, ताकि वाचकों और श्रोताओ मे समाज-सेवा के प्रति रुचि और उत्साह उत्पन्न हो।

परिणामवादी के लिए दूरदर्शिता की आवश्यकता

यदि एक ओर सत्ताधारी, सत्ता के पक्षकार तथा उक्त प्रकार के इतिहासकार जन-आन्दोलन के प्रवाह को बढने मे रुकावट डालते हैं, तो दूसरी ओर परिणामवादियों में भी उक्त दोष की कमी नहीं रहती। हमारे पूर्व में कथित कर्म-फल-विषयक विवेचन से यह तो ज्ञात हो ही गया होगा कि परिणामवादी संकुचित द्रष्टा होता है—न तो वह व्यापकदर्शी होता और न दूरदर्शी। इस दोष के कारण वह बड़ा निराशावादी रहता है। जहाँ और जब कभी आन्दोलन-प्रवाह किसी कारण से अवरुद्ध हुआ वहाँ वह यह समझने लगता है कि वह आन्दोलन असफल होकर समाप्त हो गया। परन्तु यथार्थ बात कुछ और ही होती है।

क्रान्ति-मार्ग कुछ राज-महल-मार्ग जैसा सोना-चाँदी से पटा हुआ एकदम सीधा नहीं होता। वह भीषण पहाड़-मार्ग जैसा एड़ा-टेढा, ऊँचा-नीचा, खाबर-खूबर रहता है, जिस पर क्रान्ति-नदीधारा के समान कभी प्रकट कभी गुप्त रूप मे, कभी सर्राती हुई कभी शिथिल गति से बहती रहती है। जब तक इस ऐतिहासिक नियम पर ध्यान नहीं रखा जाय तब तक परिणामवादी तुलसी की क्रान्ति की सफलता और असफलता का लेखा नहीं लग सकता। यह देखकर कि उक्त क्रान्ति की गति को औरंगजेब ने पूर्व मे उल्लिखित अपनी पक्षपूर्ण दमनकारिणी, अपमानजनित, कर्म-विरोधिनी तथा साम्प्रदायिक कट्टरता से भरी हुई दुर्नीति के द्वारा एक भारी धक्का देकर कुछ काल के लिए अवरुद्ध कर दी थी, यदि कोई परिणामवादी यह सोचे कि तुलसी के द्वारा प्रारम्भ की हुई उस क्रान्ति का अन्त हो चुका था, तो यह भारी भूल होगी। यदि उसका अन्त हो गया होता, अथवा उसकी अग्नि बिलकुल बुझ गई होती तो गोकुल जैसे ग्रामीण भोले भाइयों में वह प्रचण्ड धर्म-भावना और निर्भीकता कहाँ से आ गई होती जिसने अत्याचारी मुगलशासन को समाप्त करके ही दम ली।

गहरी जड़ जमे हुए अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए सैकड़ों वर्ष लग जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। तुलसी के द्वारा आरोपित क्रान्ति मे यह फल लगा, पर वे स्वयं उसे न देख सके। क्रान्तिकारियों का इतिहास उठाइये और देखिये कि कितने ऐसे क्रान्तिकारी हैं जिन्हें अपने ही जीवन में अपनी क्रान्ति का अन्तिम उद्दिष्ट फल देखने को मिल गया हो। किसी षड्यन्त्र या सैनिक बल के द्वारा अपने ही जीवनकाल में किसी राज्य का तख्तामात्र पलटाकर एक दूसरा राज्य स्थापित कर देना सच्ची क्रान्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें केवल रूप-परिवर्तन हो पाता है, विचार-धारा पूर्ववत् किसी दूसरे रूप में दूषित बनी ही रहती है। जिस क्रान्ति का मूल उद्देश्य रहता है कि समाज में प्रचलित पाशविकता के स्थान में मानवता लाई जावे और वह भी केवल मानवीय (साधु) साधनों के द्वारा, उसके कार्य-क्रम की अवधि बहुत लम्बी होती है। तुलसी की क्रान्ति का यही

उद्देश था। इसी लिये वे उसका उद्दिश्य फल न देख सके, और न वे उसे देखने के लिए कभी लालायित ही रहे, क्योंकि वे परिणामवादी न थे। वे थे अनासक्त कर्मवादी अर्थात् आत्मसमर्पी भक्त। कर्म पर उनका अधिकार था फल पर नहीं।

विवश अथवा लोभ-वश किये जाने वाले निन्द्य कर्मो का हिन्दू राजाओं में त्याग——

फिर भी राजनैतिक क्षेत्रीय कुछ छोटे-मोटे फल क्रान्तिकारी तुलसी को अपने जीवन-काल ही में देखने मिले। इन फलों में से सर्वप्रथम एक विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। आठवें अध्याय में उस भाग को पुनः पढ लीजिये जिसमें हमने राजपूत राजाओं की उस मानसिक अधोगति का वर्णन किया है जिसके कारण वे अपनी बेटी-बहिनों को बादशाह अकबर और जहाँगीर को उनके साथ विवाह करने के लिये सौप देते थे। इसका प्रारम्भ आमेर (जयपुर) के राजा बिहारीमल (भारमल) ने सन् १५६२ में उस समय किया जब उन्होने लोभ-वश अपनी पुत्री जोधबाई को अकबर के हवाले कर दी। उनकी देखा-देखी अन्य राजाओं ने भी वही किया। ये हिन्दू जाति, विशेषकर क्षत्रित्व पर महान कलंक का टीका लगानेवाले दुष्कृत थे। राजपूत राजाओं मे नामर्दी सी छा गई और धड़ाधड़ सब के सब, केवल मेवाड़ को छोड़कर अकबर का आधिपत्य स्वीकार करते गये। तुलसी ने इस प्रकार के घृणित कार्यो की बड़ी कड़ी आलोचनाये की होंगी, ऐसा उनके कतिपय कथनों से जिनमें से कुछ का हम गत अध्यायों में प्रसंगानुसार उल्लेख कर चुके हैं, स्पष्टतः प्रकट होता है। प्रतीत होता है कि उनके तत्सम्बन्धी रुख का प्रभाव धीरे-धीरे राजाओं आदि पर पर्याप्त रूप से पड़ता गया। अमुक विषय पर तुलसी का प्रभाव क्या और कितना पड़ता होगा, इस पर विचार बाँधने के लिये हमें इतना ही नहीं देखना चाहिए कि वे उस सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में क्या और कितना लिखकर छोड़ गये हैं। एक तो ग्रन्थों में लिखे गये कथन यों ही सूक्ष्माकार होते है, और जब ग्रन्थ काव्य-रूप में होता है तब उसका आकार और भी सूक्ष्म हो जाता है। तुलसी साहित्य सबका

सब काव्य-रूप में उपलब्ध है, इसलिये उसमे प्राप्त उनके समस्त कथनों को उनके आचार-विचारों के केवल सूत्र-मात्र समझना चाहिये। जब वे समाज में श्रोताओं के समक्ष अपने इन सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचन करते होंगे तब यह स्वाभाविक है कि उनकी भव्य मूर्ति तथा मर्म-स्पर्शी वचन श्रोताओं के हृदय में खूब गहरे चुभते होंगे, जैसा कि अन्य कर्म-योगियों के दर्शन वा मौखिक प्रवचनों के समय हुआ करता है। इस स्वाभा-विक नियम पर ध्यान रखने पर जब हम तुलसी के साहित्य मे इस प्रकार के शब्द-सूत्रों को पढते हैं---'ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि, पेट ही को पचत बेचत बेटा-बेटकी' अथवा 'तिन सोने के मेरु से ढेर लहे, मन तो न भरो घर पै भरिषा'---तब हमारे सामने उनके उस विशाल प्रभाव की मूर्ति आ खड़ी होती है, जिसके फल-स्वरूप तत्कालीन राजाओं और धनी-मानी आदमियों को अपनी उन दुष्कृतियों पर जिनके कारण वे अपनी निर्बला असहाय बहिन-बेटियों को विधर्मियों के हवाले कर देते थे, अति-शय पश्चात्ताप और लज्जित होना पड़ता होगा। इस प्रभाव के कारण ही हमारा अनुमान है, जहाँगीर के बाद मुगल बादशाहों को हिन्दू राजाओं द्वारा अपनी बहिन-बेटियों का समर्पण किये जाने का निन्द्य कर्म इतिहास मे प्राय: नहीं के बराबर सुन पड़ता है। यहाँ यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि जहाँगीर के बाद मुगल बादशाहत इतनी सुदृढ हो गई थी कि कोई हिन्दू राजा उसका विरोधी बनकर नहीं रह सकता था, इसलिए अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई उक्त वैवाहिक राजनीति को प्रयोग मे लाना न शाहजहाँ और न औरंगजेब के लिये आवश्यक रह गया था। उक्त प्रश्नकर्त्ता को यह सोचना चाहिये कि बादशाह की ऐसी सुदृढ़ परिस्थिति में तो हिन्दुओं को अपनी बहिन-बेटियों को दे डालने के लिये और भी अधिक भय और प्रलोभन रहना शक्य था। अतएव उक्त निन्द्य कर्म के अन्त हो जाने का मूल कारण हमारी सम्मति मे हिन्दुओं में धर्म-भावना और निर्भीकता की जागृति ही है, जिसका श्रेय तुलसी के क्रान्तिकारी आचार-विचारों को ही है। तुलसी के तद्विषयक उपदेश ही हमारी समझ में, प्रधान कारण बनकर उन्हें कई एक राजघरानों

मे पूज्य और सम्मानित करते गये। चूंकि इस विषय पर अभी तक यथा-विधि पर्याप्त खोज नही की गई है, इसलिये इन सब राजघरानों का उल्लेख ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर करना कठिन है। फिर भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि तुलसी और राजा मानसिंह मे बड़ा स्नेह हो गया था। आठवें अध्याय मे बताया जा चुका है कि ये राजा मानसिह उक्त बिहारी-मल के पौत्र थे, और जोधाबाई के नाते अकबर उनका फूफा था। उनके ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह की पुत्री भी जहाँगीर हरम मे पहुँचाई जा चुकी थी। यदि मानसिह के हृदय में तुलसी की तत्सम्बन्धी आलोचनाओं ने पश्चात्ताप और न की होती तो वे तुलसी से कदापि स्नेह न पालते और अपने भाई जगतसिंह के साथ उनसे कदापि मिलने न जाया करते, वरन् उनके कट्टर शत्रु बन उन्हें अकबर व जहाँगीर द्वारा भली भाँति दण्ड दिलाने में प्रयत्नशील रहते[१६]। इसलिए अन्य आवश्यक अनुसंधानों की अनुपलब्धि में इस प्रमाण के आधार पर यही अनुमान लगाया जाय कि बिहारीमल के पदानुगामी अन्य राजाओं की दृष्टि में भी तुलसी अपने कर्त्तव्य के कारण प्रिय बनते जा रहे थे, तो गलत न होगा, क्योंकि तुलसी की आलोचना यदि किसी को सबसे अधिक चुभने वाली हो सकती थी तो वह मानसिंह और उनके बन्धु-बान्धवों को ही होने योग्य थी।

(स) मध्य भारत (राजपूताना) में

जब हम यह देखते हैं कि उक्त आलोचना के कटुतम पात्र आमेर के

---

१६. तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड ३ की प्रस्तावना के ३८ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह गोस्वामी जी के पास प्रायः आते थे"; और 'तुलसी और उनका युग' के दूसरे पृष्ठ पर जगतसिंह को राजा मानसिंह का जेठा पुत्र कहा है और बताया है कि इस जगतसिंह की बेटी जहाँगीर के हरम की वासनी बना दी गई थी। इससे यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि जगतसिंह नाम का केवल एक ही व्यक्ति था या दो।

राजा मानसिंह आदि तुलसी की विचार-धारा को पूज्य और अनुकरणीय मानने लग गये थे, तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वे (तुलसी) मेवाड़ (चित्तौड़) के राना-वंश को तो अत्यन्त प्रिय लगते होंगे, क्योंकि चित्तौड़ के राजाओं ने उस हिन्दू-संस्कृति और मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु समस्त लौकिक वैभवों पर क्षार डाल रखा था, जिस की रक्षा के लिए तुलसी स्वयं तिलमिला रहे थे। वे मुसलमान वा मुगलों के सामने कभी नतमस्तक नहीं हुए और न उन्होंने कभी अपनी बहिन-बेटियों को उनके सुपुर्द की। तुलसी के प्रति राना-वश की कितनी श्रद्धा थी, इसका प्रमाण हमे इस अनुसन्धान में मिलता है कि मेवाड़ (उदयपुर या चित्तौड़गढ) के प्रसिद्ध महाराणा राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की विधवा पत्नी राजरानी मीरा, तुलसी पर अटल विश्वास करती थी।

वार्ता यह है कि विवाह होने के पाँच वर्ष बाद ही भोजराज की मृत्यु हो गई। मीरा बाल्यकाल से गिरधर-गोपाल की उपासिका थीं। जब वे विधवा हुईं तब उनकी अवस्था एक मत के अनुसार १८ वर्ष की और दूसरे मत के अनुसार १३ वर्ष की थी। विधवा होने पर वे अपना समय उक्त देव के पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन तथा सन्त-समागम में व्यतीत करने लगीं। उनके सुसरालवालों को यह अच्छा नहीं लगता था। इसलिये वे सब विशेष-कर उनका देवर विक्रम, उन्हें विविध प्रकार की ताड़नायें देने लगे, यहाँ तक कि विष-पान तथा सर्प-डंसन के द्वारा उनको मरवा डालने की चेष्टाएँ भी की गईं, परन्तु वे न मर सकीं। अन्त मे जब उनके नाकों दम आ गई तब उन्होंने, कहा जाता है, तुलसीदास जी को यह पत्र लिखकर भेजा—

"स्वस्ति श्री तुलसी गुण-भूषण दूषन-हरण गुसाई।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब, हरहु शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं, देत कलेस महाई॥
बालपणे से मीरा कीन्हीं, गिरिधर लाल मिताई।
सो तौ अब छूटै नहिं क्यों हू, लगी लगन बरियाई॥

मेरे मात पिता के सम हो, हरि भगतन सुखदाई।
हमहू कहा उचित करबो है, सो लिखियो समझाई।।

इसके उत्तर में, कहा जाता है, तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में उल्लिखित निम्न पद लिखकर भेजा—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण, बन्धु भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो कन्त व्रजवनितन, भे सब मंगलकारी।
नाते नेह राम को मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लौं।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो।।"[१७]

परन्तु यदि तुलसी का जन्म सं० १५८९ (सन् १९३२) का माना जाता है जैसा कि हम पहले कह आये है, तो मीरा और तुलसी के पत्र-व्यवहार की यह बात बिलकुल मनगढन्त ठहरती है, क्योंकि "मीरा जी के समय में और गोस्वामी जी के समय में बड़ा अन्तर पड़ता है। मीराबाई की मृत्यु सं० १६०३ में हो चुकी थी।"[१८] प्रतीत होता है किसी ने तुलसी के उक्त पद को देखकर 'स्वस्ति श्री तुलसी' वाला पद मीरा के नाम पर बना डाला है।

मीरा का जन्म एक मत के अनुसार लगभग सं० १५५५ (सन् १४९९) और दूसरे मत के अनुसार सं० १५६० (सन् १५०४) में हुआ। उनका विवाह सं० १५७३ (सन् १५१७) में हुआ। विधवा होने पर वे सं० १५९० (सन् १५३५) मे मेवाड़ छोड़कर अपने जन्मस्थान मेड़ता परगना को चली गईं और तीर्थाटन आदि करती रहीं। पश्चात् द्वारकाधाम में ४८

---

१७. विनयपत्रिका १७४।

१८. तुलसी ग्रन्थवाली, खण्ड ३, प्रस्तावना, पृ० ४९।

वर्ष की आयु में एक मत के अनुसार सं० १६०३ (सन् १५४७) में और दूसरे मत के अनुसार सं० १६०८ (सन् १५५२) में स्वर्गलोक सिधार गईं।[१९] इससे भी भिन्न एक तीसरा मत है जिसके अनुसार मीरा की मृत्यु-तिथि लगभग सं० १६३० (सन् १५७४) बताई जाती है।[२०] मृत्यु-तिथि कुछ भी हो पर हर दशा में उक्त कालक्रम के अनुसार तुलसी उस समय, जब मीराबाई ने मेवाड़ छोड़ा लगभग दो या तीन वर्ष से अधिक के न होंगे।

तुलसी का पूर्वोक्त जन्म-संवत् और मीरा के इस काल-क्रम को देखकर यह निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उक्त पत्र-व्यवहार की बात केवल मनगढंत है। परन्तु तुलसी का जन्म-संवत् पहले पहल संवत् १५५४ (सन् १४९८) माना जाता था और तदनुसार उनकी आयु १२६ वर्ष की मानी जाती थी, जैसा कि 'मूल गोंसाईंचरित' के लेखक ने निम्न दोहा में व्यक्त किया है।

"पन्द्रह सौ चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तिमि तुलसी धरेउ शरीर।।"[२१]

यह मत बाद के अनुसन्धानियों ने अस्वीकार कर दिया और 'घट रामायण' के रचयिता के मतानुसार तुलसी का जन्म-सम्वत् १५८९ (सन् १५३२) स्थिर रखा।"[२२]

सम्वत् १५८९ मानने का एक मूल कारण हमारी समझ में यह है कि उसके मान लेने पर तुलसी की आयु ९१ वर्ष की रह जाती है, जिस

---

१९. उपरोक्त कालक्रम के लिए (१) डा० बल्देवप्रसाद मिश्र कृत 'काव्य कलाप', पृ० ६०–६२ और (२) 'कल्याण का नारी अंक' (वर्ष २२) पृ० ६२४–२७ का आधार लिया है।

२०. डा० श्रीकृष्ण लाल कृत मीराबाई (जीवन-चरित और आलोचना) पृ० ६१।

२१. 'मूल गोंसाईं चरित' (गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ० २।

२२. 'मानस की रामकथा', पृ० १६–१७।

पर आज का अल्पजीवी मनुष्य किसी प्रकार से मार-कूट कर विश्वास करने के लिये राजी किया जा सकता है। उसे यह विश्वास नहीं हो सकता कि कलियुग-वासी संयमी तुलसी १२६ वर्ष तक जीवित रह सके होंगे। यदि हम यह बतावें कि कृष्ण जी भी १२६ वर्ष तक जीवित रहे थे तथा आज भी सवा सौ डेढ सौ वर्षो के मनुष्यों का उल्लेख मिलता है,[२३] तो कदाचित् पाठकों को विश्वास हो जावेगा कि तुलसी १२६ वर्ष जीवित रहे हों। इसलिए यदि तुलसी का जन्म सचमुच ही सं० १५५४ में हुआ हो तो मीरा तुलसी के पत्र-व्यवहार को सत्य मानने मे कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि समायु होने पर भी मीरा की दृष्टि मे तुलसी उनके यशस्वी जीवन के कारण शुभ-सम्मति देने योग्य समझे गये होगे।

यदि यही मान लिया जाय कि तुलसी का जन्म सं० १५५४ में हुआ और मीरा और तुलसी के बीच उक्त पत्र-व्यवहार भी हुआ, तो आप पूछेंगे कि उस पत्र-व्यवहार मे ऐसी कौन सी बात है जो तुलसी की क्रान्ति की परिणामसूचक है। इसमे तो आप कहेंगे यही विदित होता है कि एक मालाधारी वैरागी ने दूसरे को भी अपने समान बना लेने की शिक्षा दे डाली है। शिक्षा तो गुरु अपने अनुरूप ही देता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं ; परन्तु यह अनुरूप क्या है, इसी को समझना कठिन होता है। उसे समझने के लिए गुरु का रूप ही क्या है, यह जानना आवश्यक होता है। यह जाने बिना गुरु की शब्दावली का रहस्य ही समझ में नहीं आता, और जब शब्दावली समझ में न आई तो शिष्य गुरु के अनुरूप बन ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो तो गुरु का उसमे क्या दोष ? अतएव मीरा को लिखे गये उक्त पद की शब्दावली ही महत्व की है। 'राम' और 'वैदेही' ही उसके मूलाधार हैं। वैदेही (बिना देह वाली) उसे कहते है जो देह मे आसक्त न हो। दूसरे

---

२३. दैनिक 'युगधर्म' जबलपुर (११–६-५७) में रूसी समाचार समिति 'तास' के आधार पर जर्मनी के एक कोरोयेव नाम के व्यक्ति की १५७ वर्ष की उम्र में मृत्यु होना बताया है।

शब्दों में वह 'अनासक्त प्रकृति' की द्योतक है। 'प्रकृति' को यदि केवल 'कृति' कहें तो मूलार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिये 'वैदेही' 'अनासक्त कृति' अथवा 'अनासक्त' कर्म को प्रतीक है। इसी तरह हम बार-बार कहते आ रहे हैं कि 'राम' का प्रतीक है। इस तरह 'राम और वैदेही' दोनों 'अनासक्त सगुणात्मक सृष्टि' का अर्थवाची है। तात्पर्य यह कि जब तुलसी 'राम-वैदेही' या 'राम-सीता' आदि की चर्चा करते है तब यह सदा ध्यान मे रहे कि उनका लक्ष्य 'अनासक्त सगुण,' अर्थात् 'अनासक्त कर्म-तत्व' पर रहता है, न कि दुनिया से भाग-बचकर कोरी गुरिया टारने की क्रिया पर, यही अभिप्राय उनके उस पद का है जो उन्होंने, कहा जाता है, मीरा को लिखकर भेजा था। यदि कोई धर्ममय कर्म करने में बाधा डाले तो उसे त्याग देने ही में लाभ होता है, चाहे वह कितना ही स्नेही क्यों न हो, यही तुलसी की मीरा को शिक्षा थी। विचारपूर्वक देखा जाय बो प्रहलाद, भरत आदि के दिये गये दृष्टान्तों में भी यही भाव ओत-प्रोत है। सारांश यह कि धर्म-कर्मोन्मुखता, न कि धर्म-कर्म-परांगमुखता का पाठ ही तुलसीदास ने उक्त पद में भर दिया है, मीरा चाहे उसे उस रूप में समझी हों या न समझी हों।

मीरा सम्बन्धी इस तर्क-वितर्क की बात को छोड़ अब यही देखिये कि तुलसीकालीन राणावंश की अन्य रानियों वा राणों पर तुलसी का क्या प्रभाव पड़ा। यह इतिहास की बात है। राना संग्रामसिंह, जो राणा साँगा के नाम से प्रसिद्ध हैं, सन् १५२८ ई० में बाबर की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व परलोक गमन कर गये। उनकी मृत्यु के बाद मेवाड़ का आधिपत्य उनके पुत्र अर्थात् मीरा के देवर विक्रम के हाथ में रहा। इन्हें राना विक्रमादित्य भी कहते हैं। इनके बाद फिर वह राना उदयसिंह के हाथ में आया। दोनों निर्बल और निकम्मे निकले। परन्तु विक्रमादित्य के राज्य-काल में राजमाता करुणावती (उर्फ कर्मावती) ने जो वीर राणा साँगा की विधवा पत्नी थीं, और उदयसिंह के राज्य-काल में उनकी उपपत्नी वीरा ने मुसलमानों के जो दाँत खट्टे किये और अपना धर्म निबाहा वह मेवाड़ के राणा-कुल का

मस्तक सदा ऊँचा रखने वाला है, इसमे संदेह नहीं। राना उदयसिंह को अकबर बादशाह ने लड़ाई में हरा कर जब कैद कर लिया तब वीरांगना बीरा रणचण्डी की तरह, मुगल सैनिकों पर टूट पड़ी और अपने पति को कैद से छुड़ाकर चित्तौड़ ले आई।[२४] उदयसिंह का देहान्त सन् १५७२ में हो गया और महाराणा प्रतापसिह सिंहासनारूढ हुए। इस समय तक तुलसी का यश पर्याप्त रूप में फैल चुका था। अकबर और प्रतापसिंह की खूब ठन गई। उधर राजा मानसिंह के कुल की पूर्वोक्त निम्नताओं के कारण राणा ने उनसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था जिससे राजा मानसिंह उनसे विकट वैर-भाव पालने लग गए थे। परिणाम यह हुआ कि सन् १५७६ में हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। राणा प्रतापसिह हार गये। मानसिह ने अकबर फूफा की ओर से लड़कर अपने अपमान का बदला चुकाया और प्रतापसिह को अपनी रानी तथा बाल-बच्चों समेत लगभग २५ साल तक जंगलों में भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकते रहना पड़ा। इस अति लम्बे काल में कठिनतम आपत्तियों को भोगते हुए जिस तरह राणा और उनकी सहधर्मिणी राजरानी अपने धर्म-पथ पर अटल रहकर स्वतंत्रता के लिए मरते-मरते तक कटिबद्ध रहे वह किसी इतिहास-ज्ञाता से छिपा नहीं है। पराजय होने पर मेवाड़ छोड़ते समय की घटना का उल्लेख एक लेखक ने राणा प्रताप और राजरानी के वार्तालाप के रूप में बड़ी गम्भीर भाषा में किया है, "स्वाधीनता व्रत बहुत ही कठोर होता है। राणा मेवाड़ की पवित्र भूमि से बिदा ले रहे थे; सामने निर्जन मैदान था, विदेशी आक्रमण ने राजस्थान को मरुस्थान बना दिया था। रानी ने कहा 'आर्य-पुत्र! **इसी तरह महाराज रामचन्द्र ने भी विधर्मियों और राक्षसों के दमन के लिए चौदह साल तक वनवास किया था।'** महाराणा ने रानी की ओर देखा, उनकी आँखों में आनन्द और विषाद जल बनकर उमड़ आया। अप्पा रावल के वंशधर ने कहा, 'प्रिये! जगज्जननी सीता भी तो थीं।[२५]

२४. कल्याण, नारी अंक, पृ० ५७९।

२५. कल्याण, नारी अंक, पृ० ५८०–८१ (निम्नांकित रेखाएँ मेरी हैं)।

तुलसी स्थान-स्थान पर जाकर राम-कथा सुनाया करते थे। ग्राम-ग्राम में उनकी विचार-धारा फैलती जा रही थी। सन् १५७५ मे राम-चरित मानस की रचना भी प्रारम्भ कर दी गई थी। उसे लिखते-लिखते एक वर्ष हो गया था कि इतने में हल्दीघाटी की लड़ाई हुई। उसी मे पराजय होने के पश्चात् राणा और रानी राम और सीता के चौदहवर्षीय बनवास का स्मरण कर विधर्मियों अथवा राक्षसी वृत्तियों वाले लोगों से धर्म और स्वातंत्र्य के रक्षार्थ टक्कर लेने का साहस बाँध रहे है। इससे ज्ञात होता है कि राम-सीता का चरित्र उस समय के नर-नारियों के गिरे हुए दिलों मे साहस, धैर्य, बल आदि गुणों को भरने में पूरा योग दे रहा था। राम-सीता के चरित्र का यदि तुलसी देश की बोली, हिन्दी-भाषा में प्रसार न करते तो, सम्भव है, राणा साँगा के वंशज भी यवनों के सम्मुख नतमस्तक होने लगते। राजमातायें या राजरानियाँ भी हिन्दूसंस्कृति और मान-मर्यादा को भुला बैठतीं। राणा प्रतापसिह व्याकुलतावश अकबर को आत्म-समर्पण कर कहीं का मनसबदार बन जाता या आमेरियों (जयपुरियों) जैसा बादशाह का दरबारी बन जाता। सम्भव है आप कहेंगे कि हम व्यर्थ ही इस सम्बन्ध मे तुलसी को श्रेय दे रहे हैं, क्योंकि मेवाड़ाधिपति स्वभाव से तथा अपने पूर्व-इतिहासवश आत्माभिमानी और निर्भीक होते थे तथा उनके कुल की नारियाँ भी उच्च गुणों से युक्त वीरांगनायें हुआ करती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ ने कई वीर-रत्न उत्पन्न किये और राणा साँगा उन वीर-रत्नों में से एक हैं। उसने तत्कालीन तीन प्रबल मुसलमान शक्तियों, अर्थात् दिल्ली (सिकन्दर वा इब्राहीम लोधी राजवंश), मालवा और गुजरात पर अपना सिक्का इस तरह जमाया कि बाबर के आते आते तक सन् १५२५ मे "उससे सभी विदेशी राजा भयभीत होने लगे, और मेवाड़ में उन लोगों को आश्रय दिया जाने लगा जिनको सम्पत्ति छीनी जा चुकी थी—अथवा जो अधिकार-च्युत किये जाते थे। वह प्रथम श्रेणी का सैनिक राज्य बन गया था और उसके आय के साधन भी भाँति-भाँति सेव्यवस्थित हो गये थे।[२६] "परन्तु समय ने

२६. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत (History of India) पृ० ४९५-९६।

पल्टा खाया। बाबर आया। सन् १५२६ मे पानीपत की लड़ाई में उसने लोधीवंश को हराकर दिल्ली का राज्य अपने हाथ मे लिया और फिर सन् १५२७ में खनवाह (Khanwah) की लड़ाई में राणा साँगा के प्रधानत्व में राजपूतादि के एक विशाल संघ को हराकर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। इसी के बाद सन् १५२८ मे राणा साँगा की मृत्यु हो गई। इसी गिरी हुई हालत में कायर और निर्बल विक्रम मेवाड़ का राणा बना। मेवाड़ की इस अवस्था का लाभ उठाकर राणा साँगा के शत्रु गुजरात के बादशाह बहादुर शाह ने मेवाड़ पर धावा कर दिया। विक्रम सामना न कर सका। तब वीर राणा सांगा की पूर्वोक्त विधवा पत्नी युद्ध में कूद पड़ी और जोरों से शत्रु के साथ लड़ी। जब शत्रु सेना की अधिक प्रबलता के सम्मुख टिकना कठिन प्रतीत हुआ तो दिल्ली के हुमायूँ बादशाह से सहायता की याचना की गई। हुमायूँ की सहायता पहुँचने के पूर्व ही करुणावती तेरह हजार साथियों के साथ पूर्व परिचित वा तत्कालीन प्रथा के अनुसार अग्नि-ज्वाला मे जिसे "जौहर" कहते थे भस्म हो गई। और बहादुरशाह ने नगर में प्रवेश कर दिया। इस दुखित घटना के पश्चात् हुमायूँ आ पहुँचा और बहादुरशाह को मेवाड़ से भगाया।[२७] मेवाड़ इस प्रकार की हीन दशा में पहुँच चुका था तब उदयसिंह राणा बना। वह भी स्थिति को सम्हालने में असमर्थ हुआ, क्योंकि वह भी कायर और डरपोक निकला, जैसा पहले कह चुके हैं। अकबर ने उसे कैद कर ही लिया था, पर उसका भाग्य ही था कि उसकी वीरांगना पत्नी उसे छुड़ा सकी।

इस विवरण से प्रश्नकर्त्ता को यह ध्यान में आ गया होगा कि जिस राजवंश पर हिन्दू जाति की आँख लगी थी वह भी बुरी तरह से लड़खड़ा चुका था। मानव-धर्म रूपी सूर्य की आशा-किरण विलीन हो रही थी। हिन्दू-संस्कृति और स्वराज्य स्थापना का विचार रात का सपना बन गया था। निराशा की उठली हुई इस काली घटा के साथ ही तुलसी का जन्म सं०

---

२७. कल्याण, नारी अंक, पृ० ५७८।

१५३२ में हो गया। यदि वे न होते और उन्होंने, हनुमान, राम और सीता के चरित्रों का अपने निजी आचार-विचारों द्वारा प्रसार न किया होता तो कौन कह सकता है कि करुणावती और वीरा देवियाँ उक्त राज-वंश के महत्व को बचा सकतीं और प्रतापसिंह तथा उनकी राजरानी स्वतंत्रता देवी के पीछे पागल बन जंगलों की खोह-खोह में घास-पात पर निर्वाह करते हुए जीवन व्यतीत करते। राणा प्रताप ने जब राज्य का कार्यभार सन् १५७२ से सम्हालना प्रारम्भ किया उस समय तुलसीदास ४० वर्ष के और हल्दीघाटी के समय ४४ वर्ष के थे। यदि यह मान लिया जाय कि तुलसी ने समाज-सेवा का कार्य २० वर्ष की अवस्था से शुरू कर दिया होगा तो यह हो ही नहीं सकता कि उनके यशस्वी आचार-विचारो की ख्याति राजपूताने तक न फैल पाई होगी।

की दृष्टि से महाराष्ट्र की अपेक्षा राजस्थान में तुलसी का प्रभाव अधिकतर और शीघ्रतर पड़ना अधिक सम्भव कहा जाने योग्य है। तुलसी की विचार-धारा का प्रभाव किस मात्रा में पड़ा होगा यह जानना आवश्यक नहीं है, पर प्रभाव पड़ा यही परिणामवादी को दिखाना आवश्यक है। देश की अधोगति के समय पतनोन्मुख मार्ग में कई वर्ग के लोग पाये जाते हैं। कोई पतन की प्रारम्भिक श्रेणी के होते हैं, कोई माध्यमिक श्रेणी के और कोई अन्तिम श्रेणी के। इसलिये क्रान्तिकारियों या धर्म-प्रवर्तकों की योजनायें उक्त श्रेणियों के अनुरूप उन लोगों को उन्हीं मात्राओं में प्रभावित करती रहती हैं। इसी तरह तुलसी की क्रान्तिकारी योजनाओं ने समयानुकूल राणा-वंश को प्रभावित कर हिन्दुत्व को डूबने से बचाया। राम के पदानुगामी तपस्वी राणा प्रताप ने वनवास को स्वीकार कर अपनी मृत्यु सन् १५९७ तक मुगलों के विरुद्ध जो घोर परिश्रम किया और चित्तौड़, अजमेर तथा मंडलगढ़ को छोड़ समस्त मेवाड़ को पुनः अपने आधिपत्य में लेकर छोड़ा यह पूर्णतः नहीं तो अंशतः तुलसी की पूर्वोक्त समाजोत्कर्षी क्रान्तिमय विचार-धारा का परिणाम है, इसे कदाचित् ही कोई विवेकशील मनुष्य अस्वीकार कर सकेगा।

(२) समाज-क्षेत्रीय प्रमाण

(अ) मुसलिम जनों पर प्रभाव और उसके दो प्रमुख प्रमाण—

जिस प्रकार सूर्य सम-स्वभावी होने के कारण अपने प्रकाश से किसी क्षेत्र या व्यक्ति को वंचित नहीं रखता, अथवा सत्य सब पर बिना किसी भेद-भाव के अपना प्रकाश डालने मे नही चूकता, उसी प्रकार समत्व-जल से परिपूरित तुलसी का हृदय-सरोवर भी सब के लिए वाणी-प्रवाह के रूप मे फूट निकला था। जितनी क्षमता उसमे प्यासे हिन्दू की प्यास बुझाने के लिये थी; उतनी ही प्यासे मुसलमानों के लिए भी थी। ज्यों ज्यों तुलसी की यह सम-भावुकता प्रकट हो चली त्यों त्यों सैकड़ों छोटे-बड़े मुसलमान उनके आचार-विचार से प्रभावित होते गये, जिसके फल-स्वरूप तुलसी उनके प्रिय भी बनते गये। छोटों की चर्चा के लिये इतिहास वा आख्यानो में क्वचित् ही स्थान दिया जाता है, और जहाँ कही दिया भी जाता है तो अति संकुचित रूप मे। सबों के लिये स्थान देना इतिहासकारों वा वार्ता-कारों के लिए सम्भव भी नहीं है। इसलिये परिणामवादी को केवल दो-एक प्रमुख मुसलमानों के उपलब्ध दृष्टान्तों से ही सन्तोष कर लेना होगा। एक दृष्टान्त है अकबर के प्रसिद्ध मंत्री नवाब खानखाना अब्दुर्रहीम का, जो रहीम कवि के नाम से विख्यात है, और दूसरा दृष्टान्त है, बादशाह जहाँगीर का। "कहते हैं कि नबाब खानखाना अब्दुर्रहीम और तुलसीदास में बड़ा स्नेह था। एक गरीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामी जी के पास आया। उन्होने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और खानखाना के पास ले जाने को कहा—

सुर तिय, नर तिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

खानखाना ने उसे बहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह लिखकर भेजा:—

"गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।"[२८]

---

२८. तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड ३ (प्रस्तावना), पृ० ३८।

उक्त कथन में "कहते हैं" शब्दों के आने से पाठकों के मन में तुलसी-रहीम के स्नेह के विषय मे सन्देह उत्पन्न हो सकता है। सन्देह भले ही कोई उद्धरित दोहा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के उक्त प्रकार से लिखे जाने के विषय में करेगा, पर रहीम की रचनाओं के स्वभाव को देखकर कम से कम इस बात में सन्देह नहीं रहता कि वे तुलसी के प्रति बड़ा स्नेह रखते थे और इसलिये उनके पास वह ब्राह्मण भेजा गया होगा। रहीम का हाथ दान देने के लिए सदा खुला रहता था, यह ऐतिहासिक सत्य सबको मान्य है। संपत्ति संचय और दान-उदारता के विषय मे रहीम के दृष्टान्तस्वरूप केवल निम्न दो दोहों को पढ़ लीजिये——

तरुवर फल न खात है, सरवर पियें न पान।
कह रहीम परकाजहित, सम्पत्ति सुचयिं सुजान।
तबहीं लगि जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम।।

आचार-विचार में समता जब होती है तभी स्नेह होता है। यदि यह सत्य हो कि विचार-आरसी आचार का ठीक ठीक प्रतिबिम्बन कर देता है तो तुलसी और रहीम के साहित्यज्ञाता को यह मान लेने में कोई सन्देह न होगा कि रहीम तुलसी से अवश्य स्नेह पालते रहे होंगे, क्योंकि दोनों की भावुकता में समता झलकती है, केवल शब्दों मे अन्तर है।

रहीम न केवल हिन्दी-काव्य के प्रेमी ही थे, बल्कि स्वयं उच्च कोटि के हिन्दी के कवि भी थे। जन्म से मुसलमान होते हुए भी वे मानवता के नाते हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं देखते थे। वे न केवल तुर्की, फारसी और अरबी भाषा ही के बल्कि संस्कृत और हिन्दी के भी पंडित थे। उन्होंने उक्त सभी भाषाओं में ग्रन्थों की रचनायें कीं। किसी जाति की संस्कृति जानना हो तो उसकी प्राचीन और वर्तमान भाषाओं से परिचित होना आवश्यक होता है, ग्रन्थ-रचनायें चाहे उनमें न की जावें। तुलसी के ग्रन्थों में अरबी, फारसी और तुर्की के यत्र-तत्र ऐसे शब्दों के आने से जो सर्वसाधारण

में प्रचलित नहीं थे, ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने भी मुसलिम-साहित्य का अध्ययन अवश्य किया होगा, हालाँकि समय के तकाजे के कारण उन्होने अपनी रचनाओं के लिए हिन्दी को ही अपनाया, यहाँ तक कि संस्कृत तक मे कोई ग्रन्थ नहीं रचा। संस्कृत-भाषा के ज्ञाता होने तथा हिन्दुओं के बीच रहने के कारण रहीम ने एक भारतीय के नाते हिन्दू-संस्कृति को अपना लिया था। यही उनकी रचनाओं से विदित होता है। यदि अपनी कविता मे रहीम अपने नाम की छाप लगाते तो, भक्ति, धर्म और नीति सम्बन्धी उनके वाक्यों के पढने से यही भ्रम होता कि मानो किसी हिन्दू-धर्मज्ञ ने अपनी अनुभूतियों का रंग देकर उनको साहित्य-क्षेत्र मे कुशलता-पूर्वक बिखेर दिया है। एक ओर यदि तुलसी पुराणों के अवतारों, देव-देवियों, आदर्शों, नामों वा वार्ताओं का आश्रय लेकर अपनी रचनायें करते हैं, तो दूसरी ओर रहीम भी उन्हीं की पुकार करते सुनाई देते है। इधर तुलसी काम-क्रोधादि विषयों को त्यागने की बात करते हैं, तो उधर रहीम भी वही कहते है। यहाँ चित्रकूट तुलसी को शान्तिदायक है, तो, व्यथित रहीम को भी वह शान्ति देता है। राम, कृष्ण, जगदीश, नारायण, आदि यदि तुलसी को प्रिय हैं, तो रहीम को भी वे उतने ही प्रिय हैं। रहीम ने पौराणिकता को कैसे अपनाया है इसे जानने के लिए उदाहरणस्वरूप यह देखिये—

जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥
रहिमन याचकता गहै, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू को भयो, बावन अंगुर गात॥
मुनि नारी पाषाण की, कपि पसु गुह मातंग।
तीनों तारे रामजू, तीनों मेरे अंग॥
मान सहित विष खाय के, शम्भु भए जगदीस।
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो सीस॥

रहीम को जहाँगीर ने कैद कर रखा था। कैदखाने में उन्हें कड़ी से कड़ी यातनायें भोगनी पड़ीं। कुछ सालों के बाद महावत खां से बदला चुकाने

के अभिप्राय से बादशाह का स्वार्थ अटका तब वे मुक्त कर दिये गये। मुक्त होने पर वे भ्रमण करते हुए चित्रकूट पहुँचे। उस समय का उनका यह दोहा है—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।
जा पर विपदा परति है, सो आवत इहि देश॥

तुलसी ने भी चित्रकूट को विपदाहारी कहा है—

चित्रकूट जनु अचल अहेरी, चुकइन घात मार मुठ भेरी॥[२९]

तथा

भव भुवंग तुलसी नकुल, डसत ज्ञान हरि लेत।
चित्रकूट इक औषधी, चितवत होत सचेत॥[३०]

मन आदि की पवित्रता पर जिस प्रकार तुलसी यह कहकर बल देते हैं—

वचन-वेष तें जो बनैं, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनाई राम॥[३१]

उसी प्रकार रहीम ने भी वही भाव निम्न दोहा में व्यक्त किया है—

रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचै दाम।
हरि बाढ़े आकाश लौं, छुट्यौ न बामन नाम॥

जिस प्रकार तुलसी संपत्ति-संचयार्थ तृष्णा को यह कहकर धुतकारते हैं—

तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बड़वाग्नि तें, बड़ी है आगि पेट की॥[३२]

---

२९. मानस, अयो० कां० १३२।४।

३०. दोहावली १८० ; नोट—(चित्रकूट) (चित्र+कूट) का रहस्यार्थ होता है, 'व्यवस्थित संसार।' ईश्वर, उस दृष्टि में कहाता है 'सकुशल चित्रकार'।

३१. दोहावली १५४।

३२. कवितावली, उत्तर काण्ड, ९६।

उसी प्रकार रहीम ने यह कहकर प्रकाश डाला है।

जो पुरुषारथ तें कहूँ, सम्पत्ति मिलति रहीम।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम॥

जिस तरह तुलसी 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज्य नहिं काहुहि व्यापा' कहकर आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं, उसी तरह रहीम 'ससि-सम-सुखद' कहकर उसकी कल्पना करते हैं—

रहिमन राज सराहिए, ससिसम-सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयन खोय॥

इसी तरह आपको कई स्थलों पर प्रायः हर आवश्यक विषय पर तुलसी और रहीम के भावों में समता मिलती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी और रहीम वाली स्नेह की बात असत्य नहीं हो सकती। परन्तु परिणामवादी तो यह कहेगा कि उसे उन दोनों के स्नेह से क्या मतलब? वह तो यह देखना चाहेगा कि क्या रहीम के भाव तुलसी के आचार-विचारों से प्रभावित हुए थे।

एक मनुष्य किसी दूसरे से प्रभावित तभी होता है जब वह या तो उस दूसरे पर श्रद्धा करे या उससे स्नेह या प्रीति करे। श्रद्धावान् भक्त के रूप में प्रभावित होता है, और स्नेहवान् मित्र के रूप में। परिस्थितियों पर विचार करने से हमारा अनुमान है कि रहीम के इस स्नेह ने काल पाकर तुलसी के प्रति श्रद्धा का रूप धारण कर लिया था?

इस सम्बन्ध में अपना विचार स्थिर करने के लिए अब हमें रहीम के जीवन की कुछ घटनाओं की ओर ध्यान ले जाना होगा। रहीम हुमायूं के प्रसिद्ध सेनानी, और अकबर के बाल्यकालीन अभिभावक तथा प्रधान मंत्री बैरमखां के पुत्र थे। उनका जन्म लाहौर में सन् १५५६ में हुआ था।

बैरम खां ने अकबर के राज्य की जड़ जमाने में भारी प्रयत्न किया। परन्तु अकबर ने अपनी धात्री आदि के षड्यंत्र के वशीभूत होकर बैरम खां को पदच्युत कर उसे हज्ज करने मक्का ज़ाने के लिये बाध्य किया। बैरम

मार्ग में अफगानों के द्वारा सन् १५६० ई० में मार डाला गया। उस समय रहीम चार वर्ष का बालक था। दो वर्ष के बाद रहीम को अकबर ने आगरा अपने पास बुला लिया। सन् १५७५ मे जब रहीम केवल १९ वर्ष का था अकबर ने उसे गुजरात का प्रान्ताध्यक्ष बनाया। उसके बाद वह अकबर की ओर से भिन्न-भिन्न प्रान्तों का कार्य-भार सम्हालने लगा और विविध विरोधियों से सफलतापूर्वक युद्ध भी करने लगा। फलस्वरूप उसे काफी यश और धन प्राप्त होता गया।

सन् १६०५ में अकबर के मरने के बाद रहीम पहले के समान ऊँचे पदों पर रहकर ईमानदारी और सत्यता के साथ जहाँगीर के आधीनस्थ भी राज्य सेवाएँ करते रहे। उन्होंने अपने पुत्र की पुत्री का विवाह भी शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) के साथ कर दिया। परन्तु इसी बीच में दूसरा शाहजादा परवेज तथा उसके अनुयायी दक्षिण में उसकी सफलताओं को देख उससे विद्वेष करने लगे।

सन् १६२० में समय की गति विरुद्ध हुई। आपत्तियों ने एक के बाद एक आना शुरू कर दिया। दो वर्षो के भीतर उनके प्रथम दो वयस्क पुत्र चल बसे। इतने मे शाहजहाँ ने बादशाह के खिलाफ बगावत कर दी। सन् १६२३ में वह बादशाही सेना से हार कर इधर-उधर आश्रय वा सहायता के लिये भटकता फिरा, और अन्ततः सन् १६२६ में उसने बादशाह से क्षमा-याचना कर ली। शाहजहाँ की बगावत में रहीम का हाथ समझ बादशाह ने बगावत के दौड़ान में उसे कारागार में पटक दिया और उसके एक मात्र बचे हुए तृतीय पुत्र को मरवा डाला। बगावत समाप्त होने के पूर्व उसे (बगावत को) दमन करने वाला प्रबल सेनानायक महावत खाँ परवेज के सहयोग से प्रबल हो उठा था और उसने स्वयं बादशाह वा नूर-जहाँ के विरुद्ध बगावत शुरू कर दी। तब शाहजहाँ की क्षमा-याचना हो जाने पर रहीम सन् १६२६ में कारागार से इस अभिप्राय से मुक्त कर दिया गया कि वही महावत खाँ से टक्कर ले सकेगा। परन्तु रहीम सन् १६२७ ही में मृत्यु के गाल में चला गया और उसी वर्ष जहाँगीर भी चल बसा।

रहीम प्रकृतितः स्वामि-भक्त था और शाही दरबारों के आन्तरिक षड्यंत्रों से दूर रहता था। अकबर के शासन काल में उसे शान्तिपूर्वक राज्य-सेवाओं को करने का अवकाश मिला। पर जहाँगीर के समय उसको वैसा अवकाश न मिल सका। नूरजहाँ की मानसिक प्रवृत्ति विद्वेषमयी तथा षड्यन्त्रकारिणी थी, और जहाँगीर स्वतः उसके हाथ की एक कठ-पुतला सा बन गया था। उसके राज्य मे जब सत्यता और ईमानदारी का मूल्य नही दिखा तब रहीम जैसे व्यक्ति के लिए हृदय में अशान्ति और खिन्नता का आ जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। अच्छा-भला काम करने पर भी यदि स्वामी की दृष्टि में उसका मूल्य न किया जाय तो मान-सिक ग्लानि और खेद अवश्य होता है। तब मनुष्य के मन में ईश्वर की ओर चित्त अपने आप दौड़ता है—वह पश्चात्ताप करता है कि मैने व्यर्थ दूसरों का मुँह ताका, व्यर्थ पेट के नाम पर अनेक दुष्कर्म किये, इत्यादि।

ईश्वर की गति बड़ी विचित्र होती है। जो उसकी ओर दौड़ता है उसे वह पहले खूब कसता है। वह उस पर इतने गजब ढाने लगता है कि उसका धैर्य टूट जाता है। रहीम का मन लौकिक नीचताओं के कारण उलट-पुलट हो ही रहा था कि ईश्वर ही उस पर टूट पड़ा। दो जवान बेटे छीन लिये, राज्य-अपमान सहा, कारागार भोगा, यातनाएँ सहीं और तीसरा पुत्र भी क़ातिल के हाथ से मारा गया।

इस तरह के आपत्ति के बादल जब मनुष्य पर घुमड़ने लगते है, विशेष-कर उस मनुष्य पर जिसकी प्रकृति पूर्व-कर्मों वश अशतः निर्मल होती चली हो; तब वह न केवल अदृश्य ईश्वर का आश्रय पकड़ने दौड़ता है वरन् लोक में जीवित किसी ऐसे [illegible]-प्रेमी की टोह में भी रहता है जो उसे सान्त्वना दे सकने योग्य हो। ऐसे मनुष्य रहीम को उस समय कई एक दिखे, पर उनसे कोई सान्त्वना न मिल सकी। जिस मनुष्य ने जन्मभर युद्ध-क्षेत्रों मे युद्ध किया हो, प्रान्ताध्यक्ष होकर राज्य-कार्य-भार चलाया हो, समाज में रहकर जनता के सुख-दुःख का अनुभव किया हो, भरे-पूरे कुटुम्ब की अधिनायकी करके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को सम्हाला हो तथा संपत्ति-संचय और

दान के महत्व को समझा हो, गरज यह कि जिसने लोक-जीवन व्यतीत किया हो और दूसरों को अनिवार्यतः व्यतीत करते पाया हो, उसके लिये तो वही सान्त्वना दे सकता था, जो लोक में विचरनेवाले उस साक्षात् ईश्वर की आदर्शमूर्ति प्रस्तुत कर कर्मरूपी सुनहले अक्षरों से लिखकर मानवता का पाठ पढ़ा सके। ऐसा महात्मा उन्हे मिला तुलसी, जो साक्षात् लोकवासी राम का आदर्श-चरित्र, लोगों को बताकर सच्चरित्रता का पाठ सिखाता फिरता था। न कोई रहस्यवादी सूफी, न कोई निर्गुणी-वैरागी 'दास' उसकी प्यास को बुझा सकने योग्य मिला, और न कृष्ण की ठुमक ठुमक चाल पर रिझाने वाला सूरदास ही उसे शान्ति दे सका।

तुलसी रहीम से २४ वर्ष जेठे थे। उनकी उठती हुई ख्याति को वे अकबर के दरबार में एकत्रित वयोवृद्ध दरबारियों तथा कवियों के मुख से उस समय भी सुना करते थे जब वे नवयुवक ही थे। जिस वर्ष तुलसी ने रामचरित्र लिखना प्रारम्भ किया उसी वर्ष रहीम की बुद्धिमत्ता और चरित्र-शुद्धता को देख बादशाह ने उन्हें युवावस्था ही में गुजरात के प्रान्ताध्यक्ष का पद सौप दिया। जैसे-जैसे रहीम की अवस्था बढती गई वैसे-वैसे तुलसी के आचार-विचारों का प्रसार भी चहुँ ओर बढ़ता गया, जिसके कारण रहीम तुलसी की ओर नित्यप्रति अधिकाधिक आकर्षित होते गये। इसके साथ ही उनका पौराणिक अवतार-विषयक अध्ययन भी चलता रहा। फलतः उन्हे पुरानी निर्गुणता मे नहीं, बल्कि पौराणिक सगुण स्वरूप में ही संतोष मिला। इन्ही कारणों से हमारा निष्कर्ष है कि रहीम न केवल तुलसी से स्नेह पालते थे वरन् उन पर पूरी पूरी आस्था रखने लग गये थे, जिसके कारण वे तुलसी के अति निकट हो चुके थे। इस सन्निधि की स्थापना के पश्चात् ही, प्रतीत होता है, वे हिन्दू-संस्कृति-प्रधान भक्ति-धर्म-नीति विषयक प्रसून लेकर हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में एक प्रवीण कलाकार के रूप में आ उतरे, और अपने अनेक अमूल्य वाक्य भावी जनता को कर्त्तव्य-शील बनाने के हेतु स्मरणीय उक्तियों के रूप में उसी प्रकार छोड़ गये जिस प्रकार तुलसी छोड़ गये हैं। उक्त गरीब ब्राह्मण की वार्ता और तत्सम्बन्धी

दोहा की अर्द्धालियों द्वारा उभय प्रकार से की हुई पूर्ति रहीम और तुलसी की इस सन्निधि की ही द्योतक है। हो सकता है कि रहीम की रचनाएँ उनकी स्वतंत्र अध्ययनशीलता के ही परिणामस्वरूप हों। हो सकता है कि मुसलिम-हिन्दुओं में एकता स्थापित करने वाली तत्कालीन पुकार से ही प्रभावित होकर उन्होंने अपनी रचनाओं को उक्त साँचे में ढालना उचित समझा हो, पर इन कारणों से उनकी तुलसी के साथ एकात्मीय जैसी गाँठ पर कोई आँच नहीं आ सकती। यह मानी हुई बात है कि कालान्तर के कारण भूतकालिक घटनाओं पर विश्वास करने के लिये केवल दो साधन हुआ करते हैं। एक साधन तो यह होता है कि पूर्वकाल मे कथित तत्संबन्धी वचनों पर विश्वास किया जाय, और दूसरा साधन यह होता है कि समीक्षक स्वयं परिस्थितियों को अपनी तर्क-कसौटी पर कस कर देखे। दोनों से यह निश्चय हो जाता है कि इन २४ वर्ष छोटे-खानखाना रहीम पर तुलसी का प्रभाव अवश्य पड़ा।

खानखाना रहीम के इस दृष्टान्त से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आत्म-विकास के पथ के और भी कई मुसलिम पथिको पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष विधि से तुलसी के क्रान्तिकारी सन्देश का प्रभाव पड़ता जा रहा था। परन्तु मनुष्य की हर जाति मे दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं— एक वे जिनकी दिव्यवृत्ति होती है, और दूसरे वे जिनकी आसुरी वृत्ति होती है। रहीम का दिव्य वृत्ति की ओर झुकाव था। इसलिये उन पर शीघ्र और फलदायक प्रकाश पड़ा। पर वैसा ही प्रकाश जहाँगीर तथा उस जैसी आसुरी वृत्तिवाले मुसलिमों पर न पड़ सका। जहाँगीर के विषय मे यह कहा गया है कि वह एक बार तुलसीदास से मिलने गया था, और उसने उन्हें बहुत कुछ देना चाहा, पर उन्होंने कुछ ग्रहण न किया।[33] इस प्रकार के लोगों की भावनाएँ केवल भौतिक वस्तुओं से बँधी रहती हैं। जीवन की आत्म-विकासनी दूसरे पहलू उनके अन्तर्नेत्रों से ओझल रहते हैं। इसलिये

---

३३. तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड ३, प्रस्तावना, पृ० ५४।

उनकी दुनिया केवल लौकिक वस्तुओं के आदान-प्रदान की बातों से चमकती रहती है। परन्तु महान पुरुषों की दृष्टि मे उनका कोई महत्व नहीं रहता।

तुलसी तो ईश्वर के सिवाय किसी दूसरे के सामने अपने लिए हाथ पसारना जानते ही नहीं थे, और न उन्हें कभी सम्पति-संचय की लालसा ही रही।[३४] तब फिर वे जहाँगीर से क्या लेते ? कुछ लोकेक्षणा वाले ऐसे व्यक्ति होते है जो महात्माओं के दर्शन करने इसलिये जाते है कि उनके वरदान से उन्हे सन्तान, धन, स्वास्थ आदि का लाभ मिल सके। कुछ बिना ईक्षणा के ही कौतूहलतावश उन्हे देखने पहुँचते है। महात्मा कहने से हमारा अभिप्राय केवल [illegible] के साधु-सन्तों से ही नहीं है वरन् उन सब विभूतियों से है, जो अपने अपने क्षेत्रों में असाधारणतया कर्त्तव्यपरायण हों। तुलसी में दोनों प्रकार की विलक्षणता विद्यमान थी, जैसा कि पिछले पाठों से पाठकों को विदित हुआ होगा। साधुत्व उनमें था ही, पर कर्म-क्षमता भी उनमें विलक्षण ही थी। इसलिये उनके पास कोई तो केवल कौतू-हलवश, कोई लोकेक्षणाओं वश और कोई केवल आत्मज्ञान की लालसा से पहुँचा करते थे। जहाँगीर उनसे मिलने गया था, या नहीं इस पर निश्चयपूर्वक विचार निर्धारण के लिये कोई ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख नहीं मिलता जिनमे उचित तर्क लगाया जा सके। इसलिये यह उसका जाना सत्य माना जाय तो यही कहा जा सकता है कि वह तुलसी की ख्याति सुनकर या पूर्वोक्त "कैदवाली करामात" का स्मरण कर केवल कौतूहलवश उनसे मिलने चला गया होगा। इस प्रकार के लोगों पर महात्माओं के दर्शन मात्र से जीवनोपयोगी प्रकाश नही पड़ता, और यदि कहीं किसी पर पड़ा भी तो किंचित मात्र रहता है। इससे यह निदान निकला कि जहाँगीर

---

३४. कवितावली, उत्तर काण्ड २८ में कहा है :—

"जग जाँचिये कोउ न, जाँचिये जौ जिय, जाँचिये जानकी-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरिजाइ, जो जारति जोर जहानहि रे।।"

जैसे आसुरीवृत्ति वाले मनुष्यों पर जो केवल कौतूहलवश तुलसी से मिलते थे कोई ऐसा विशिष्ट प्रभाव नही पड़ता था कि जिसमे उनकी क्रान्ति को बल और योग मिलता। परन्तु लोकेक्षणावाले मुसलिम दर्शको (मुलाकातियों) की गति इससे कुछ भिन्न थी। उनमे से कुछ ऐसे रहते थे जिनकी इच्छायें पूरी हो जाया करती थीं, और इन पूर्तियों के कारण वे स्वाभाविकतः तुलसी की दया समझते थे। जिन्हें पवित्र महात्माओं के संसर्ग मे आने का अवकाश आया है वे जानते है कि वे कितने कारुणिक होते हैं और उनकी वह कारुणिक पवित्र आत्मा अपने आप द्रवीभूत होकर उनके निकट पहुँचे हुए दुखित जनों को दुख मे मुक्त करने के हेतु कितनी व्याकुल हो पड़ती है और उसका फल भी कभी कभी कितना लग जाता है। जो भी हो, पर जब कभी कोई दुखीजन अपनी किसी पीड़ादि से इस प्रकार मुक्त हो जाता है तब वह उस महात्मा का आभार मानता है तथा उस आभार-वश उमे उनके अनुगामी बनने के लिये आन्तरिक प्रेरणा उठती है। इस दृष्टि से कुछ मुसलमान लोग भी तुलसीदास जी की कुछ बातें मानने लग गये थे, इसमें सन्देह नही। पर अनुमानतः उनकी संख्या बहुत कम ही रही होगी, क्योकि जनता तो अधिकतर यही समझती थी कि वे हिन्दू-साम्प्रदायिकता के ही समर्थक थे।

(ब) हिन्दू जनों पर प्रभाव

तुलसी-सम्बन्धी चमत्कारिक किंवदन्तियों से पता लगता है कि उनके पास लोकेक्षणा वाले हिन्दू अधिक संख्या में पहुँचा करते थे। उन किंवदन्तियों मे कौन सत्य है कौन असत्य, अथवा कौन अतिशयोक्तिपूर्ण है, इस पर अभिप्रेत विषय की दृष्टि से वहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। उन पर गवेषणापूर्ण ध्यान रखकर केवल इतना तात्पर्य अवश्य निकाला जा सकता है कि तुलसी अपने साधु-स्वभाव के कारण हिन्दुओं में विशिष्ट रूप से सम्मानित और पूज्य होते गये। इसके फलस्वरूप बहुत से हिन्दू कृतज्ञता और श्रद्धावश उनकी योजनाओं में कम-बढ़ मात्रा में हाथ बटाने लगे, ऐसा अनुमान लगाया जाय तो उचित ही होगा।

(१) जाति-पाँति वा छुआछूत तोड़कर कर्म-पर-आधारित वर्ण-व्यवस्था का बीजारोपण

परन्तु इतना होने पर भी तुलसी अपने जीवन काल मे कृत्रिम जाति-भेद तथा छुआछूत को मिटा कर मौलिक वर्ण-व्यवस्था को कायम न कर सके, और ना ही वे आश्रम-व्यवस्था पर लोगों को आरूढ करने मे सफल हो पाये। हिन्दू ही जब उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था-सम्बन्धी योजना को नहीं समझ पाये, अथवा किसी-किसी ने समझकर भी उस पर अमल करके नहीं बताया, तब भला मुसलमानों से क्या आशा की जा सकती थी कि वे प्राकृतिक नियमों पर आधारित उसके महत्व को समझ कर उसे व्यावहारिक जगत में कार्यान्वित करके बताते। इस असफलता का मूल कारण यही था कि सहस्रों वर्षो से तत्सम्बन्धी दुर्व्यवस्था ने अपनी जड़ें इतनी गहरी जमा लीं और फैला ली थीं कि अपने अंगुष्ठ माप जैसे छोटे मे जीवन काल में उन्हें खोद कर फेंकना, तुलसी का प्रयास वैसा ही था जैपे कोई टिटहरी अपने अंडे को रक्षा के लिए अपने उलटे पैरों से आकाश को ठोढ मारने की सोच रही थी।

फिर भी तुलसी ने खोदने का कार्य तो प्रारम्भ कर ही दिया था और साथ ही साथ वे अन्य लोगों को उस खोदने में योग देने के लिए पुकार भी लगाते जाते थे। अपने उद्दिश्य कर्म में सलग्न होने के कारण संन्यस्त वे इतने हो गये थे, कि उन्हें केवल पेट के लिए भोजन और थकावट मिटाने के लिये नींद की आवश्यकता रह गई थी, चाहे जहाँ जो कुछ मिल गया वह खा लिया और जहाँ नींद आई वहीं सो गये। 'माँगि के खैवो मसीद को सोइवो, लैवे को एक न दैबे को दोऊ' यह थी उनकी पुकार, जिसे लगाकर वे सब को धर्म मार्ग पर आ जाने के लिये आह्वान करते जाते थे। तन-मन-धन-धाम रूप उनका जो 'हम' (अहंकार) था, उसे वे धर्म-रक्षा के हेतु जानकीनाथ (ईश्वर) को समर्पण कर चुके थे, क्योकि धर्म को तत्कालीन कलिकाल भक्षण कर रहा था——

> **"धर्मसनै कलि काल ग्रसे, जप जोग विराग लै जीव पराने।**
> **को करि सोच मरै 'तुलसी', हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने॥"**

यह आत्म-समर्पण क्या था ? उसी कर्म मार्ग में जुट जाना जो राम जी पहले निर्धारित कर चुके थे। उसी के पालने में वे अपने जीवन का फल मानते थे।

**"मति रामहिं सों गति रामहिं सों, रति राम सों रामहिं को बलु है।
सबकी न कहै 'तुलसी' के मते, इतनो जग जीवन को फलु है॥"**

राम की यह गति कैसी है ? वही है, जिसका वर्णन अतिलघुरूप में रामचरित-मानस में कर दिया है। राम के इन चरित्रों के अनुपालन के लिए ही वे लोगों को पुकारते चले जाते थे—

**"युक्ति बेधि पुनि पोहिये, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, शोभा अति अनुराग॥"**

कर्म के इस महत्व को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले अपने उक्त आचार और विचार को प्रदर्शित करते हुए, तथा कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के स्थायित्व की अनिवार्य आवश्यकता पर बल देते हुए तुलसी ने छुआछूत और जाति-पाँति के कठघरों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है कबीर, दादू आदि ने मुसलमान-हिन्दू के बीच कौमियता का तथा हिन्दू-हिन्दू के बीच अस्पृश्यता या जातीयता मिटाने का कार्य खाना-पीना एक करके शुरू कर दिया था, परन्तु तुलसी को उनकी उक्त नीति अमान्य थी क्योंकि उसमें कर्म-तत्व पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की उपेक्षा की जा रही थी। इससे उन्हें यह भय हुआ कि समाज मे आत्म-विकास के मार्ग में रोड़े अटकेंगे और फलतः मानवता की जागृति मे रुकावट होगी। इसलिये 'कर्मप्रधान विश्व करि राखा' की बिगुल फूँकते हुए वे शरीर से सम्बन्धित जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ने लगे, और छुआछूत के भूत को ठुकराते हुए कर्मो पर दृढतापूर्वक आरूढ होकर समाज-क्षेत्र में विचरने लगे। स्वच्छता पर ध्यान रख, वे चाहे जिसके हाथ का भोजन और पानी लेने लगे, और भंगियों तक को स्पर्श कर उनका सत्कार

करने लगे।[३५] उन्होंने डंके की चोट पर यह घोषित करना प्रारम्भ कर दिया कि उनके इस कार्य को देख यदि उन्हें कोई पोच कहे या जुलाहा आदि ही कहे तो उसकी उन्हें कोई परवाह नहीं——

"लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोचु।
मेरे व्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं॥"[३६]

अथवा

"धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोउ॥"[३७]

रूढ़ियों की संकीर्णता में बँधे हुए लोगों के इन व्यंग्यों तथा बहिष्कारों की उन्हें चिन्ता इसलिये नहीं थी कि वे मानवमात्र को स्नेह और सम्मान का पात्र मानते थे और सबसे वैसा ही बर्ताव करने के लिए आग्रह करते थे।

"राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह सबही को सनमानिये॥"[३८]

राम का गुलाम अथवा खुदा का बन्दा यह सोचकर कर्म नहीं करता कि कर्म फलित होगा या नहीं, और होगा तो कब, क्योंकि वह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' वाले सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित रहता है। फिर भी यह कहना कि तुलसी की तत्सम्बन्धी योजना अफलित हुई पूर्ण सत्य नहीं है। तुलसी ने उसी परिश्रमशील चतुर कृषक का काम किया जो किसी ऊसर बंजर भूमि को यथाशक्ति सुधार कर उसमे बीजारोपण

---

३५. तुलसी ग्रन्थावली (खण्ड ३), प्रस्तावना, पृ० ५१ पर किसी वार्ता के आधार पर यह लिखा है कि 'एक बार काशी में आये हुए एक अयोध्यावासी भंगी का गोसाईं जी ने बड़ा सत्कार किया था।'

३६. विनय पत्रिका—७६।

३७. कवितावली, उत्तर काण्ड, १०६।

३८. कवितावली उत्तर काण्ड—१०८।

कर देता है। उसकी मृत्यु के उपरान्त योग्य संतति उसका सिंचन करती गई। इस योग्य सन्तति में से दो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—एक आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती, और दूसरे अहिंसा-तत्व के पुजारी महात्मा गांधी। संयोगवश दोनों की मातृ-भाषा गुजराती थी, दोनों का जीवन भारत में अंग्रेजी-राज्य के समय व्यतीत हुआ, और दोनों अपने अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे।

तुलसी ने मुसलमानी राज्य और मुसलमानियत की जड़ हिलाई, तो इन दोनों ने अंग्रेजी-राज्य और ईसाइयत को हिलाना प्रारम्भ किया। इधर एक ओर जब तुलसी अपनी क्रान्ति के प्रसार कार्य के द्वारा मुगलों को हिलाने मे लगे थे, तब उधर दूसरी ओर जहाँगीर के समय मे ईसाई मतावलम्बी पोर्तगीजों (पुर्तगालवासियों) ने अपना रंग जमाना शुरू कर दिया था, यहाँ तक कि शाहजहाँ को गद्दी पर बैठते ही सन् १६३१ ई० मे उनके विरुद्ध सशस्त्र सेना भेजनी पड़ी थी। उनके पश्चात् फ्रेंच (फ्रांसवासी) और अंग्रेज (इंग्लैंडवासी) भी भारत में आये तथा व्यापार के बहाने तीनों भारत भूमि पर जमते गये, जब मुगल बादशाहत के पैर लड़खड़ाने लगे। तब इन तीनों पाश्चात्य-शक्तियों में प्रभुत्व के हेतु पारस्परिक सशस्त्र युद्ध होते गये, तथा अन्त में अंग्रेजों का ही प्रभुत्व रहा और मुगल बादशाहत का अन्त हुआ। इन तीनों के आने पर मुसलिम साम्प्रदायिकता के साथ साथ ईसाई साम्प्रदायिकता भी भारत में छिछल रही थी। जिस तरह मुसलमानी राज्यों के युग मे मुसलमानियत हिन्दुत्व अथवा हिन्दू जाति को अपने बल और छल-छिद्र के द्वारा समाप्त करने में लगी रहती थी, उसी प्रकार इन ईसाइयों ने उसे हड़प करने के लिये कुछ नए तरीके अपनाना प्रारम्भ कर दिये थे। तुलसी हिन्दुत्व को विनाश करनेवाली जाति-पाँति और छुआ-छूत की कुप्रथा को नहीं मिटा सके। उसी का लाभ उठाकर ईसाइयों ने तलवार के बल पर तो नहीं, वरन् मिशनरियों (missionaries) के शिक्षालयों तथा औषधालयों आदि तथा विविध प्रकार के प्रलोभनों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने में होड़ाहोड़ मचा रखी थी। भारत जिस समय

इस परिस्थिति में पड़ा हुआ था उस समय तुलसी के द्वारा प्रारम्भ की हुई क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिये श्री दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ। तुलसी को मरे लगभग सवा दो सौ वर्ष हुए थे जब इस महात्मा ने इस आर्यभूमि पर जन्म धारण किया। उस समय तक अंग्रेजों का सूर्य चमक उठा था। अनेकों न केवल ईसाई बनते जा रहे थे, वरन् सारे देश के रहन-सहन, खान-पान तथा बोल-चाल आदि प्रायः सभी प्रकार के जीवन में पश्चिमी संस्कृति का रग चढ़ता जा रहा था। इसका मूल कारण वही हमारी मूर्खता-पूर्ण हीनता थी, जो तुलसी के समय मौजूद थी। मुसलमानियत कुछ दब पाई थी कि ईसाइयत ने और आकर गला पकड़ना प्रारम्भ कर दिया। तब जिस प्रकार तुलसी ने 'निगमागम सम्मत' कहकर अर्थात् निगम (वेदों) और आगम (पुराणों) का आश्रय लेकर हिन्दुत्व को जगाना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार दयानन्द ने केवल वेदों का आश्रय ले आर्यत्व (हिन्दुत्व) को जगाया। जिस प्रकार तुलसी के सामने जाति-पाँति और छुआछूत का कठिन प्रश्न था, उसी प्रकार वही प्रश्न दयानन्द के सामने उपस्थित था। इसलिये जिस तरह तुलसी ने जाति पाँति को तोड़ना, छुआछूत को मिटाना और गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित, वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार करना शुरू किया था, उसी प्रकार दयानन्द जी ने भी किया। तुलसी ने अपना क्रान्ति-घोष यदि स० १६३१ (सन् १५७५) में 'रामचरित मानस' के द्वारा किया तो दयानन्द ने अपना क्रान्ति-घोष सं० १९३९ (सन् १८८३) में "सत्यार्थ प्रकाश' द्वारा मचाना प्रारम्भ किया।

जब देश में इस प्रकार की कठिन समस्याएँ आती हैं तब सभी देश-प्रेमियों के हृदय मे उनका सामना करने के लिये एक तड़क सी उठती है और सभी अपनी-अपनी मति के अनुसार उससे पार होने के उपाय जनता के समक्ष प्रस्तुत करते है। जिस प्रकार तुलसी के युग मे कबीरपन्थी, दादूपन्थी आदि तत्कालीन समस्या को गलत तरीके से हल करने का मार्ग बता रहे थे, उसी प्रकार दयानन्द सरस्वती के युग में राजा राममोहन राय के द्वारा प्रणीत ब्रह्म-समाज गलत राह पर जनसाधारण को ले जा रहा

था। इसलिये तुलसी को जिस तरह अपने युग के उक्त पन्थों की आलोचना करनी पड़ी, उसी तरह दयानन्द जी को ब्रह्म समाज की भूल पर प्रकाश डालना आवश्यक हुआ। उन्होने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रायः सभी प्रचलित मतों या पन्थो का जिनमे कबीर, नानक, दादू आदि के पंथ भी हैं, खण्डन किया है और उसी सिलसिले मे उन्होने ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की त्रुटियाँ बताई है। उनकी उस आलोचना से स्पष्ट होता है हर देशोद्धारक को अपनी मूल संस्कृति का आधार लेकर अपनी योजना बनाना चाहिये। विस्तार भय से उक्त आलोचना का पूरा अवतरण न देकर उसका तद्विषयक केवल प्रथम और अन्तिम वाक्य ही पाठकों के अवलोकनार्थ देना पर्याप्त होगा। अब प्रश्नकर्ता ने उनसे पूछा कि "ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज तो अच्छा है या नहीं ?" तो उन्होंने कहा "कुछ-कुछ बातें अच्छी है और बहुत सी बुरी है।.. इन्होंने यही समझा होगा कि अँग्रेज, यवन, अन्त्यजादि के साथ खाने-पीने और जाति-भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उलटा बिगाड़ होता है।"[३९]

जाति-पाँति के परम विरोधी स्वामी दयानन्द के मुख से निकला हुआ उक्त कथन वैसा ही भ्रमोत्पादक प्रतीत होता है जैसा कि तुलसी के मुख से निकले हुए 'पूजिय विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना' आदि कथनों से लोग उन पर जाति-भेद के पक्षपात का दोषारोषण करने लगते हैं। सच बात यही है कि दोनों प्रचलित जाति उपजाति-भेद के कट्टर विरोधी थे, और दोनों शास्त्र-संमत उस वर्ण-व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे, जिसमें यह क्षमता थी कि अज्ञात कुल का जाबाल, क्षत्रिय कुल का विश्वामित्र तथा चांडाल कुल का मातंग ब्रह्मर्षि पद के भोक्ता बन सकते थे। दयानन्द जी का अभिप्राय उक्त कथन से इतना ही है कि अपनी संस्कृति को बिना समझे-बूझे दूसरे की आडम्बरी नकल करने में देशहित नहीं होता उलटी हानि ही होती है। तुलसी का भी यही अभिप्राय था और यही उन्होंने कहा

---

३९. सत्यार्थ प्रकाश, ११ वाँ समुल्लास।

था। गांधीजी ने भी यही किया वा कहा। हमें स्मरण है कि गांधी जी ने एक बार अपने उस प्रश्नकर्ता को जिसने चीन या रूस की क्रान्ति के विषय में प्रश्न छेड़ा था, यही उत्तर दिया था कि अपनी संस्कृति (cultue) को त्याग कर दूसरे की होड़ करना अच्छा नहीं होता। आपको आश्चर्य होगा कि स्वामी दयानन्द ने दर्जनों मतों का खण्डन अपने सत्यार्थ-प्रकाश मे कटु-कटु शब्दों से किया है उन्होंने तुलसी मत के विषय मे एक शब्द भी नहीं कहा, हालाकि उस समय रामचरित मानस का घर घर प्रचार हो रहा था। इसका प्रधान कारण यही हो सकता है कि तुलसी ने अपनी योजना को आर्यावर्त की मूल संस्कृति पर ही आधारित किया था, भले ही दयानन्द जी ईश्वरावतार को नही मानते थे और न देव-देवियों की पूजा को महत्व देते थे, क्योंकि तद्विषयक मूर्ति-पूजा तथा -पंडा-पूजारियों की धाँधलियों से, जो आर्य संस्कृति में धब्बा लगा रही थीं, उनका मन ऊब उठा था। यदि कोई यह देखकर कि दयानन्द जी ने शैव और वैष्णव मतों का खण्डन किया है, कहे कि तुलसी-मत का अलग से खण्डन करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि वे वैष्णव-मतावलम्बी थे, तो हमारी समझ में वे न तुलसी को समझे और न दयानन्द जी को ही समझे। तुलसी कुछ वैष्णवता अथवा शैवता का प्रतिपादन करने नहीं बैठे थे और न यह कहने बैठे थे कि विष्णु या शिव या हरि-अवतार राम-नाम की माला टालते हुए मौज करते रहो। वे कहने और बताने चले थे कि कर्तव्यपरायण होकर मानव बनो और बनाओ, तथा देश का कल्याण करो वा कराओ। यही स्वामी दयानन्द जी का उद्देश्य था। यही कारण हमें प्रतीत होता है कि तुलसीकालीन परिस्थितियों को तथा तदनुकूल तुलसी की योजना को भली-भाँति समझकर उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश मे कबीर, दादू आदि के साथ तुलसी के विरुद्ध कुछ आलोचना करना आवश्यक नहीं समझा।

एक ओर क्रान्तिकारी दयानन्द जी हैं जिन्होंने मौन रहकर ही तुलसी की क्रान्ति को मान्यता दी, परन्तु दूसरी ओर क्रान्तिकारी गांधी जी हैं जिन्होंने खुले शब्दों में उनकी तथा उनकी क्रान्ति की प्रशसा ही की है, जैसा

हम पहले कह आये हैं। उन्होंने जब देखा कि तुलसी जाति-पाँति के भेद तथा छुआ-छूत को मिटाने का एक प्रकार से केवल बीज बो पाये थे, तथा उनके बाद दयानन्द एवं श्रद्धानन्द आदि उनके अनुयायी भी उन्हें खोदकर फेंक देने का धनुष नहीं तोड़ पाये तो उन्होंने उसी कार्य को आगे बढ़ाना जारी रखा। उक्त धनुष का एक अल्पांग तोड़ने का सौभाग्य उनकी मृतात्मा को उस समय प्राप्त हो सका जब कांग्रेस शासन ने जाति-पाँति तोड़क कुछ कानून बनाकर खंडभारत में लागू कर दिये। यद्यपि यह सत्य है कि इन शासकीय विधानों से सामाजिक वाह्य-समत्व की स्थापना करने में पर्याप्त योग मिलेगा तथा हिन्दू-जाति मुसलमान-ईसाई होने से बच जावेगी, तथापि वर्तमान शासकीय और सामाजिक रवैयों को देख यह भी सत्य दिखाई देता है कि वर्ण-व्यवस्था का आ जाना शताब्दियों तक सम्भव नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि गांधी जी की मृतात्मा को कानूनों के द्वारा समत्व लादने की बात से विशेष सन्तोष न हुआ होगा, क्योंकि वह बल का प्रतीक है न कि नियंत्रित आत्म-विकास का, जिसके लिए ही उनकी योजना जगत में प्रसिद्ध है। जैसा कुछ भी हो, पर यह कहना तर्क-विरुद्ध नहीं कहा जा सकेगा कि जाति-पाँति, छुआ-छूत एवं वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित जिस कार्य को तुलसी ने बीज रूप में प्रारम्भ किया उसमें आज लगभग चार सौ वर्ष बाद कुछ कच्चे से फल लगना शुरू हो गये हैं।

(२) लोक-गति-वश आश्रम-व्यवस्था की निष्फलता

क्रान्तियाँ एकमुखी प्रतीत होते हुए भी बहुमुखी हुआ करती हैं यह हम पहले देख चुके हैं। उसी के अनुसार तुलसी की क्रान्ति भी थी। एक अकेले समाज क्षेत्र (social field) ही मे उसके कई अंग थे। एक तो था यही वर्ण-व्यवस्था और दूसरा था आश्रम-व्यवस्था। आश्रम-व्यवस्था को दयानन्द और गाधी की योजनाओं में भी उतना ही प्रमुख या उच्च स्थान दिया गया था जैसा कि तुलसी की योजना में था, क्योंकि वह उस मूल आर्य-सस्कृति ही का एक प्रधान अंग है, जिस पर दोनों की क्रान्तियाँ खड़ी की गई थीं। इसकी सफलता की ओर समाज या शासन का कोई ध्यान नहीं रहा।

शासन ने केवल शिक्षा के रूप में ब्रह्मचर्याश्रम तथा विविध प्रकारेण गृहस्थाश्रम की ओर ध्यान दिया है। इस सृष्टि मे, केवल इन दो आश्रमों के विषय में कहा जा सकता है कि उनमे तुलसी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है। परन्तु सच पूछा जाय तो यह वृद्धि केवल देखने मात्र की है क्योंकि उनका बहाव मूलादर्श से विमुख हो रहा है। पर यह कहते हर्ष होता है कि दयानन्द युग मे, हमारी समझ मे दयानन्द-मत की नवीनता के कारण चारों आश्रमों की गति व्यवस्थित रूप से चली, हालाँकि वह मन्द ही रही। गांधी जी की प्रेरणा से भी स्वराज्य आन्दोलन के समय तत्कालीन ब्रिटिश-शासन से असम्बन्धित कुछ स्वतंत्र शिक्षालय अवश्य खोले गये पर वे अल्पजीवी ही रहे। इसको छोड़ गाधी युग अर्थात् वर्तमान युग मे वानप्रस्थ और संन्यास का तो प्राय: लोप सा होता जा रहा है, क्योंकि पश्चिमी अर्थशास्त्री तथा सामाजिक नीति ने, जिसने सर्व संसार मे अपना छत्र तान रखा है, हमारा लक्ष्य केवल उत्पादन-वितरण आदि क्रियाओं में इतना बिद्ध कर रखा है कि हमने अपने आत्म-विकास के विचारों को एक कोने में गठिया कर रख छोड़ा है। दयानन्द युग मे गुरुकुल आदि की स्थापनाओं के द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम को जो योग मिल रहा था और जिसके फलस्वरूप कुछ थोड़े-बहुत योग्य गृहस्थाश्रमी हो जाया करते थे वह भी आजकल शिथिल होता जा रहा प्रतीत हो रहा है। इसका मूल कारण है गुरुकुल संचालकों मे इस भावना का आना कि उनके ब्रह्मचारियों को सरकारी नौकरियाँ मिल सकें और सरकारी विश्वविद्यालय उन्हें मान्यता दे। विस्तार भय से इस प्रसंग को यहीं समाप्त करके इतना ही कहना आवश्यक है कि आश्रम व्यवस्था न तो फलीभूत हुई और न वर्तमानकालीन केवल लौकिक घुड़दौड़ के कारण उसके पुनरुत्थान होने के कोई लक्षण ही प्रतीत होते।

(२) बाल-विवाह और बहु-विवाह का विरोधात्मक शिलारोपण और उसके भावी परिणाम

आश्रम-व्यवस्था की हीनता के अतिरिक्त तुलसी को स्वकालीन समाज में वैवाहिक अथवा पति-पत्नी-सम्बन्धी कुछ कुरीतियाँ भी दृष्टिगोचर

हो रही थीं। एक थी बहु-विवाह अथवा बहु-नारियों की कुप्रथा, और दूसरी थी बाल-विवाह की प्रथा। बाल-विवाह की प्रथा के कारण स्वयंवर (self-cho'ce) की प्रथा लुप्तप्राय हो चुकी थी। यद्यपि तुलसी अपनी क्रान्ति योजना मे इन्हें स्थान देना नही भूले थे, तथापि उन्होने उन पर प्रतिबन्ध लगाने के हेतु कारणवश कोई विशेष प्रयास नही किया। उन्होंने उनकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के हेतु केवल अपने आदर्श नायक-नायिका चरित्र-चित्रण पर्याप्त समझा, जैसा हमारे तत्सम्बन्धी पूर्व विवेचन से ज्ञात हुआ होगा। वयस्क राम और सीता का वैवाहिक स्वयंवर सब के लिए अनुकरणीय रूप मे तुलसी ने प्रदर्शित कर दिया था, हालांकि उन्होने स्वयंवर और कन्या की अवस्था के विषय में कही स्पष्ट नहीं कहा है, और न कोई ऐसा सकेत ही किया है जिससे कुछ सत्यप्राय अनुमान लगाया जा सके।

राम के विषय में केवल एक यह संकेत अवश्य मिलता है कि जिस समय विश्वामित्र उन्हे एव लक्ष्मण को अपने सग यज्ञ-रक्षार्थ ले गये थे, तब वे 'किशोर' थे। 'किशोर' सामान्यतः ११ वर्ष से १५ वर्ष तक के बालक को कहते है। वाल्मीकि रामायण (१।२०।२) में उसी प्रसंग के समय राजा दशरथ ने विश्वामित्र मुनि को बताया कि कमलनयन मेरा राम अभी तो पूरे सोलह वर्ष का भी नहीं हुआ है (ऊनषोडश वर्षो मे रामो राजीवलोचनः)। उस समय से विवाह-सस्कार होते तक जो घटनाएँ घटीं, उनके लिए यदि दो वर्ष का समय रख लिया जाय तो साधारणतया अलौकिक नहीं कहा जा सकेगा। इस दृष्टि से यह स्थिर करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि, विवाह के समय राम लगभग १८ वर्ष के रहे होगे। यदि यही कहो कि अवध से विश्वामित्र के संग जाने से लेकर विवाह-संस्कार तक सभी कुछ जादूगिरी चुटकी के बजाने के समान क्षणमात्र में हो गया होगा तब भी यह तो मानना ही होगा कि वे विवाह के समय सोलह वर्ष से कम के नहीं थे। राम-काल में वयस्क की अवधि क्या मानी जाती थी, इसका अनुमान पौराणिक गाथाओं एवं मीमांसकों तथा स्मृतिकारों के

ग्रन्थों से सहज ही लग जाता है कि एक मत के अनुतार १५ वें वर्ष की समाप्ति पर, और दूसरे के अनुसार १६ वें वर्ष की समाप्ति पर बालक वयस्क (Major) कहलाने लगता था। (देखो Mulla's 'Principles of Hindu Laws' 12th Edition, 1959, P. 678) इतना ही क्यों, सोलह वर्ष का पुत्र इसी वयस्कता के कारण पिता के द्वारा मित्र जैसा माना जाने योग्य हो जाता था। (प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्—चाणक्यनीति) वाल्मीकि और तुलसी, दोनों ने, प्रतीत होता है, वयस्कसंबधी इन्हीं नियमों को ध्यान मे रख अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युक्त सकेत दिये हैं।

परन्तु जानकी की उस समय क्या अवस्था थी, इसका कोई सकेत न तो 'मानस' में मिलता है, और न वाल्मीकि रामायण या अध्यात्म रामायण आदि ही मे। फिर भी पुष्प-वाटिका के प्रसग के समय सखी-सहेलियों के साथ उनका जो वार्त्तालाप हुआ तथा राम के प्रति उनके मन मे जो प्रीत्यात्मक भाव-तरगें उमड़ाईं, उन्हें, एवं धनुष-भंग पश्चात् धनुष-यज्ञशाला में भरे राज-दरबार के बीच आनन्द-उमगों से परिपूर्ण मन के साथ उनके द्वारा राम के पास तक जाने और उनके गले में जयमाला पहिनाने के दृश्यों को देखते हुए यह अनुमान लगाना कि उनमें उस समय पति-पत्नी भाव की जागृति होने अथवा वृत्ति उठने की क्षमता आ चुकी थी, गलत न होगा। अत: यदि यह कहा जाय कि विवाह के समय वे लगभग १४ वर्ष की रही होंगी; तो कुछ असत्य न होगा।

संभव है हमारे द्वारा अनुमानित इस १८ और १४ वर्ष वाली युक्ति के विरोध में आप हमें निम्न दोहा सुनाकर यह बतावें कि विवाह के समय राम केवल १५ वर्ष के थे और जानकी केवल ६ वर्ष की एक अबोध बालिका थीं।

वर्ष अठारह की सिया, सत्ताइस के राम।
कीन्हों मन अभिलाष तब, करनो है सुर-काम॥

हमने भी इस दोहा को भूतपूर्व पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत सटीक रामचरित मानस के अयोध्या कांड के आरम्भ में एक क्षेपक के रूप में देखा

है और उसका अर्थ भी उन्हीं पंडित जी द्वारा किया गया पढ़ा है, जिसमें यह बताया है कि राम के मन में जब उक्त सुर-काम करने की बात उठी तब उनका विवाह हुए बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे, किन्तु हमारे उपर्युक्त विचार-विमर्शन की दृष्टि से उक्त क्षेपक के आधार पर उक्त अवस्थायें, विशेषत: जानकी-विषयक ६ वर्ष वाली युक्ति पाठकों, को स्वत: हास्यास्पद प्रतीत होगी। प्रतीत होता है कि क्षेपककार, जो भी वह रहा हो, उक्त क्षेपक को लिखते समय 'पाराशर-स्मृति' अथवा काशीनाथ भट्ट कृत 'शीघ्र-बोध' में लिखित निम्न श्लोक से प्रभावित था—नहीं, वह तो उससे भी कहीं अधिक नीचे खिसक गया है।

अष्टवर्षा भवेत् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दश वर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्व रजस्वला॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम्॥

हमारी एवं सत्ताइस और अठारह वर्ष वाली बात पर हम अपने विचार ऊपर प्रकट कर चुके है। परन्तु तुलसी के 'रामलला नहछू' को पढने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो राम का विवाह वैसे ही छुटपन में हुआ हो जैसी कि प्रथा तुलसी-युग में देखी जा रही थी। भ्रम उक्त ग्रन्थ के निम्न छन्द से हो उठता है।

'गोद लिये कौसल्या बैठी रामहि वर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आंचर हो॥'[४०]

हमें यह ज्ञात है कि हिन्दुस्तान में सामान्य जनता सभी वैवाहिक रीति-रस्मों को, दूलहा-दुलहिन चाहे वयस्क हों या अवयस्क; एक समान मानती हैं। तब राम-सीता की उक्त अवस्थाओं को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं उठती, क्योंकि तुलसी का उद्देश तो यही था कि राम चाहे बड़े रहे

---

४०. रामलला नहछू, ९।

हों या छोटे उनसे सम्बन्धित साहित्य अधिक से अधिक मात्रा में झोपड़ी और महलों में एक समान पहुँचे। 'नहछू' नाइन के द्वारा पैरो के नखों को काटने तथा महावर लगाने की प्रथा का नाम है। यह बरात जाने के पहले दूलह के प्रति मनाई जाती है। इसी का दृश्य तुलसी ने 'रामलला नहछू' में खीचा है। परन्तु चूँकि राम बरात के साथ गये ही नहीं थे--वे पहले से जनकपुर ही मे थे, इसलिये यही मानना पड़ेगा कि तुलसीदास जी ने जो कुछ 'रामलला नहछू' मे लिखा है उसके द्वारा उन्होंने केवल मनोरंजनार्थ अपने समय की प्रथा का चित्रण किया है। इस निदान पर पहुँचने के पश्चात् यह भी आवश्यक नहीं रहता कि हम पडित रामगुलाम द्विवेदी के इस मत को मानें कि यह "नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है, (क्योंकि) संयुक्त प्रदेश मिथिला इत्यादि देशों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है।"[४१] यदि उक्त द्विवेदी जी की यह बात मान ली जाती है तो 'रामलला नहछू' के कम से कम ९वें और १९वें छन्दों को जिन में राम का दूलहापन स्पष्टत: बताया है, प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा।

हमारा निजी विचार तो यह है, जो सयोगों के जुटने पर भविष्य में यथाविधि प्रकाश में लाया जावेगा, कि 'रामलला नहछू' तुलसी की एक छोटी सी ऐसी उत्कृष्ट रचना है, जिसमें उन्होंने उक्त मनोरंजनी प्रथा के बहाने मानवी आन्तरिक वृत्तियों का एक नाटकीय सुन्दर शिक्षाप्रद दृश्य प्रस्तुत किया है।

बहुविवाह अथवा यह कहिये, एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के सग या एक स्त्री का अनेक पुरुषों के संग का निषेध तुलसी ने अपने नायक-नायिका, राम और सीता के एकपत्नीव्रत और एक पतिव्रत के चित्रण के द्वारा जिस प्रकार प्रकट किया है वह कदाचित् संसार के साहित्य मे अनूठा और अद्वितीय है। सिवाय इसके, तथा इधर-उधर यह कहने के कि वह कर्म निन्दनीय है वे इस सम्बन्ध में और कर ही क्या सकते थे ? बाल-विवाह का विरोध

---

४१. तुलसीग्रन्थवाली, खण्ड ३, प्रस्तावना, पृ० ६६।

उन्होंने स्पष्ट रूप से बलपूर्वक शब्दों में, हमारी समझ मे इसलिये नहीं उठाया कि उस युग में मुसलमानी आतंक और अत्याचारों के कारण कन्याओं की पवित्रता को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से यही आवश्यक था कि उनका विवाह अल्पायु में ही कर दिया जाय। इसी कारण से 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' आदि वाले अर्थ-प्रदर्शक श्लोकों का समाज के कुछ हितचिन्तकों ने निर्माण किया होगा, और इसी कारण मे तुलसी ने उनके विरुद्ध कोई छेड़-छाड़ करना आवश्यक नहीं समझा। जब बाल-विवाह का विरोध नहीं किया जा सका तो स्वयंवरों का समर्थन क्योंकर हो सकता था? इसलिये समयानुसार जितना तुलसी बहु-विवाह और बाल-विवाह के विरुद्ध कर सके उतना ही किया, और शेष कार्य दयानन्द सरस्वती तथा गांधी की क्रान्तियों के लिये छोड़ गये। दयानन्द जी ने उनके विरुद्ध पर्याप्त जोरदार आन्दोलन उठाया और उनके पश्चात् आर्यसमाजियों ने भी उसे काफी अग्रसर किया। इस सम्बन्ध में आर्यसमाज के द्वारा जो जन-जागृति हुई उसका लाभ गांधी और उनके अनुयायियों को मिला, जिसका परिणाम यह है कि हमें आज उन कुप्रथाओं पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कुछ आवश्यक कानून लोक-सभा और विधान-सभाओं में पारित रूप में देखने को मिल रहे है। इस सम्बन्ध में तुलसी को इतना ही श्रेय है कि उन्होंने उनके विरुद्ध उस समय आवाज उठाने का साहस किया जब कि समाज सशंकित, भयभीत और घोर अन्धकार में था। यदि काम-रत मुसलिमों एवं मुसलमानी तथा हिन्दुस्तानी राजाओं का जमाना न बदला होता और शासन-परिवर्तनों के साथ-साथ पूर्व प्रकार के हरमों एवं रनिवासों का अन्त समय न आया होता तो कदाचित् स्वामी दयानन्द वा आर्यसमाज को उस मार्ग पर सफलतापूर्वक बढते जाने का अवकाश कठिनाई से हाथ लगता, और गान्धी की अनुयायी [illegible] सरकार भी इतने छोटे काल में जो प्रत्यक्ष सफलता प्राप्त कर सकी है वह भी न कर पाती। इन कानूनों के द्वारा तलाकों अर्थात् पति-पत्नी-सम्बन्ध-विच्छेदों (Divorces) तथा पंजीबद्ध विवाहों (Registered marriages) को जो प्रोत्साहन दिया

गया है और फलतः विवाहसम्बन्धी आर्य संस्कृति में निहित धार्मिक भावनाओं के स्थान मे अन्य जातियों की देखा-देखी जो कान्ट्रेक्ट (Contract) का भाव उत्पन्न किया गया है उससे हिन्दू समाज को ..िक ..भ होगा या कि उलटी हानि, जैसी कि अन्य देशों मे दिखाई देती है, यह तो भविष्य ही बतावेगा। परन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उससे तुलसी की आत्मा को सन्तोष न हुआ होगा प्रत्युत दुःख ही हुआ होगा।

ये कानून क्या है, मानो 'स्वयंवर' के दुवाजुये-दुरगे नाटकीय कानूनी चित्रपट। वे स्वतंत्रता को नही; स्वछंदता को प्रोत्साहन देने के लिए गढ़े गये है। स्वतत्रता अनुप्राणित होती है, मर्यादाओं से। इसके विपरीत स्वछदता उनमे खिलवाड़ करती हुई उन मर्यादाओं के संग विहार करने मे मग्न रहती है। तुलसी के धनुष-यज्ञीय 'स्वयंवर' मे मर्यादा की वैसी ही उज्ज्वल झलक है, जैसी 'मानस' मे वर्णित अनेक प्रसंगों के समय झलकाई गई पाई जाती है। उनके 'स्वयंवर' मे उभयपक्षीय गुरुजनों का न केवल मार्ग-निर्देशन ही व्याप्त रहता है, वरन् उनके निर्देशानुसार वर्तने के फलस्वरूप उनका हार्दिक शुभाशीर्वाद भी निहित रहता है। उसमें गुरुजनों की परिपक्व बुद्धि और अनुभूति पर आधारित वर-कन्या के समस्त भावी जीवन के प्रति चतुर्दिकी अथवा त्रिविधा हिताकांक्षा लहराती है, न कि वरण करने के इच्छुक युगल जोड़ीदारों की केवल दैहिक काम-लिप्सा अथवा भौतिक सुख-समृद्धि मात्र की लालसा। यदि ऐसे मर्यादाप्रधान आदर्शनीय 'स्वयंवर' के अद्वितीय कुशल प्रस्तुतकार तुलसी की स्वर्गीय आत्मा को इन कानूनी नाटकीय चित्रपटों को देख दुख हुआ हो, अथवा रोता हो, तो क्या आश्चर्य।

(४) हिन्दू जाति के अस्तित्व को खतरा से बचाया—

हिन्दू जाति के ह्रास का एक महाभयंकर कारण यह था कि बहुत से हिन्दू लौकिक कारणों के वश स्वधर्म परिवर्तन कर मुसलिम धर्मावलम्बी बनते हुए मुसलिम-सख्या नित्यप्रति बढ़ाते चले जाते थे, जैसा कि हम

गत आठवें अध्याय में कह आये है। तुलसी की रचनाएँ धर्मप्रधान हैं और उनमें मानस की रचना सबसे प्रमुख है, यह सब जानते है। मानस-प्रचार तथा तुलसी के व्यक्तिगत प्रयास मे इस सम्बन्ध मे उन्हें कितनी सफलता मिली इसका ठीक ठीक निदान तो तभी निकाला जा सकता जब तत्संबधी तत्कालीन विश्वसनीय ऑकड़े मिलने का साधन उपलब्ध होता। परन्तु उनकी अनुपलब्धि की स्थिति मे केवल अनुमान लगाया जा सकता है। यह अनुमान हमारा ही नही, वरन् प्राय: सभी अनुसंधानकर्ताओं का है कि यदि तुलसी न हुए होते और उन्होंने मानस की रचना न की होती तो हिन्दू जाति का अस्तित्व बड़े खतरे मे रहता। उन्होने उसे डूबने से बचाया, इसमे कोई सन्देह नही है। यदि उन्होंने निर्भीकता का पाठ न पढ़ाया होता, लौकिक प्रलोभनों का तिरस्कार करना न बताया होता, छल-कपट से बचने के लिए सतर्क न किया होता, तथा उनसे भी अधिक स्वधर्म की श्रेष्ठता प्रकाशित कर घर-घर मानस के पठन-पाठन मे रुचि उत्पन्न न की होती तो न जाने कितनी और कब तक यह भीरु जाति मुसलिम बनती जाती।

(५) मानसिक आधार पर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रारम्भ––

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसी साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू जाति के हिमायती थे और मुसलिम जाति के शत्रु। यदि वह साधु स्वभाव के न होकर मुसलिमों के प्रति साधारण मनुष्यो के समान द्वेष, क्रोध, घृणा आदि का प्रदर्शन करते हुए कार्य करते तो मुसलमान भी उनके प्रति वैसी ही भावनाएँ रखते और हिन्दू-मुसलिम के बीच मे एकदेशीयता का भाव अकुरित न हो पाता। एकदेशीयता का बीजारोपण राजनीति-कुशल अकबर के शासनकाल मे उसके चतुर मंत्रियों के सहयोग से प्रारम्भ हो गया था। सूफियों, नानक, कबीर, दादू आदि पन्थियों ने अपने अपने ढंग से उसमें बाहर से योग दिया। परन्तु तुलसी ने वही कार्य अपने निराले धार्मिक तरीके से राजशाहियों तथा उक्त पन्थियों से असम्बन्धित रहकर शुरू किया और जीवन पर्यन्त उसमें जुटे रहे। परिणाम यह हुआ कि दोनों के बीच न केवल

खान-पान आदि बाहरी व्यवहारों ही मे समानता आई, बल्कि मानसिक परिवर्तन के कारण मनमुटाव भी कम होता गया। इसका प्रत्यक्ष रूप तुलसी की मृत्यु के पश्चात् उस समय दिखाई देता था जब दोनों हिन्दू-मुसलमान स्वदेशी होकर विदेशी पोर्तगीज, फ्रेंच या अंग्रेज जाति के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में एक साथ आ उतरे थे। फिर उसका सबसे स्पष्ट परिचय सन् १८५७ में हुआ जब कि हिन्दुस्तान भर मे हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर अग्रेजी शासन से स्वतत्र होने के लिये छटपटाहट मचा दी थी। साराश यह है कि मानसिक सफलता के बिना केवल वाह्य अथवा शारीरिक समानता के प्रदर्शन करने मे स्वदेशीयता का भाव नहीं आ सकता; और मन को परिवर्तित करना कोई सरल काम नहीं होता। उसके लिये बहुत काल तक सतत प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। चूँकि तुलसी की योजना का लक्ष्य यही मानसिक परिवर्तन था, इसलिए उसके परिणाम को प्रत्यक्ष होने में अधिक काल का लगना स्वाभाविक था। यद्यपि यह सत्य है कि कुछ ऐसे आपत्तिग्रस्त घटना चक्र आ जाते है कि जिनके कारण प्रजा में मानसिक एकता का कार्यान्वित हो जाना स्वाभाविक होता है। तुलसी के बाद पश्चिमी शक्तियों के द्वारा इस प्रकार की कई घटनायें हिन्दुस्तान पर घटाई गईं। जिनके कारण हिन्दू-मुसलिम मे एकता के भाव को बल मिला। परन्तु यदि तुलसी ने उसके आदि रूप को गढना प्रारम्भ न किया होता तो सम्भव है हिन्दू मुसलमान को और मुसलमान हिन्दू को शत्रु समझ एक दूसरे को कुचल डालने के अभिप्राय से अन्य किसी तीसरी शक्ति से अपना नाता जोड़ते रहते। और जब तुलसी जैसा कोई देश में न रहा तब यह हुआ भी। अंग्रेजों ने दोनों की संयुक्त शक्ति को इस तरह फोड़ डाला कि गांधी के सौ प्रयत्न करने पर भी आज यह दिखाई देता है कि भारत के दो टुकड़े होकर ही रहे और हिन्दू मुसलमान तीसरों के कोंछरे लगकर एक दूसरे पर दाँत पीस रहे हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि भाईचारा बनाये रखने के लिए तुलसी ने जो कार्य किया वही अनुकरणीय है। चूँकि मानसिक वृत्तियाँ चंचल होती हैं इसलिए उन्हें नियन्त्रित रखने के लिए तुलसी जैसा सतत प्रयत्न

किसी न किसी को करते रहना चाहिये। तुलसी ने यही किया जिसका फल उन्हें अपने जीवन-काल ही मे इस रूप मे दिखाई देने लगा था कि हिन्दू और मुसलमानों के कार्य-व्यवहारों तथा अन्तर्भावनाओं मे ऐक्य के चिह्न यत्र-तत्र अंकित हो रहे थे, और वही उनकी मृत्यु के पश्चात् समय पाकर क्रमशः विशाल रूप में परिवर्तित होते गये।

(३) अर्थ-क्षेत्रीय प्रमाण—

आठवें अध्याय में हमने तुलसी की पूर्ववर्ती और सम-सामयिक पद्धतियों पर विचार करते समय उनके छः विभाग किये थे—(१) राजनैतिक, (२) आर्थिक, (३) सामाजिक, (४) शिक्षा-सम्बन्धी, (५) धार्मिक और (६) साहित्यिक।

इनमें से हम राज्य-क्षेत्रीय और समाज-क्षेत्रीय परिणामों पर विचार कर चुके। इन दोनों के अन्तर्गत बहुत से विचार ऐसे आ गये हैं जिनके आधार पर आर्थिक, शैक्षणिक और धार्मिक परिणामों का सहज ही अनुमान लग जाता है। राज्य और समाज व्यवस्थाएँ जैसी होती है वैसी ही प्रजाजन की आर्थिक स्थिति हुआ करती है यह एक निर्विवाद ऐतिहासिक सत्य है। तुलसी के समय का आर्थिक चित्र खींचते समय यह बताया गया था कि उस समय में अर्थ-दृष्टि से उच्च और निम्न श्रेणी के बीच असमता की बड़ी गहरी खाईं थी। राजनैतिक दूषणों के कारण मानसिक ह्रास यहाँ तक हो रहा था कि उच्च-निम्न दोनों प्रकार के लोग अपने बेटा-बेटी तक बेच देते थे। तुलसी ने उसे रोकने के लिए आवाज उठाई और उससे इतना फल तो अवश्य लगा, जैसा अभी पूर्व में कह आये है, कि सम्पत्तिवान उस नीच कर्म को छोड़ने लग गये थे। परन्तु निम्न श्रेणी के निर्धनियों की स्थिति मे शताब्दियों तक कोई दृश्यमान शुभ परिवर्तन नहीं हो सका क्योंकि देश मे सुख-शांति का वातावरण जो अर्थोन्नति का प्राणदाता होता है, सैकड़ों वर्षो तक नहीं आया। तुलसी की क्रान्ति का इस सम्बन्ध में इतना ही परिणाम हुआ कि उसने धर्म-भावना से सिंचित मनोगति का इतना उत्थान कर दिया कि जनता पेटाग्नि-वश दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होने की गति को त्यागती गई।

(४) शिक्षा-क्षेत्रीय प्रमाण—

जन-शिक्षण-सम्बन्धी परिणाम भी उपर्युक्त कारणों के विद्यमान रहने से न तुलसी को हाथ लगे और न भावी संतति को। ऊपर कहा जा चुका है कि आर्य-सस्कृति पर आधारित जिस ब्रह्मचर्य-प्रधान शिक्षा का लक्ष्य तुलसी ने बना रखा था, वह आज तक स्वप्नवत् हो रही है। समय की प्रबल गतियों को देखते हुए यह प्रतीत भी होता है कि वह समय कदाचित् ही कभी आवे जब प्राचीनकालीन उन ब्रह्मचर्याश्रमों अथवा गुरु-शिष्य-कुलो का प्रचार हो, जिनमें तुलसी जैसे महात्माओं के मत में जन-कल्याण की सजीव मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं। क्रान्तिकारी अपने जीवन काल मे बहुत कुछ इस ढाँचे के कुछ आश्रम अपने संरक्षण में स्थापित कर चला लेते हैं और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वे कुछ दिनो तक लड़खड़ाते हुए चलते भी रहते हैं, परन्तु अन्त में काल-वायु उन्हें पानी के उठते हुए बुलबुलों के समान छिन्न-भिन्न करके ही छोड़ती है। तुलसी ने यह किया, दयानन्द ने यह किया और गाधी जी ने भी यही किया, पर वे सब 'दुनिया की रफतार बेढंगी' में विलीन होते चले जा रहे है। तुलसी का कोई इस प्रकार का आश्रम था, इसका कोई प्रमाण न होने के कारण, सम्भव है, किसी शका-ग्रस्त द्वारा हमारे उक्त कथन पर आक्षेप किया जाय। परन्तु इतना तो प्रमाणित है कि "गोसांई जी पहले अयोध्या मे आकर रहे थे, और चित्रकूट मे भी प्राय: रहना उनकी कविता में पाया जाता है, परन्तु उनका अधिक निवास काशी में ही रहा और अन्त में वहीं स्वर्गवास हुआ। काशी में गोसाईं जी के चार स्थान प्रसिद्ध हैं—(१) अस्सी घाट, (२) गोपाल मन्दिर, (३) प्रहलाद घाट और (४) सकटमोचन हनुमान।"[४२] गुरु-शिष्य की परम्परा भी निर्विवाद मान्य है, और उसी तरह यह भी मान्य है कि शिष्यों का शिक्षण, विशेषकर सांस्कृतिक शिक्षण गुरु के सम्पर्क मे रहे बिना नहीं होता। तुलसीदास जी के कुछ न कुछ शिष्य अवश्य थे यह भी सबको विदित

---

४२. **तुलसी ग्रंथावली, खं० ३, प्रस्तावना** ३२

है, तथा यह भी सबको ज्ञात है कि वे राम-कथा का प्रचार रामलीला वा प्रवचनों द्वारा किया करते थ। इसमें उन्हें अपने सास्कृतिक शिष्यों का सहयोग अवश्य लेना पड़ता होगा यह अनुमान अयौक्तिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में यह अनुमान भी युक्तिसंगत होता है कि तुलसीदास जी अवश्य ही कम से कम अपने निवासस्थानों (आश्रम-स्थानों) पर अपनी निजी विधि के अनुरूप कुछ ऐसे शिष्यों को शिक्षित करते होंगे जिनमें उन्हें अपने कार्य-क्रम को संचलित करने में यथाविधि योग मिलने की सम्भावना हो। यह संसार के सभी क्रांतिकारी नेताओं को करना पड़ता है, व्यवस्था के नाम वा रूपों में भले ही भिन्नता हो।

(५) धर्मक्षेत्रीय प्रमाण (धर्म-कर्म का सामंजस्य)—

अब ज्यों ही हम धर्म-क्षेत्रीय परिणामों की ओर दृष्टि ले जाते हैं त्यों ही हमारे सामने एक बात यह आ जाती है कि भारत में उठी हुई क्रान्तियों की पृष्ठ-भूमि सदा धर्म रही है। गीता में जो "यदायदाहि धर्मस्य ग्लानि-र्भवति" मिलता है वह इसी निदान का प्रतीक है। इसी भूमिका को लेकर तुलसी की क्रान्ति उठी। इस धर्म की व्याख्या करते समय हम आठवें अध्याय में "धार्मिक-पद्धति" के अन्तर्गत यह बता आये हैं कि धर्म-विकास-सम्बन्धी दो विचार-धाराएँ प्रचलित हैं, एक ऐतिहासिक और दूसरी आध्यात्मिक। दोनों में कर्म और धर्म दोनों के सामञ्जस्य को महत्व दिया गया है। पर अन्तर इतना है कि ऐतिहासिक स्कूल का सिद्धान्त है "कर्म पहले धर्म बाद" और आध्यात्मिक स्कूल कहता है 'धर्म पहले कर्म बाद'। परन्तु दोनों स्कूल के लोग व्यवहार जगत में उतरते ही अपने अपने सिद्धान्तों से च्युत हो जाते हैं। वे कर्म के पीछे पागल बन धर्म को छोड़ बैठते है, और ये धर्म को पकड़ कर्म को छोड़ देते हैं। यही अहितकर क्रिया तुलसी के समय में व्याप्त हो रही थी, जिसे देखकर उनका हृदय व्याकुल हुआ। अतएव उन्होंने भारतीय क्रान्तिकारियों की परम्परा के अनुसार अध्यात्म-पक्ष को ग्रहण कर धर्म और कर्म के सामञ्जस्य के लिए घोष किया। इसी सामञ्जस्य का नाम

भक्ति है, इसी का नाम मर्यादा है और इसी को कहते हैं, 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।' तुलसी की भक्ति में यही क्रान्तिकारी रहस्य है। इसके परिणामों के विषय मे यहाँ कुछ कहना वैसा ही होगा, मानो 'पिष्टानु-पिष्ट' की उक्ति के अनुसार 'पिसे हुए को पीस रहे हैं।' तुलसी के समय से लेकर अभी तक रामचरित मानस का अधिकाधिक प्रचार तथा विद्वान आलो-चकों के तत्सम्बन्धी प्रशंसनीय विचार ये दो ऐसे उज्ज्वल आरसी है कि उनमे किसी भी दर्शक के सम्मुख तद्विषयक परिणामों की आकृति झलके बिना नहीं रह सकती। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि लौकिक जीवन के सभी अगों में आपको धर्म से सम्पुटित कर्म की लोकरंजनी मर्यादा दिखाई देती है। मानव-जीवन के प्याले में तुलसी ने इस लोकरंजनी मर्यादा का ऐसा मधुर रस भर दिया है कि उसका घूँट लेते ही पशु-मानव यथार्थ मानव बन जाता है।

(६) साहित्यक्षेत्रीय प्रमाण—

अब रहे केवल साहित्य-क्षेत्रीय परिणाम, सो उन पर हमारे द्वारा कुछ कहा जाना ऐसा होगा जैसे कोई खद्योत सूर्य जैसे साहित्य-समीक्षकों की रश्मियों के सामने अपना क्षुद्र नृत्य करने को उद्यत हो। फिर भी कुछ क्षुद्रता तो हम आठवें अध्याय मे 'साहित्यिक पद्धति' के अन्तर्गत कर ही गुजरे। उसके पढ़ने से ज्ञात हुआ होगा कि तुलसी के समक्ष दो बड़ी कठिन समस्याएँ थीं—एक तो आर्य-संस्कृति के साथ ही साथ जन-भाषा (हिन्दी) का जीवन खतरे में था, और दूसरे स्वार्थ और परमार्थ, दोनों का साधक पुरुषार्थ प्रायः डूब चुका था। इन समस्याओं के हल करने में जो अनुकरणीय सफलता तुलसी को मिली है वह किसी से छिपी नहीं है। एक ओर तो मराठी, गुजराती, बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाएँ उमड़ रही थीं, तो दूसरी ओर फारसी राजदरबारों और विद्वानो की एवं उर्दू न्यायालयो तथा पठितों की भाषा बन रही थी। हमें अभी तक के ब्रिटिश-शासनकालीन न्यायालयों का अनुभव है कि उनमें भारत की वर्तमान स्वतंत्रता के पहिले

तक किस तरह फारसी और उर्दू भाषा का प्रयोग होता था। इन कठिनाइयों का मुकाबला करने के हेतु यदि तुलसी की लेखनी ने अनुप्रास-अलंकार-उक्ति-भरा, ललित-मधुर-रस पूर्ण, धर्म-कर्म-भक्ति-प्रधान काव्य का, विशेष कर रामचरितमानस का निर्माण न किया होता तो कौन जाने हिन्दी-भाषा विशिष्ट रूप से लोकप्रिय बन विविध प्रान्तों मे इतनी अधिक प्रचलित होकर आज की राष्ट्र-भाषा बन पाती या नही—राष्ट्र भाषा ही नही अब तो वह राज-भाषा भी बन रही है। एक तो हिन्दी का राष्ट्र-भाषा वा राजभाषा बन जाना ही महत्व की बात है, और दूसरे तत्कालीन पतित युग में पतितों मे पुरुषार्थ का उद्भव करने एवं कुमार्गियो मे मानवता का संचार करने का श्रेय भी तुलसी साहित्य के समीक्षक तुलसी ही को देते है। इतना ही नहीं, तुलसी ने अपने साहित्य मे उन महत्वार्थी शास्त्रीय शब्दों और भाव-पीयूषों को भर छोड़ा है जिनमे आनन्ददायिनी मानवता को सदा पुनर्जीवित करते रहने तथा अमर बनाये रखने की क्षमता है। कहा जाता है कि किसी विद्वान शास्त्रार्थी ने उनकी प्रशंसा में यह श्लोक बनाया था—

"आनन्द कानने कश्चिज्जंगमस्तुलसी तरुः।
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर-भूषिता ॥"[४३]

(यहाँ आनन्द कानन अर्थात् आनन्द वन के दो अर्थ होते हैं—(१) काशी नामक स्थान-विशेष, और (२) प्रकाशमान (कीर्तिमान) लोकानन्द। देखिये अध्याय दसवाँ।)

उक्त श्लोक का हिन्दी अनुवाद काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इस तरह किया है—

---

४३. तुलसी ग्रन्थावली (खण्ड ३) प्रस्तावना, पृ० ४६ पर इस श्लोक का उल्लेख है। उक्त प्रस्तावना के विद्वान् लेखक के लेख से यह पता चलता है कि उक्त श्लोक की रचना किसी के मतानुसार शंकर मतानुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती ने, किसी के अनुसार एक दिग्विजयी पण्डित ने, और किसी के अनुसार आनन्दकानन ब्रह्मचारी ने की थी।

"तुलसी जंगम तरु लसै, आनन्द कानन खेत।
कविता जाकी मंजरी, राम भ्रमर रस लेत॥"[४४]

इसी को यदि हम किंचित परिवर्तन करके निम्न दोहा के रूप में लिख दें तो तुलसी-साहित्य-सम्बन्धी हमारी धारणा व्यक्त हो सकेगी—

तुलसी कविता तरु लसै, आनन्द कानन खेत।
राम रसीली मंजरी, बुद्धि भ्रमर रस लेत॥"

अभिप्राय यह है कि भाषारूपी आनन्दवन में तुलसी-काव्यरूपी वृक्ष शोभायमान हो रहा है और उसकी कलियाँ राम-रस (ईश्वरत्व अथवा आत्मतत्व) से भरी हुई है जिनका रस बुद्धिरूपी भ्रमर पान करता हुआ लोकानन्द की अनुभूति मे मग्न रहता है।

इस लोकानन्द-पीयूष को पाने के लिए हमारा बुद्धि-भ्रमर केवल शाब्दिक छाल पर भिनभिना कर नहीं रह जाता। वह छाल पर थोड़े समय तक मँडराता हुआ उसके मुख्य शब्द स्थानों को ढूँढता, और फिर उनके हृदय-स्थलों में प्रवेश कर वहाँ तुलसी के भाव-रस को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यदि उसे वहाँ कोई प्राचीन या शास्त्राय शब्द या भाषा मिलती है तो उसके मूलार्थ को जाने बिना उसे सन्तोष नहीं होता। वह समझता है कि तत्वज्ञ प्राचीन तथा शास्त्रीय शब्दों वा गाथा वा प्रयोग करते समय उनके मूलार्थो पर अवश्य ध्यान रखते हैं। इसलिये तुलसी-साहित्य को पढ़ते समय यदि उक्त बात पर दृष्टि न रखी जाय तो पाठक को वह धर्म-प्रधान व्यावहारिक लोकानन्द नहीं मिल सकता जो तुलसी-काव्य की मंजरी-मंजरी में भरा है। तुलसी का यह धर्म-कर्म-प्रधान लोकानन्द अलंकारादि से युक्त उस लोकानन्द से भिन्न है जो हमें आक्षरिक छाल पर मिला करता है। दृष्टान्तस्वरूप कवितावली के उन अन्तिम कवित्तों को ले लीजिये जिनमें काशी और शिव का वर्णन किया गया है।[४५] जहाँ तक

---

४४. वहीं, पृष्ठ ४७।

४५. कवितावली, उत्तर काण्ड १५८-१८३।

हमें ज्ञात है, किसी टीकाकार, आलोचक या अनुसन्धानकर्त्ता ने यह ध्यान नहीं दिया कि वह कौन-सी काशी वा शिव है, जिनके विषय में तुलसीदास जी ने लिखा है। सभी ने अपना ध्यान वर्तमान काशी नामक स्थान विशेष से सीमित कर लिया है, क्योंकि तुलसी वहाँ अस्सी घाट पर रहते थे और वहीं पर उनका देहान्त हुआ बताया जाता है, तथा यह भी ऐतिहासिक तथ्य कहा जाता है कि वहाँ एक नई प्रकार की बीमारी लम्बे काल तक चलती रही थी, जिसे तुलसी ने 'महामारी' कहा है। 'महामारी', 'पंचकोस', वारानसी' आदि जैसे कुछ शब्दों को तथा कुछ पौराणिक अनुषंगों ((references) को देखकर विद्वानों ने यह निदान निकाल लिया कि तुलसी ने जो कुछ कहा है वह इसी काशी नगर के विषय में कहा है, और जो वेदनाएँ, वन्दनाएँ आदि उन कवित्तों में तुलसी ने प्रकट की है वे सब उसमे फैली हुई उक्त बीमारी की प्रतिक्रिया रूप है। इस प्रकार का अर्थ, हमारी समझ में, तुलसी के यथार्थ भाव को धूम्र के समान फैलकर ढाँक देता है। तुलसी कुछ ऐसे पागल या मूर्ख तो थे नहीं कि वे मानव कृत चूना-ईट के मन्दिर मे स्थापित शिला-मूर्ति या पत्थर-लकड़ी के मकानों मे बसे हुए जीव-जन्तुओं को देखकर उनके प्रति यह कहने लगते—

"अर्थ धर्म काम मोक्ष बसत बिलोकनि में,
कासी करामाति जोगी जागत मरद की।।"[४६]

अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष वाली करामात किसकी है? जागत मरद जोगी की अर्थात् उस योगी की जो लोक में मर्द होकर धर्म-कर्म करता रहे। इस करामात को क्या कहते है? काशी, अर्थात् यह लोक या सृष्टि जिसमें हर बलिष्ठ कर्मयोगी को उक्त चारों पदार्थ वाला लोकानन्द प्राप्त हो सकता है।

काशी यदि सृष्टि की प्रतीक न होती तो तुलसी यह बार-बार क्यों कहते?—

---

४६. कवितावली, उत्तर काण्ड, पृ० १५८।

"मंगल की रासि, परमारथ की खानि, जानि,
विरचि बनाई विधि, केसव बसाई है।।"[४७]

अथवा—

"विरचि विरंचि की, बसति विस्वनाथ की जो,
प्रानहूँ ते प्यारी पुरी केसव कृपाल की।।"[४८]

उक्त कथनों से स्पष्टतः विदित होता है कि तुलसी ने जिस काशी का उल्लेख किया है, वह हमारी परिचित यह सृष्टि ही है—सृष्टि के अनेक पर्यायवाची नामों में से काशी भी एक नाम है। चूँकि उस नाम का एक नगर किसी ने किसी समय बसा दिया और उसके समीपस्थ एक पंचकोसी परिक्रमा बना ली तो उसे देखकर भ्रम मे पड़ जाना विद्वानों को शोभा नहीं देता। यदि 'काशी' शब्द मे तुलसी का अभिप्राय काशी नगर का होता तो वे उसका सम्बन्ध केशव, विरंचि और विश्वनाथ अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और महेश से न जोड़ते। ये तीनों सर्वशक्तिमान परमात्मा की त्रिभावात्मक क्रियाएँ हैं, जो बहुधा त्रिदेव कहे जाते हैं। केशव का अर्थ टीकाकार विष्णु कहते है। परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ उपयुक्त नहीं है केशव आदि-स्वरूप भगवान् का नाम है। इस आदि-शक्ति में जो विविध रूपों में प्रकट होने का स्वाभाविक गुण है वही तुलसी ने 'ज्योति रूप लिंग मई, अगनित लिंग मई'[४९] कहकर बताया है। वही भाव कृष्णभगवान् ने इस तरह दर्शाया है

'अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मात्प्राहुर्मां द्विज सत्तमाः।।"[५०]

अर्थात् जो मेरे प्रकाशशील अश हैं वे ही केश कहाते है। इसीलिए वे जो द्विजों अर्थात् विद्वानों में श्रेष्ठ-सर्वज्ञ हैं, मुझको केशव कहते हैं।

---

४७. वही, पृ० १८१।
४८. वही, पृ० १८२।
४९. कवितावली, पृ० १८३।
५०. महाभारत।

अतएव यह सिद्ध होता है कि जो श्रेष्ठ ज्ञानी है वे आदि स्वरूप केशव और देवात्मक विष्णु को भेद दृष्टि से देखते है। यह केशव वैसा ही द्वयर्थक समझिए जैसा हम पूर्व में तुलसी के 'हरि' शब्द को प्रसगानुसार आदि रूप और विष्णु रूप द्विभाववाची बता आये हैं।

इस आदि स्वरूप केशव ने कल्पना की कि एक ऐसी पुरी (सृष्टि) बसाई जावे, जिसमे उसके वासियों को सुख-समृद्धि अर्थात् लोकानन्द की सभी सामग्रियाँ पर्याप्त रूप से प्राप्त हो सकें, इसलिए उन्होंने उसका तदर्थी नाम भी काशी रखा। अतएव उनकी इच्छा अनुकूल उनके इजीनियर ब्रह्मा ने उसका निर्माण कर दिया। निर्माण होने पर उन्होंने उस पर एक ऐसा सर्वत्यागी कर्मयोगी गवर्नर नियुक्त किया कि जिसके आचरणों के अनुकूल चलने से उसकी समस्त प्रजा लोकानन्द की अनुभूति करती रहे और परिणामत: उसका काशी नाम कलकित न होने पावे। इसी काशी और इसी विश्वनाथ (शिव) का वर्णन तुलसी ने किया है, और यह बताया है कि जो कलिकाल के चक्कर में पड़कर इस काशीनाथ का पदानुगामी बनकर नहीं बर्तता उस पर वह गवर्नर मर्यादावश अपना रोष प्रकट कर उसे महामारी आदि व्याधियों से पीड़ित करता है—"संकर सरोष महामारी ही तें जानियत।"[५१]

सारांश यह है कि उक्त कवित्तों मे जिस काशी और शिव का वर्णन आया है उसके द्वारा तुलसी ने कलिकाल-वश सन्मार्गच्युत सृष्टि की समस्त प्रजा के दु:खों का चित्र खींचा है, न कि केवल काशी-शहर की प्रजा के दुखों का। हो सकता है कि उस समय काशी-शहर पीड़ित हो और उसी से प्रभावित होकर तुलसी ने उक्त कवित्त एकबारगी अथवा स्फुटित रूप से लिखे हों, परन्तु फिर भी उन्होंने उस बहाने सर्वसामान्य परिस्थितियों पर ही प्रकाश डाला है जैसा कि गीताकार व्यास जी ने कौरव-पांडव-युद्ध के बहाने मानव-जीवन की एक सजीव रेखा गीता में खींच डाली है। तभी

---

५१. कवितावली, उत्तर काण्ड, पृ० १८३।

तो तुलसी ने उस प्रसंग का अन्त उन बातों को कहकर किया है जो न केवल काशी-शहर के मानवों पर वरन् सार्वभौम मानव-जगत् पर घटित होती हैं—

"आश्रम वरन कलि-विवस विकल भए,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारि ही ते जानियत,
साहिब सरोष दुनी दिन-दिन दार दी॥
नारिनर आरत पुकारत, सुनै न कोऊ,
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।
'तुलसी' सभीत-पाल सुमिरे कृपालु राम,
समय सु करुना सराहि सनकार दी॥"[५२]

क्या करे वह 'काल-कूट' अर्थात् काल तक को पी जानेवाला 'कालनाथ कोतवाल,' और क्या करें उसके 'अमित अनूप गनप से सभासद'!! 'कुचालि कलिकाल की कुरीति' के सामने न तो उनकी बुद्धि ही काम करती है और न उनकी 'दंडकारि-दंडपानि' वाली नीति!! इसलिए वह 'सभीत-पाल' (Fearful governor) शंकर घबड़ाया हुआ अपने स्वामी राम का स्मरण कर उनकी करुणा के लिये उनके पास जाकर पुकार लगाता है।[५३] यह सब क्यों? इसलिए कि नीच नर-नारी पंचेन्द्रियों का सदुपयोग करते ही नहीं। यदि उनका सदुपयोग किया जाय तो उनके द्वारा स्वार्थ और परार्थ अथवा लोक और परलोक दोनों सध सकते है, क्योंकि वे ही पतन से उन्मुक्त करने वाले पुण्य कोष हैं, जैसा निम्न कवित्त में दर्शाया गया है—

"पंच कोस पुन्य कोस, स्वारथ परारथ को,
जानि आप आपने सुपास वास दियो है।

---

५२. कवितावली, उत्तर काण्ड, पृ० १८३।
५३. कवितावली, उत्तर काण्ड, पृ० १७१।

नीच नर नारिन सँभारि सकै आदर,
लहत फल कादर विचारि जो न कियो है।।
वारी वरानसी बिन कहे चक्रपानि चक्र,
मानि हित हानि सो मुरारि मन भियो है।
रोष में भरोसो एक, आसुतोष कहि जात,
विकल विलोकि लोक कालकूट पियो है।।"[५४]

काशी और शिव के बहाने तुलसी ने लोक दशा का ही चित्र खींचा है। इस हमारे मन्तव्य की पुष्टि तुलसी स्वयं उक्त 'विकल विलोकि लोक' पद से कर देते है। शब्दार्थी लोग उसी से वरुणा नदी तक काशी की पाँच-कोस की लम्बी परिक्रमा को 'पंचकोस' कहते हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में वह पंचज्ञानेन्द्रियों का द्योतक है। इसी तरह 'वरानसी' भी हमारी अल्प-मति-द्वारा-निर्णीत 'काशी' की पर्यायवाची है, न कि बहुमताश्रित काशी-नगर की। 'वर' संस्कृत में पुलिग संज्ञा है। उसका बहुवचन कर्मकारक 'वरान्' होता है। चूँकि 'वर' के माने 'श्रेष्ठ' अथवा 'मनोरथ-सिद्धि' होता है, इसलिए 'वरान्' के माने हुआ 'श्रेष्ठताओं' अथवा 'मनोरथ-सिद्धियों' के लिये। 'असि' सस्कृत मे 'अस' धातु का मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। चूँकि 'अस्' धातु के माने 'होना' (to be) होता है, इसलिए 'असि' के माने हुआ 'तू' है। अतएव वरान्+असि=वरानसि का अर्थ हुआ 'तू' श्रेष्ठताओं या मनोरथ-सिद्धियों के लिए है। यह 'तू' सर्वनाम सृष्टि के लिए कहा है; इस तरह वरानसि, जो कालान्तर से विकृत हो वरानसी वारानसी, वराणसी या वाराणसी कहाया, उस सृष्टि का प्रतीक है जो लोकानन्द देने वाली हो। यही व्याख्या हमने 'काशी' की की है। मानव सृष्टि की दृष्टि से यह 'वरानसी' अर्थात् लोकानन्द देनेवाली सृष्टि उसकी संयमित इन्द्रियाँ ही है। हमारे पूर्व परिचित त्यागमूर्ति लोक-पथ-प्रदर्शक शिव जी इनके

---

५४. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पृ० १७२ (वारी=जलादी; मन भियो है=मन में डरे या संकोच हुआ)।

अनिवार्य महत्व को भली भाँति जानते है। परन्तु कुछ लोग त्याग या संयम प्राप्त करने के लोभ में अपनी जड़तावश उन इन्द्रियों को नष्ट कर डालते हैं। यह विधि अनुचित और अशास्त्रीय है क्योंकि उससे मन में विषय-रस का उभरना तो बन्द होता ही नहीं। इसलिए शिव को ऐसे विकास-बाधक जड़कृत्य पसन्द नहीं, कोई विद्वान् वा पंडित भले ही क्यों न उन्हें करे। यही भाव-रस हमारा बुद्धि-भ्रमर तुलसी की उक्त पौराणिक भाषा में अवलोकन कर रहा है जो उक्त कवित्त की इन पक्तियों में व्यक्त किया गया है- —

वारी वरानसी, विन कहे चक्रपानि चक्र,
मानि हित हानि सो मुरारि मन भियो है ।।

गाथा यों है कि "एक समय काशी में एक 'मिथ्या वासुदेव' नामक राजा ने द्वारका पर चढाई की। कृष्ण ने सुदर्शनचक्र छोड़ा। चक्र ने उस राजा को परास्त कर काशी को भी जला डाला। उस समय श्रीकृष्ण ने शंकर से माफी माँगी थी कि चक्र ने बिना मेरी आज्ञा के ही तुम्हारी पुरी जला दी है, अतः मुझे क्षमा कीजिए।"[५५]

इस गाथा मे 'मिथ्या वासुदेव' मिथ्यानन्द का, 'चक्र' अज्ञता या जड़ता का, तथा 'काशी' सत्यानन्द' देने वाली इन्द्रियों का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रिय-विषय सुख को समाप्त कर देने के अभिप्राय से सत्यानन्द-प्रद इद्रियों ही को जला डाले अथवा नष्ट-भ्रष्ट कर दे तो वह बिना विवेक के उक्त चक्र के समान ही होता है।

यह है लोक व्यवहारात्मक सत्यानन्द की दृष्टि से तुलसी के साहित्य का परिणाम—कारुणक भगवान् राम के आश्रित रहकर त्यक्त वा अनासक्त

---

५५. 'दीन' और 'मिश्र' कृत सटीक कवितावली, पृ० १९०; नोट—भागवत में लिखित गाथा और इसमें कुछ भिन्नताएँ हैं। परन्तु उन भिन्नताओं में वर्तमान प्रसंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भिन्नताओं के लिए देखिए लेखक की पुस्तक "कृष्ण और गांधी की अहिंसा", किताब महल, प्रयाग, पृ० ३३।

भाव से पुण्यकोषीय पचेन्द्रियो द्वारा, पौरुषेय लोकानन्द अथवा मानवता प्राप्ति के हेतु, मानव मात्र के समक्ष, धर्म से सम्पुटित कर्म-मार्ग का जिसे भक्ति भी कहते हैं, प्रत्यक्षीकरण करके छोड़ जाना।

मानचित्र का स्पष्टीकरण-पत्र

सहस्रों वर्ष प्राचीन रामकालीन घटना-स्थलो की भौगोलिक स्थितियों को मतभेदो के अन्धकार से ढूँढ निकालना कोई सहज नही। फिर भी हम ने तत्संबंधी प्रामाणिक, अथवा कहिए, विश्वसनीय विवरणों के आधारों पर अपना स्वतंत्र मत स्थिर करते हुए कतिपय प्रमुख घटना-स्थलों की यथासंभव विशुद्ध स्थिति दर्शाने का प्रयास अपने इस मानचित्र मे किया है। ये स्थल कौन से है, और उनके सबंध मे हमने अपना मत किस प्रकार से स्थिर किया है, इनसे पाठकों को अवगत करने के अभिप्राय से दी गई हमारी निम्न टिप्पणियों को देखिए। दूसरी विशिष्टता इस मानचित्र की यह है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर हमने राम के वनवास के समय के प्रवास-मार्ग का संकेत एक टूटदार रेखा के द्वारा किया है। किन्तु राम-सीता-विवाह के पूर्व विश्वामित्र के साथ किये गये प्रवास के मार्ग का परिचय इस प्रकार नहीं दिया जा सका। उस मार्ग मे जो आश्रम, नगर आदि मिले थे, केवल उनके नाम अथवा, जहाँ उनके नाम लिखने में असुविधा प्रतीत हुई वहाँ उनके संकेत क्रास चिह्नों के साथ संख्याङ्कों के द्वारा दिये गये है। इसी प्रकार से भरद्वाज और वाल्मीकि आश्रमों के भी संकेत ही दिये है।

आश्रमों के संकेत

×१—शिवाश्रम
×२—सिद्धाश्रम (विश्वामित्र का)
×३—गौतम-अहिल्या आश्रम

×४—भरद्वाज आश्रम

×५—वाल्मीकि आश्रम

वन-प्रवास-मार्ग-विषयक टिप्पणियाँ

(१) उक्त मार्ग का संकेत विन्दुओ की टूटदार रेखा के द्वारा किया गया है जैसा अभी ऊपर कह आये है ।

(२) रामकालीन लंका की भौगोलिक स्थिति के विषय में मतभेद है । हमने पुस्तक के अन्तर्गतीय भाग में कुछ कारणों को बताते हुए वर्तमान लका के स्थान ही को पूर्वकालीन लंका का स्थान मानना उचित समझा है ।

(३) मार्ग मे जिन अनेक स्थानों से रामादि का गुजरना बताया गया है । उनकी स्थितियों का निर्देश, रामचरित मानस तथा वाल्मीकि रामायण में कथित तद्विषयक विवरणों एवं संबधित पर्वत, नदी आदि स्थायी प्राकृतिक स्थानों से मेल बैठालते हुए किया गया है । स्थानों के बीच के माप प्राय: अनुमानित है ।

(४) अगस्त्याश्रम और पंचवटी के विषय में हमे पर्याप्त मतभेद दिखा। इसका मूल कारण वाल्मीकि रामायण में वर्णित तत्सम्बन्धी विवरण एवं मापों से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है । वाल्मीकि रामायण में दो विभिन्न स्थानों पर अगस्त्याश्रम का होना पाया जाता है । एक दण्डक वन के उत्तरीय भाग में जो सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम से दक्षिण की ओर पाँच योजन की दूरी पर तथा पंचवटी के उत्तर मे कहा गया है । (वा० रा० ३।११।२८, ३७, ४१) जहाँ राम जी गये थे । दूसरा उसी वन के दक्षिणी भाग में पंचवटी-किष्किन्धा के दक्षिण में मलय पर्वत पर स्थित बताया गया है, जिसका निर्देश सुग्रीव ने अंगद समेत उन वानरों को दिया था, जो सीता की खोज के लिए दक्षिण दिशा में भेजे गये थे । (वा०रा० ४।४१।१५)। हमने केवल उत्तरी भाग में स्थित आश्रम को मानचित्र में दर्शाया है, क्योंकि उसी का संबंध राम के प्रवास-मार्ग से है । दक्षिणीय

के विषय में या तो यह मानना होगा कि अगस्त्य नाम के दो ऋषि रहे होंगे, या यह मानना होगा कि अगस्त्य जी के पहले ही से दो आश्रम रहे होंगे। साथ ही संभावना यह भी हो सकती है कि वही अगस्त्य, जो उत्तर में राम जी को मिले थे, कुछ काल पर्यन्त सीता-खोज-काल के पहिले मलय पर्वत पर आश्रम बनाकर रहने लगे हों। परन्तु उत्तरी भाग का यह आश्रम कहाँ स्थित था, इसका निर्णय करना कठिन है। उसकी स्थिति के विषय में वा० रा० में इतना तो अवश्य मिलता है कि वह सुतीक्ष्णाश्रम से पाँच योजन दूर दक्षिण की ओर जैसा कि ऊपर बताया है, और पंचवटी (गोदावरी-तट) से दो योजन दूर उत्तर की ओर (बा०रा० ३।१३।१३) था। उसी से यह भी ज्ञात होता है कि प्रयाग में स्थित भरद्वाजआश्रम से चित्रकूट पर्वत दसक्रोश (कोस) दूरी पर था (बा० रा० २।५४।२८), तथा विराध-वध के स्थान से शरभंग मुनि का आश्रम डेढ़ योजन दूर था (बा० रा० ३।४।२१)। परन्तु चित्रकूट अथवा वहाँ के वासी अत्रिमुनि के आश्रम से कितनी दूरी पर विराध-वध हुआ, इसका कोई माप उक्त ग्रन्थ में नहीं दिया। अतः चित्रकूट से न तो विराध-वध के स्थान की और न शरभंग के आश्रम की दूरी जानी जा सकती है, और न यह ही विदित होता कि शरभङ्गाश्रम से सुतीक्ष्णाश्रम कितनी दूर था। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि शरभङ्ग मन्दाकिनी नदी ही के निकट किसी स्थान पर रहते होंगे (बा० रा० ३।५।३७) और वहीं कहीं थोड़ी दूर पर चित्रकूट वन-प्रान्त ही में अथवा उसकी कुछ थोड़ी दूर सुतीक्ष्ण मुनि का वास रहा होगा (वा० रा० ३।५।३६)। फिर, यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों कोस और योजन का मान आधुनिक मान के बराबर था, या कि उससे अधिक। यदि अधिक था, तो कितना अधिक शब्द-कोश के देखने से (देखो चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी-शब्दार्थ-पारिजात) तो प्राचीन और वर्तमान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता। यदि वर्तमान कोस (२ मील) ३५२० गज या ७०४० हाथ का होता है, तो उक्त कोश के

अनुसार प्राचीन काल का कोस ४००० गज या ८००० हाथ का होता था। किन्तु वाल्मीकि रामायण में भरद्वाजाश्रम और चित्रकूट के बीच जो दस कोस का अन्तर बताया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय का कोस वर्तमान चार कोस अथवा आठ मील के बराबर होता होगा, क्योंकि आधुनिक माप के अनुसार प्रयाग से चित्रकूट ८० मील है। (देखो गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित सटीक वाल्मीकि रामायण पृ० ३३७ पर, अयो० का० ५४।२८ के अन्तर्गत दिया हुआ फुटनोट)। इतनी अधिक छूट (Margin) दी जाय तब यह कहा जा सकता है कि उत्तर भागीय अगस्त्याश्रम पंचवटी (गोदावरी-तट) से दो योजन=८ कोस= वर्तमान ३२ कोस अथवा ६४ मील उत्तर की ओर रहा होगा। इस दृष्टि से उसकी स्थिति दण्डकारण्य के बहुत भीतरी भाग मे चित्रकूट-मन्दाकिनी प्रदेश से बहुत दूर दक्षिण मे आ पड़ती है, जिससे वाल्मीकि-रामाणीय तत्संबंधी उपरोक्त वर्णनों में पारस्परिक विरोध आ जाता है। परन्तु जब हमारा ध्यान निम्न दो बातों पर जाता है तब यह निश्चय हो जाता है कि प्रयाग और चित्रकूट के बीच के वर्तमान और रामायणकालीन मापों में इतनी अधिक छूट देना गलत और अनावश्यक है। एक तो सहस्रों वर्ष पूर्व वन-प्रधान राम-काल मे चित्रकूट-प्रदेश प्रयाग के सन्निकट रहा होगा, न कि वर्तमानकालीन दूरी पर--तब से अब तक प्रयाग के सन्निकट का बहुत सा वन-भाग क्रमशः आबाद होता गया होगा, इसमें सन्देह नहीं। दूसरी बात यह कि राम को जो दस कोस की दूरी कही गई थी, वह सीधे पगडंडी मार्ग की थी, न कि वर्तमानकालीन घेर-घारवाली सड़कों के माप की। इन कारणों से उक्त फुटनोट में दिये हुए न तो ८० मील का महत्त्व है, और न ३० या २८ कोस वाले उस अर्थ का जो किसी रामायण शिरोमणिकार ने संभवतः वर्तमान दूरी से मेल बैठालने के अभिप्राय से उक्त श्लोक में कथित 'दसक्रोश' का एक विचित्र विधि से करके बतलाया है, तथा जिसका उल्लेख भी उक्त फुटनोट में किया है, अतः प्राचीन और वर्तमान माप के मान में कोई विशेष अन्तर नहीं था, इस

पर तथा वाल्मीकि रामायण के पूर्वोक्त ३/५/३६-३७ वें श्लोकों पर, एवं रामायण में कथित अन्य संबंधित वर्णनों पर ध्यान रखते हुए हमने अगस्त्या-श्रम को मानचित्र में दर्शाने के लिए उसी स्थान को उचित समझा है जहाँ वह बताया गया है। जिस समय हमारे मन में यह प्रश्न चल रहा था, उसी समय के लगभग हमे माह नवम्बर सन् १९५५ की 'मानसमणि' नामक मासिक पत्रिका मे श्री हरिदास जी नागा का वह लेख पढने को मिला, जिसमें उन्होने अगस्त्याश्रम की स्थिति वर्तमान पन्ना के अन्तर्गत बताई है। उनके इस लेख से, दुविधा मे पड़े हुए हमारे मंतव्य को जब पुष्टि मिल गई, तब हमने भी उसे मानचित्र में पन्ना-भाग ही में जो वर्तमान मध्यप्रान्त का एक जिला है दर्शाना उचित समझा है। चूँकि वा० रा० में पचवटी से दो कोस दूरी का कथन स्पष्ट है, इसलिए अनुसन्धायकों के लिए विषय विशेषरूप से अभी भी विचारणीय है। (५) मानस संघ, रामबन, सतना से प्रकाशित उक्त 'मानस-मणि' के अङ्क में श्री हरिदास नागाजी ने यह प्रकट किया है कि उन्होने आवश्यक खोजें करते हुए अयोध्या से लेकर राम-बन-मार्ग का अनुसरण कर पद-यात्रा प्रारम्भ की है। उक्त लेख में केवल अगस्त्य-आश्रम तक का उल्लेख है। उसके बाद का उल्लेख हमें देखने को नहीं मिला। संभवतः नागाजी ने लिखा भी नहीं। जो हो, उनके उक्त लेख के आधार पर हमने मानचित्र में निम्न तीन स्थानों को उनके लेखानुसार दर्शाया है। एक यह कि रामादि ने गोमती नदी को वर्तमान सुल्तानपुर से ८ मील पूर्व मे पार किया। दूसरे उन्होंने सई नदी को वर्तमान प्रतापगढ के निकट पार किया। और तीसरे अगस्त्याश्रम, जैसा ऊपर कह आये हैं, पन्ना मे स्थित था।

(६) **पंचवटी (और जनस्थान)**—श्री बड़ेर ने 'कल्याण' के 'रामा-यणाङ्क' के पृष्ठ ४८७ पर यह ठीक ही लिखा है कि "पञ्चवटी, जनस्थान आदि प्रदेशों का अभी तक सन्तोषजनक निर्णय नहीं हुआ।" उनके विषय में तीन मत हैं। एक के अनुसार पंचवटी बम्बई प्रान्त के नासिक शहर के समीप गोदावरी नदी के उद्गम स्थान के पास, जहाँ अभी पंचवटी

नाम का स्थान है, था। दूसरे के अनुसार गोदावरी के मुख के समीप आन्ध्रप्रान्त के एक विभाग का नाम जनस्थान था; और वही कहीं पंचवटी रही होगी। और तीसरे के अनुसार उसकी स्थिति गोदावरी के मध्य भाग पर थी, जैसा कि श्री पार्जीटर ने अपनी पुस्तक 'Ancient Indian Historical Tradition' (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक लोककथा) के पृ० २७८ मे व्यक्त किया है। जहाँ तक हमारा प्रश्न है, हमने स्वतंत्र रूप से वाल्मीकि रामायण में वर्णित कतिपय घटनाओं एवं महत्वपूर्ण राजनैतिक स्थिति पर विचार कर पंचवटी की स्थिति को गोदावरी के मध्य भाग ही पर मानना, जैसा कि मानचित्र मे दर्शाया है उचित समझा है।

राम निरन्तर दस वर्ष तक दण्डकारण्य मे भ्रमण करते रहे (वा० रा० ३।११।२६–२७)। जब निशाचरी उपद्रवों से त्रस्त वहाँ की स्थिति से भली-भाँति परिचित हो गये, तब सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम को पुनः इस अभिप्राय से लौटे कि उनसे वानप्रस्थ अगस्त्य मुनि के आश्रम का पता लग जाय, जिनके विषय में वे अपने इस भ्रमण-काल में खूब सुन-समझ चुके थे। अगस्त्याश्रम का पता पाने वहाँ पहुँचते है, और उनसे अपने लिए निवास-योग्य स्थान का निर्देश चाहते है। अगस्त्य जी ने, जो प्रतीत होता है, वानप्रस्थ के पूर्व एक कुशल राजनीतिज्ञ राजा रहे होगे, राम के हृदयस्थ अभिप्राय तथा तदर्थं की गई प्रतिज्ञा (वा० रा० ३।१३।१६) को ध्यान में लाकर, बहुत सोच-विचार (३।१३।१२) के पश्चात्, राम के इच्छित कार्य की सिद्धि के हेतु गोदावरी के पास पंचमढी मे ही रहना उत्तम बताया, और अपने पास के धनुष आदि दिव्य शस्त्रास्त्र (राक्षसों पर) विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें दे दिये (३।१२।३२–३७)। राम का उद्देश्य और प्रतिज्ञा थी कि वे दण्डक वन और जनस्थान को राक्षसों की उत्पीड़ाओं से मुक्त करके ही छोड़ेंगे। इस कठिन कार्य की सुसम्पन्नता के लिए, राजनैतिक दृष्टि से, गोदावरी के मध्यवर्ती भाग में स्थान जमाना जितना उपयुक्त था, उतना कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता था। वह एक ऐसा स्थान था जहाँ न केवल राक्षसी अड्डों के दो प्रमुख

भू भागों दण्डक वन और जनस्थान का संगम होता था, वरन् वहीं रावण के संधीकार मित्र वालि के प्रभावशाली विस्तृत वानर-राज्य की भी उत्त-रीय सीमा आन मिली थी। अतः वहाँ पर निवास करने से तीनों भूभागों की गति-विधियों की जानकारी होते रहने एवं आवश्यक कार्य-सचालन में असामान्य योग मिलना सम्भव था। इस सहूलियत के साथ ही विरोधियों द्वारा खतरों की सम्भावना भी कुछ कम नहीं थी। इन खतरों के मुका-बिलों के लिए राजा दशरथ तथा कौशल राज्य का विश्वासपात्र वृद्ध पुराने मित्र जटायु के गृद्ध राज्य की दक्षिणी सीमा भी वहाँ तक आन धसी थी। गृद्धराज ने राम को यह वचन भी दिया था कि यदि वे उसके निकट गोदावरी के पास पंचवटी में वास करें तो वह उनके सहायक एवं उनकी तथा लक्ष्मण की अनुपस्थिति मे सीता के रक्षक के रूप में योग देगा (वा० रा० ३।१४।३४)। कोई भी प्रवीण राजनीतिज्ञ जिसने अत्याचारियो के प्रति राम जैसी ठान ठान ली हो न तो उनसे इतनी दूर जाकर बसेगा कि उनकी गतिविधियों को जानते रहने में बाधा हो, जैसा उद्गम स्थान के पास रहने से होता, और न उनके बीच जलती आग ही में बसेगा, जैसे मुहल्ले वाले सुझाव में निहित है कि हमारी इस तर्क को वाल्मीकि जी द्वारा कथित प्रवासमार्गीय विवरणों मे भी बल मिलता है। तुलसीदासकृत रामचरित मानस तो संक्षिप्ततम ग्रन्थ होने के कारण तद्विषयक समस्त प्रसंग को इतना ही कहकर समाप्त कर देता है कि रावण सीता को दक्षिण दिशा को ले गया, जटायु ने देह तजी, राम ने उसकी यथोचित क्रिया की, फिर उन्होंने कबन्ध को मारा और उसको मार कर शबरी के आश्रम पर पहुँच गये। किन्तु वा० रा० में प्रवास-मार्ग-सम्बन्धी बदलती हुई विभिन्न दिशाओं, मोड़ों तथा कहीं-कहीं कोसादि द्वारा दूरियों का उल्लेख किया गया है। गृद्धराज ने रावण को सीता को दक्षिण की ओर ले जाते देखा यह एक बात है। किन्तु राम सीता की खोज-हेतु कैसे, कब, किस ओर मुड़ते हुए गये, यह उससे भिन्न दूसरी बात है। गोदावरी के तट पर जाकर राम ने गृद्धराज के लिए जलाञ्जलि (वा० रा० ३/६८/३५) दी। तत्पश्चात् वे

सीता-खोज के हेतु पश्चिम दिशा की ओर गये (३/६९।१)। यदि पंचवटी का होना गोदावरी के उद्गमस्थान के पास माना जाता है तो वाल्मीकि रामायण के उक्त कथनों मे प्रतिकूलता आती है। फिर, राम दक्षिण दिशा को आश्रय ले—जनस्थान से तीन कोस दूर क्रौञ्चारण्य मे प्रवेश करते है। क्रौञ्चारण्य को पार कर लेने के पश्चात् तीन कोस पूर्व में जाकर वे मतङ्ग मुनि के आश्रम वन पहुँचते है (३।६९।४, ५, ८)। तत्पश्चात् वहीं कहीं उसी वन या प्रदेश में कबन्ध को मार उसकी दाह क्रिया करने के पश्चात् राम कबन्ध के संकेतानुसार पश्चिम दिशा का आश्रय ले शबरी के आश्रम पर जा पहुँचते है (३।७४।१,४)। वहाँ से पम्पासर के तट पर जाते हैं, जहाँ से [illegible] का ऋष्यमूक पर्वत निकट था (३/७५।६-७)। यदि पंचवटी का होना गोदावरी के मुख के पास माना जाता है तो उक्त कथनों से मेल नहीं बैठता। अतः सिद्ध है कि उसकी स्थिति गोदावरी, के मध्यवर्ती भाग ही में रही होगी, जैसा हमने मानचित्र में बतलाया है।

(७) **क्रौञ्चारण्य**—यद्यपि 'मानस' में केवल कबन्ध-निपात का उल्लेख किया गया है, क्रौञ्चारण्य का नहीं, तथापि कबन्ध-निपात से संबंधित होने के कारण हमने उसका भी निदर्शन करना उचित समझा है। श्री वडेर ने 'कल्याण' के रामायणाङ्क में अपने द्वारा दिये हुए मान-चित्र नं० ४ में उसे कृष्णा नदी के दक्षिण मे बतलाया है। किन्तु वाल्मीकि रामायण में वर्णित जटायु तर्पण से लेकर क्रौञ्चारण्य में विचरण करने तक के उन विवरणों को, जिनका उल्लेख हमने ऊपर 'पंचवटी' शीर्षक लेख में किया है दृष्टिगत रखते हुए, हमारी समझ में, उसकी स्थिति गोदावरी और कृष्णा के बीच में होना चाहिए। यदि वह कृष्णा के दक्षिण में माना जाता है तो, एक तो वह जनस्थान से तीन कोस दूरी पर न होकर बहुत दूर पड़ जाता है, और दूसरे किष्किन्धा आदि की स्थितियों से उचित एवं विश्वसनीय मेल भी नहीं बैठता। श्री वडेर ने स्वयं किष्किन्धा की स्थिति वही बताई है जहाँ हमने दिखाई है। उन्होंने

जनस्थान से उक्त तीन कोस वाली दूरी का उल्लेख भी उक्त रामायणाङ्क के पृ० ४९३ पर किया है।

(८) **किष्किन्धा**—'कल्याण' के उक्त रामायणांक में दिये हुए मानचित्र एवं ज्ञान मण्डल, काशी से प्रकाशित 'भारतवर्ष का इतिहास' में संलग्न मानचित्र में जहाँ किष्किन्धा की स्थिति बताई है, वहीं हमने भी दर्शाई है।

(९) दक्षिण विन्ध्याद्रि और महेन्द्राचल की स्थितियाँ, वानरों द्वारा सीता-खोज के प्रसंग के समय जो वर्णन 'मानस' और वाल्मीकि रामायण में आया है, उसी के आधार पर बताई है।

ऐतिह्य राजनैतिक महत्व के स्थानों के विषय में टिप्पणियाँ

(१) **वैजयन्त**—श्री बड़ेर ने 'कल्याण' के रामायणाङ्क के पृष्ठ ४९५ वें पर विदेह में जनकपुर से दक्षिण में एक नगर '**मिथिला**' को वैजयन्त कहा है। इसे वैजयन्त बताना या तो अशुद्ध है, या वह उस वैजयन्त से जहाँ देवासुर संग्राम हुआ बताया जाता है अन्य कोई दूसरा ही वैजयन्त रहा होगा। देवासुर संग्राम वाले वैजयन्त की स्थिति जहाँ हमने बताई है, वही वाल्मीकि रामायण में दिये हुए वर्णन से मेल खाती है। 'कल्याण' के मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क पृ० ३१९ में वैजयन्त पर्वत का जो लेख आया है, उससे भी इसी स्थिति की पुष्टि होती है। उक्त पृष्ठ मे कुछ ऐसे पर्वतों के नाम दिये है, "जिनसे मिले हुए म्लेच्छ आदि जनपद पृथक-पृथक बसे हुए हैं" ('है' के स्थान मे 'थे' समझिये)। वैजयन्त पर्वत उनमे से एक है। इसी वैजयन्त पर्वत के अन्तर्गत अथवा उसके आस-पास कहीं निकट में वैजयन्त नगर का मानना, जैसा हमने दर्शाया है, अर्थसङ्गत सिद्ध होता है।

(२) **माहिष्मती**—'कल्याण' के 'नारद-विष्णु-पुराणाङ्क' पृ० ७२७ पर दिये हुए लेख से विदित होता है कि हैहयवंशीय राजा सहस्रबाहु के पूर्वज माहिष्मान द्वारा मालवा प्रदेश में विंध्याचल के उत्तर में नर्मदा

नदी के निकट बसाया गया नगर माहिष्मती नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री बड़ेर ने अमरकण्टक पर्वत के निकट नर्मदा के निकास पर स्थित मण्डला को माहिष्मती माना है। किन्तु डा० ताराचन्द ने अपनी पूर्व में उल्लिखित पुस्तक, 'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास' के ३२वें पृष्ठ पर नर्मदा के मुहाने की ओर नर्मदा पर स्थित ओंकार मान्धाता को माहिष्मती कहा है। परन्तु 'कल्याण' के 'स्कन्द पुराणाङ्क' पृ० ७६४-७६५ पर एक लेख यह आया है कि "एक दिन राजा कीर्तवीर्य (सहस्रबाहु या सहस्रार्जुन) अपनी माहिष्मती पुरी छोड़कर शिकार खेलने के लिये विन्ध्य पर्वत पर आया और नर्मदा के तट पर उसने अपना पड़ाव डाल दिया। इस लेख के आधार पर यह निश्चित होता है कि माहिष्मती नर्मदा तथा विन्ध्य पर्वत के उत्तर मे होगा। इसी आधार पर हमने माहिष्मती की स्थिति दर्शाई है। इसी आधार पर परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि का आश्रम भी नर्मदा के तट पर नर्मदापुर में सिद्ध होता है न कि भागलपुर के पास गंगा तट पर जैसा श्री बड़ेर ने बताया है। यदि भागलपुर के पास कोई दूसरा आश्रम उस नाम का माना जाता है, तो या तो यह मानना पड़ेगा कि उक्त जमदग्नि के दो आश्रम रहे होंगे, या कि जमदग्नि नाम के दो व्यक्ति रहे होंगे।